भारतीय सरकार और राजनीति

एम.ए. (पूर्वार्द्ध)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय
रोहतक–124 001

Copyright © 2003, Maharshi Dayanand University, ROHTAK
All Rights Reserved. No part of this publication may be reproduced or stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means; electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the written permission of the copyright holder.

Maharshi Dayanand University
ROHTAK – 124 001

Developed & Produced by EXCEL BOOKS PVT. LTD., A-45 Naraina, Phase 1, New Delhi-110028

विषय-सूची

भाग I

1.	राष्ट्रीय आन्दोलन	5
2.	संवैधानिक विकास	23
3.	राजनैतिक विरासतें	28
4.	भारतीय संविधान का निर्माणःपरिपेक्ष्य एवम् विचारधारा	31
5.	भारतीय संविधान की प्रस्तावना	39
6.	मौलिक अधिकार	43
7.	राज्य नीति के निदेर्शक सिद्धान्त	54

भाग II

8.	राष्ट्रपति	67
9.	प्रधानमंत्री	81
10.	संघीय मंत्री परिषद	87
11.	भारतीय संसद तथा उसका कार्यकरण	92
12.	राज्यपाल	104
13.	मुख्यमंत्री	109
14.	राज्य-स्तर पर मंत्री-परिषद	112
15.	राज्य विधानमण्डल	115
16.	संघवाद : प्रक ति तथा कार्यपद्धति	118
17.	भारत में राज्य स्वायत्तता की मांग	123
18.	केन्द्र-राज्य सम्बन्ध	128

भाग III

19.	भारत की न्याय व्यवस्था	135

भाग IV

20.	राजनैतिक दल	150
21.	भारतीय राजनीति में दबाव समूह	164
22.	जनमत	174
23.	किसान आन्दोलन	176
24.	भारत में मतदान व्यवहार	179
25.	भारत का निर्वाचन आयोग	182
26.	भारत में चुनाव सुधार	186

भाग V

27.	वर्ण-राजनीति	192
28.	जाति और भारतीय राजनीति	194
29.	महिलाओं की स्थिति और विकास	200
30.	दलित	205
31.	क्षेत्रीयतावाद	209
32.	राष्ट्र-निर्माण की समस्या	216
33.	राष्ट्रीय एकीकरण	219
34.	पंचायती राज	230

M.A. (Previous)

Indian Government and Politics

Paper-II

Max. Marks : 100
Time : 3 Hours

Note : Ten Questions will be set from each unit. The condidate is required to attempt any five questions selecting one from each unit.

Unit-1 : National Movement, Constitutional Development, Political Legtis and the Making of Indian Constitution, Ideological Basis of the Indian Constitution, Preameable, Fundamental Rights, Duties and Directive Principles.

Unit-2 : **Structure and Process I:** President, Prime Minister, Council of Ministers, Working of Parliamentary System.

Structure and Process II : Governor, Chief Minister, Council of State Legislature.

Federalism : Theory and Practice in India, Demands of Autonomy and Separatists Movement, Emerging Trends in Centre-State Relations.

Unit-3 Judiciary Supreme Court, Hight Court, Judicial Review, Judicial and Activism including Public Interest Litigation, Judicial Reform.

Unit-4 Political Parties, Pressure Group, Public Opinion Media, Peasant Movement,

Election, Electoral Behaviour, Election Commission and Electoral Reforms.

Unit-5 Caste, Gendre, Dalit and Regional Issue's Problems of Nation Building and Integration; Panchayati Raj.

भाग-I

अध्याय-1
राष्ट्रीय आन्दोलन
(National Movement)

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का उदय तथा विकास आधुनिक भारतीय इतिहास का एक महत्वपूर्ण पहलू है। यद्यपि अपने स्वरूप में भिन्न-भिन्न तथा क्षेत्र में विस्व त यह आन्दोलन मुख्यतौर से भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा चलाया गया। देश की पूर्ण स्वतंत्रता की प्राप्ति से पहले इस आन्दोलन को विभिन्न अवस्थाओं में से गुजरना पड़ा।

यद्यपि, भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन का संगठित विकास 19वीं शताब्दी के अन्तिम दशक में आरम्भ हुआ किन्तु शताब्दी के आरम्भ से ही इसके लक्षण दिखाई देने लगे थे। सन् 1828 में ब्रह्य समाज का गठन हुआ जिसने शिक्षित हिन्दुओं की राष्ट्रीय भावना का प्रदर्शन किया। सन् 1843 में ब्रिटिश इण्डिया सोसाइटी तथा 1851 मं ब्रिटिश इण्डियन एसोसियेशन जैसी संस्थओं का गठन आरम्भ हुआ। ये संस्थाएँ भारतीयों के राजनीतिक राष्ट्रवाद का प्रदर्शन तो करती थीं किन्तु इनमें केवल गिने-चुन `लोग ही सदस्य थे। इनका कोई राष्ट्रव्यापी आधार नहीं था। इस प्रकार 19वीं शताब्दी के आरम्भ से ही भारत में विभिन्न संगठनों द्वारा राष्ट्रीय भावना तथा राष्ट्रीय आन्दोलन का सूत्रपात होने लगा था। जिसका सबसे पहला विस्फोट सन् 1857 में हुआ।

भारतीय स्वतंत्रता का प्रथम संग्राम (1857)

सन् 1857 में ब्रिटिश शासन के विरूद्ध भारतीयों ने पहली बार एक संगठित क्रांन्ति की। इसका मुख्य कारण ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत में अपनाई गई आर्थिक-सामाजिक नीतियाँ थी। इसका आरम्भ कलकत्ता के पास बैरकपुर छावनी में 23 जनवरी, 1857 को हुआ। इसके बाद यह दिल्ली, मेरठ, आगरा, इलाहाबाद, अवध, रोहेलखण्ड आदि प्रदेशों में फैल गया। बहुत से स्थानों पर अंग्रेजी शासन कुछ समय के लिये समाप्त हो गया। बहादुरशाह 'जफर' नाना साहब, तात्या टोप, महारानी लक्ष्मीबाई, खान बहादुर खाँ आदि नेताओं ने जगह-जगह पर क्रान्ति का नेत त्व किया।

इस क्रान्ति के विषय में योरोपीय तथा भारतीय विद्वानों में मतभेद है। यूरोप के अधिकांश विद्वान इसे 'सिपाही विद्रोह' और एक आकस्मिक घटना मानते हैं। दूसरी ओर भारतीय विद्वान इसे प्रथम स्वतंत्रता संग्राम मानते हैं। श्री जॉन सीले के अनुसार, "सन् 1857 का गदर केवल सैनिक विद्रोह था। यह पूर्णतः अराष्ट्रीय स्वार्थी विद्रोह था, जिसका न कोई देशी नेता था और न जिसकों सम्पूर्ण जनता का समर्थन प्राप्त था। सर जानॅ लारेन्स भी इसी मत का समर्थन करते हैं। दूसरी ओर पं० जवाहरलाल नेहरू का विचार है कि "यह एक सैनिक विद्रोह से बहुत कुछ अधिक था। यह जोरों से फैला और इसने एक जनक्रिय आन्दोलन तथा स्वतंत्रता संग्राम का रूप ले लिया।" लाला लाजपतराय का विचार था कि "भारतीय राष्ट्रवाद ने इस आन्दोलन को प्रोत्साहित किया जिसने आगे चलकर राष्ट्रीय औ राजनीतिक रूप धारण कर लिया।"

भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास पर सन् 1857 की क्रान्ति का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। जिस क्रूरता के साथ अंग्रेजो ने इस आनदोलन को दबाया और हजारों भारतीयों को मौत के घाट उतारा उससे भारतीयों के दिल में ब्रिटिश साम्राज्य को नष्ट करने की भावना घर कर गई। दूसरी ओर अंग्रेजों में भारतीयों के प्रति संदेह पैदा हो गया। उन्होंने भारतीयों को अपमानित किया तथा भारतीयों के बीच फूट डाल कर शासन करने की नीति को अपनाया। विद्रोह का सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव ब्रिटिश भारत की शाासन-व्यवस्था पर पड़ा। इससे ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन का अन्त हो गया और भारत पर सीधे

ब्रिटिश सम्राज्ञी का शासन आरम्भ हो गया।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना भारतीय इतिहास की सर्वप्रथम घटनाओं में से एक है। इसकी स्थापना द्वारा सम्पूर्ण भारत की एक राजनीतिक संगठन की स्थापना की इच्छा पूरी हुई। इसके जन्म के साथ भारतीय आन्दोलन को संगठित करने, उसका विकास करने तथा भारत को स्वतंत्रता दिलाने वाली संस्था का जन्म हुआ। किन्तु जन्म के विषय में जानने से पहले इसको जन्म देने वाली परिस्थितियों एवम् घटनाओं को जानना आवश्यक है -

1857 से 1885 ई० के बीच की मुख्य घटनाएँ

1857 की क्रान्ति के परिणामस्वरूप पुराने भारतीय समाज की शक्तियाँ कमजोर हो गई और नई सामाजिक शक्तियाँ अभी पूरी तरह से परिपक्व नहीं हो सकी थीं, ये केवल 1870 के बाद ही अपना योगदान कर सकीं। इस बीच 1857 और 1870 के समय में दो बार ब्रिटिश सरकार का तख्ता पलटने की चेष्टा की गई। पहली चेष्टा वहाबी आन्दोलन द्वारा की गई किन्तु सरकार ने इसे दबा दिया। दूसरी घटना मराठा विद्रोह की है, जो 1857 के विद्रोह के बाद से ही गुप्त रूप से कार्य कर रहे थे। इसे भी सरकार ने समाप्त कर दिया।

1870 ई० के बाद भारत में राजनीतिक और आर्थिक असन्तोष बहुत ही तीव्र गति से फैला। इस समय तक पहुँचते-पहुँचते किसानों और दस्तकारों की दशा बहुत ही शोचनीय हो गई थी। वे लोग कर्जे में बुरी तरह से फंसे हुए थे। 1867 से 1880 ई० तक बहुत से अकाल हुए जिनमें 1877 का अकाल तो बहुत ही भंयकर था जिसने करीब 2 लाख वर्ग मील के इलाके को तबाह कर दिया। किसानों के असन्तोष के कारण कई जगह विद्रोह किये जिनमें दक्षिण का किसान विद्रोह 1875 सबसे गम्भीर था।

अफगान युद्ध, देहली दरबार (1877), वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट (1878) और आम्स एक्ट (1879) आदि महत्वपूर्ण घटनाएँ लार्ड लिटिन के शासन-काल में घटित हुई जिनसे भारतीयों में ब्रिटिश सरकार के प्रति असन्तोष एवं क्रोध को बढ़ावा मिला।

भारतीय जनता लार्ड लिटिन के शासन-काल से क्षुब्ध तो थी ही इसी समय एक ऐसी घटना घटी जिसने भारतीयों के दिल में अंग्रेजों की नीति के प्रति घ णा की भावना जाग्रत कर दी और इसी भावना के अन्तर्गत भारतीय शिक्षित वर्ग ने एक राष्ट्रव्यापी राजनीतिक संस्था की स्थापना का निश्चय किया। इस घटना का सम्बन्ध इलबर्ट बिल से है जिसने अंग्रेजों और भारतीयों के बीच की खाई और भी चौड़ी कर दी। लार्ड लिटिन के उत्तराधिकारी लार्ड रिपन ने भारतीय न्याय व्यवस्था को उन्नत करने का प्रयत्न किया और भारतीय न्यायाधीशों को योरोपीय लोगों को भी मुकदमा सुनने का अधिकार देने के उद्देश्य से यह बिल पेश कराया। वास्तव में लार्ड रिपन जातीय विभेद को दूर करना चाहते थे। अंग्रेजों ने इस बिल का विरोध किया। जगह-जगह पर रोष भरे व्याख्यान दिये गये और सभाएँ की गई। लार्ड रिपन ने डर कर यह बिल वापिस ले लिया। इलबर्ट बिल पास तो नह हो सका किन्तु इस विरोध मे किये गये आन्दोलन ने भारतीयों को एक पाठ पढाया। उन्होंने सीखा कि यदि संगठित होकर सरकार के गलत कार्यो का विरोध किया जाय तो उसे हार माननी पड़ती है।

काँग्रेस की स्थापना से पूर्व की संस्थाएँ

काँग्रेस के जन्म से पहले भारतीयों ने अनेक राजनीतिक संगठनों की स्थापना की कोशिशें की। इस संस्थाओं का उद्देश्य राष्ट्रीय आन्दोलन का संगठित रूप से सचालन करना था। सर्वप्रथम 1851 ई० में कलकत्ता में ब्रिटिश इण्डियन एसोसिएशन की स्थापना हुई। इसके बाद बम्बई में 'बम्बई एसोसिएशन' 'एसोसिएशन' नामक संस्था का गठन किया गया। ये संस्थाएँ केवल थोड़े समय तक रही। प्रथम महत्वपूर्ण आखिल भारतीय संस्था 'इण्डिन एसोसिएशन' श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के नेत त्व में 1876 में स्थापित हुई। इसका उद्देश्य ब्रिटिश सरकार की दमनकारी तथा साम्राज्वादी नीति का विरोध करना था। 1883 ई० में कलकत्ता में श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने एक राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन किया जिसमें जनता से एक होने की अपील की गई। इससे प्रेरणा प्राप्त करके 1884 में बंगाल में नेशनल लीग की स्थापना की गई। 1884 ई० में ही मद्रास में महाजन सभा तथा 1885 में बम्बई प्रेसीडेन्सी एसोसिएशन की स्थापना हुई।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्रीय काँग्रेस से पूर्व ही बहुत सी संस्थाओं का गठन किया गया था। इनका उद्देश्य भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन को संगठित रूप से चलाना था। किन्तु भारत को इस समय एक अखिल भारतीय राजनीतिक संगठन की आवश्यकता थी जो 1885 ई० में काँग्रेस की स्थापना से पूरी हुई।

काँग्रेस की स्थापना में मि० ह्यूम का उद्देश्य

मि० ए० ओ० ह्यूम को काँग्रेस का जनक माना जाता है, किन्तु काँग्रेस की स्थापना में इनके उद्देश्य के विषय में मतभेद है। कुछ लोगों का मत है कि उनका यह कार्य भारतीयों के प्रति उदारता की एकमात्र भावना से प्रेरित था। दूसरी और विद्वानों का कहना है कि भारत में ब्रिटिश सरकार के कार्यो से असंतोष चरम सीमा तक पहुँच चुका था और किसी भी समय सरकार के खिलाफ विद्रोह हो सकता था। मि० ह्यूम को इसकी खबर पुलिस की गुप्त फाइलों से मिल गई थी। उनका विश्वास था कि इस बार सन् 1857 के गदर से भी खतरनाक विद्रोह हो सकता है। इसलिए वह भारत के इस असंतोष को काँग्रेस के माध्यम से साँविधानिक रूप में लाना चाहते थे अर्थात् काँग्रेस को एक 'निकास नली' के रूप में प्रयोग करना चाहते थे। ह्यूम ने स्वंय कहा था कि "A safety valve for the escape of great and growing forces, generated by our own action, was urgently needed and no more efficacious safety valve, than our Congress movement could possibly be devised." अन्य इतिहासकारों के भी इसी प्रकार के मत हैं। एंड्रूस और मुखर्जी का कहना है कि "भारत में काँग्रेस के जन्म से पूर्व के वर्ष बहुत ही भंयकर थे। अंग्रेज अधिकारियों में केवल मि० ह्यूम ने इस खतरे को समझा तथा उसे रोकने की चेष्टा की।"

मि० ह्यूम तत्कालीन वायसराय लार्ड डफरिन से मिले और उनसे स्वीक ति मिलने पर भारत के उदार शिक्षितों से मिलकर 1885 ई० में काँग्रेस की स्थापना की। इसका प्रथम अधिवेशन बम्बई में हुआ जिसकी अध्यक्षता श्री डब्लू० सी० बनर्जी ने की। इस अधिवेशन में भारत के उदार बुद्धजीवियों के अतिरिक्त कुछ अंग्रेजों ने भी भाग लिया। इसमें काँग्रेस ने अपने मुख्य उद्देश्यों को घोषित किया जैसे (i) राष्ट्रीय भावना और सेवा में विकास करना तथा कार्यकर्त्ताओं में मेल पैदा करना; (ii) जाति, वर्ग तथा प्रान्तीयता की भावना को समाप्त करना तथा एकता पैदा करना; (iii) भारतीय समस्याओं का उल्लेख करना; तथा (iv) आगामी वर्ष के लिये कार्यक्रम तैयार करना।

काँग्रेस ने प्रस्ताव पास करके इण्डिया कौन्सिल को समाप्त करना, आई०सी०एस० की परीक्षा के लिये भारतीयों की आयु को बढ़ाना, विधान परिषदों में चुने हुए प्रतिनिधियों का प्रवेश तथा पंजाब, अवध और पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त में नई परिषदों का गठन करना, आदि की सरकार से माँग की। इस प्रकार हम देखते है कि भारत के प्रथम राष्ट्रीय संगठन ने जो माँग रक्खी वह उदार थी और केवल प्रशासनिक सुधारों से सम्बन्धित थी।

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास को निम्न चरणों में विभाजित किया जा सकता है-

(i) प्रथम चरण - 1885 से 1905 ई० तक

(ii) दूसरा चरण - 1905 से 1918 ई० तक

(iii) तीसरा चरण - 1918 से 1935 ई० तक

(iv) चौथा चरण - 1935 से 1947 ई० तक

प्रथम चरण (1885-1905) ई०

काँग्रेस की स्थापना के बाद भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन उसके इतिहास का ही एक अंग रहा है इसके प्रथम चरण में उदार बुद्धिजीवियों का इस पर अधिकार रहा है और उन्होंने ही आन्दोलन का नेत त्व किया है। इस काल में इसके सामाजिक आधार का विस्तार किया गया तथा शिक्षित मध्यम वर्ग एवं व्यापारी वर्ग भी इसमें भाग लेने लगा। उदारवादी नेता निम्नलिखित सिद्धान्तों में विश्वास करते थे -

(i) उदारवादी नेता ब्रिटिश संस्थाओं और ब्रिटिश सभ्यता से पूरी तरह से प्रभावि थे और ब्रिटिश शासन को भारत के लिए लाभकर मानते थे। उनका विश्वास था कि ब्रिटेन के प्रभाव स्वरूप ही भारत में प्रगतिशील सभ्यता का उदय हुआ है। अंग्रेजी शिक्षा आवागमन के साधन, न्याय प्रणाली और स्थानीय स्वशासन आदि भारत के लिये वरदान हैं।

अतः उदारवादी नेता ब्रिटिश सरकार के प्रति स्वामिभक्त थे। इनमें दादा भाई नौरोजी, डी० ई० वाचा, उमेश चन्द्र बनर्जी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और फीरोज शाह मेहता तथा जी० के० गोखले आदि महत्वपूर्ण हैं।

(ii) उदारवादियों को वैधानिक तरीकों में पूरा विश्वास था। वे प्रार्थनाओं, प्रार्थना-पत्रों, स्मरण पत्रों और प्रतिनिधि मंडलों द्वारा सरकार से अपनी न्याय-युक्त माँगों को मनवाने का आग्रह करते थे। इसलिए इनकी नीति को 'राजनीतिक भिक्षा व त्ति' का नाम दिया गया है।

(iii) उदारवादी नेता क्रमिक सुधारों में विश्वास करते थे और किसी प्रकार के क्रान्तिकारी परिवर्तन को उचित नहीं मानते थे। उनका मुख्य उद्देश्य परिषदों, नौकरियों, स्थानीय संस्थाओं, रक्षा सेना आदि में सुधार करवाना था।

(iv) इस काल के अधिकांश काँग्रेसी नेताओं को अंग्रेजों की सत्यता एवं न्यायप्रियता में विश्वास था। उनका यकीन था कि अंग्रेज स्वंय स्वतंत्रता-प्रेमी हैं और जिस दिन उनकों विश्वास हो जायेगा कि भारतीय स्वयं अपना शासन चला सकते हैं तो वे बिना किसी हिचक के भारतीयों को शासन सौंप देंगे।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि काँग्रेस की स्थापना से 1905 ई० तक भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को नेत त्व ऐसे व्यक्तियों के हाथों में रहा जो ब्रिटिश साम्राज्यवाद को भारत के हित में समझते थे और ब्रिटिश शासन के साथ सहयोग करके भारत में प्रशासनिक तथा अन्य सुधार लाना चाहते थे।

आन्दोलन का दूसरा चरण (1905-1918)

19वीं शताब्दी के अन्त में 20 वीं शताब्दी के आरम्भ में भारत में कुछ ऐसी घटनाएँ हुई जिनसे भारतीय नवयुवकों का उदारवादी नीति में विश्वास समाप्त हो गया और उग्रवादी तथा क्रान्तिकारी विचारधारा का उदय हुआ। इसके मुख्य कारणों में, प्रथम-सरकार द्वारा काँग्रेस की माँगों की उपेक्षा करना, दूसरा-भारत की आर्थिक अवस्था और अग्रेंजों की साम्राज्यवादी आर्थिक नीति, तीसरा-1876 से 1900 ई० तक के समय में 18 बार अकाल आना और सरकार द्वारा इनकी ओर अधिक ध्यान न देना, चौथा-लार्ड एल्गिन की दमन नीति से असंतोष, पांचवाँ-लार्ड कर्जन के शासन-काल में कलकत्ता कारपोरेशन एक्ट, युनिवर्सिटी, एक्ट, आफिशियल सीक्रेट एक्ट आदि पारित किये गये। लार्ड कर्जन की विदेश नीति भारत के हित में नहीं थी, वह भारतीयों को अयोग्य मानता था इसलियें उन्हें उच्च पदों पर नियुक्त नहीं किया गया। बंगाल का विभाजन करके भारतीय राष्ट्रीयता को कमजोर करने की चेष्टा की गई। किन्तु इस विभाजन से जनता में सरकार की नीतियों के विरूद्ध उत्तेजना फैली और नवयुवकों में नई जाग्रति पैदा हुई, छठा-भारत में स्वामी दयानन्द, स्वामी रामक ष्ण, एनीबेसेन्ट आदि ने धार्मिक जाग ति पैदा की और भारतीयों का ध्यान उनके प्राचीन गौरवमय अतीत की ओर आकर्षित किया। सातवाँ-ब्रिटिश उपनिवेशों में भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार किया जाता था जिसके खिलाफ महात्मा गाँधी ने दक्षिणी अफ्रीका में आन्दोलन किया।

उक्त कारणों से भारतीय आन्दोलन में दो विचारधाराओं को जन्म मिला-

(i) उग्रवादी विचारधारा

(ii) क्रान्तिकारी विचारधारा

उग्र दल का काँग्रेस की नीति पर प्रभाव

उग्र दल का नेत त्व बाल गंगाधर तिलक, विपिन चन्द्र पाल और लाला लाजपतराय ने किया। काँग्रेस की अब तक चली आ रही नीति की इन्होंने कटु आलोचना की। परिणामस्वरूप काँग्रेस में नरम दल और गरम दल नाम के दो गुट बन गये। 1905 ई० के बनारस अधिवेशन में दोनों गुटों में खुला संघर्ष हुआ। उग्रवादियों के प्रभावस्वरूप इस अधिवेशन में राजनीतिक सुधारों की मांग की गई। काँग्रेस की राजनीतिक भिक्षाव ति पर गहरा प्रहार करके उसे समाप्त करने की चेष्टा की गई। 1906 ई० के कलकत्ता अधिवेशन में दोनों गुटों में खाई और अधिक बढ़ गई। दादा भाई नौरोजी को इंग्लैड में बुलाकर इस अधिवेशन का सभापति बनाया गया। इस अधिवेशन में काँग्रेस ने 'स्वराज्य' अपना लक्ष्य घोषित किया। साथ ही स्वराज्य, स्वदेशी आन्दोलन, विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार तथा राष्ट्रीय शिक्षा के समर्थन में प्रस्ताव पास किये। 1907 के सूरत अधिवेशन में उदारवादियों और उग्रवादियों में सभापति के पद पर गहरा मतभेद हो गया। परिणामस्वरूप उग्रवादी गुट काँग्रेस से बाहर हो गया। सूरत

की इस फूट को श्रीमती एनी बेसेन्ट ने काँग्रेस के इतिहास की सबसे शोकपूर्ण घटना कहा है।

महाराष्ट्र में तिलक के नेत त्व में तथा बंगाल में विपिन चन्द्र पाल के नेत त्व में उग्रवादी आन्दोलन का विकास हुआ। भारतीयों में आत्म-विश्वास और आत्म-निर्भरता की भावना जगाने के लिये महाराष्ट्र में 'गणपति उत्सव' और 'शिवाजी उत्सव' आरम्भ किये गये तथा बंगाल में विपिन चन्द्र पाल ने काली पूजा और दुर्गा पूजा आरम्भ की। बंगाल में उग्रवादी विचारधारा का प्रचार पुनरूत्थानवादी नेताओं ने धर्म की आड में किया । सम्पूर्ण देश में हिन्दू पुनरूत्थानवाद की लहर दौड़ गई।

स्वदेशी आन्दोलन तथा विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार

उग्रवादी स्वदेशी आन्दोलन के जनक माने जाते हैं। उन्होंने भारत में औद्योगिक विकास तथा आर्थिक सुधार के लिए स्वदेशी आन्दोलन को परम अस्त्र माना। लाला लाजपतराय ने स्वदेशी आन्दोलन के विषय में बताया कि इसी के द्वारा भारत का उद्धार सम्भव है। यह आन्दोलन हमें स्वाभिमानी तथा आत्मनिर्भर बनायेगा तथा इसी से हमें मनुष्यत्व प्राप्त होगा।

विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करने का विचार पूरी तरह अंग्रेजों के विरोध में था। इसका अर्थ केवल विदेशी वस्तुओं का ही बहिष्कार करना नहीं था बल्कि सरकारी पदों, उपाधियों, परिषदों की सदस्यता तथा शिक्षण संस्थानों का बहिष्कार करना था। लाला लाजपतराय के अनुसार बहिष्कार सरकार के सम्मान की जड़ों को काटेगा।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि सरकार की गलत नीतियों के परिणामस्वरूप भारत में उग्रवाद को जन्म मिला। उग्रवादी नेता ब्रिटिश साम्राज्य को भारत का शत्रु मानते थे तथा छुटकारा पाना चाहते थे। वे भिक्षाव ति में विश्वास नहीं करते थे तथा स्वराज्य को अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानते थे। इनकों अंग्रेजों की न्यायप्रियता में विश्वास नहीं था। इसलिए राष्ट्र को संघर्ष के लिए तैयार करना चाहते थे। नवयुवकों में स्वाभिमान जगाने के लिए प्राचीन भारतीय सभ्यता तथा हिन्दू धर्म के पुनरूत्थान को आधार बनाया। ब्रिटिश आर्थिक एवम् प्रशासनिक हितों को हानि पहुँचाने के लिए बहिष्कार के सिद्धान्त को अपनाया। उनका विश्वास सक्रिय विरोध अथवा सत्याग्रह में था।

आतंकवादी आन्दोलन

उग्रवादी आन्दोलन के साथ ही भारत में क्रान्तिवादी आन्दोलन को जन्म मिला। इसके समर्थकों का क्रान्तिकारी साधनों में मुख्यतः बम, पिस्तौल द्वारा आतंक फैलाने में विश्वास था और ये राजनीतिक हत्याओं और राजनीतिक डकैतियों को उचित मानते थे। भारत में बंगाल, पंजाब, मद्रास, महाराष्ट्र आदि में इनके केन्द्र स्थापित किये गये। विदेशों में भी इसकी संस्थाओं की स्थापना की गई। इन्होंने बहुत से समाचार पत्रों को छापना शुरू किया जिससे बहुत से भारतीय प्रभावित हुए।

बंगाल विभाजन की प्रतिक्रियास्वरूप बंगाल में आतंकवादी आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। पुलिस अधिकारियों, मजिस्ट्रेटों तथा मुखबिरों को निशाना बनाना इनका मुख्य ध्येय था जिसके द्वारा ये ब्रिटिश शासन अधिकरियों में आतंक पैदा करना चाहते थे। भारतीयों के मस्तिष्क में दासना के प्रति घ णा उत्पन्न करना चाहते थे और उनके दिलों में देश प्रेम भरना चाहते थे। आंतकवादियों ने बम बनाने, राजनीतिक हत्याएँ करने तथा अपना आन्दोलन चलाने के लिए राजनीतिक डकैतियाँ डालने आदि को उचित माना तथा अपने कार्यक्रम में शामिल किया।

आतंकवादी आन्दोलन की प्रगति

क्रान्तिकारी आन्दोलन के प्रारम्भिक नेता वीरेन्द्र कुमार घोष तथा भूपेन्द्र नाथ दत्त थे। उन्होंने "युगान्तर" और "संध्या" नाकम समाचार पत्रों से आतंकवाद का प्रचार किया। 'अनुशीलन-समिति' नामक संस्था की स्थापना की जिसकी करीब 200 शाखाएँ कलकत्ता तथा ढाका में थी। महाराष्ट्र में क्रान्तिकारी आन्दोलन का मुख्य केन्द्र नासिक में था। श्यामजी क ष्ण वर्मा, चापेकर बन्धुओं तथा सावरकर ने इस आन्दोलन को वहाँ पर संगठित किया। मद्रास में 1907 ई० में विपिन चन्द्र पाल के प्रयासों से यह विचारधारा बड़ी तेजी से फैली। संक्षेप में कह सकते हैं कि प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान इस आन्दोलन की काफी प्रगति हुई और इस बीच (1913-1916 ई०) बहुत सी हत्याएँ की गई। सरकार द्वारा आन्दोलन का दमन निर्दयतापूर्वक किया गया तथा बहुत से भारतीयों को म त्यु-दंड दिये गए। खुदीराम, चापेकर बन्धुओं आदि बहुत से शहीदों ने भारत को स्वतंत्र कराने के प्रयासों में प्राण न्योछावर किये।

मुस्लिम साम्प्रदायिकता का उदय

20वीं शताब्दी के प्रथम दशक में यदि एक ओर उग्रवाद, आतंकवाद और उग्र हिन्दूवाद जैसी विचारधारा का जन्म हुआ तो दूसरी ओर मुस्लिम साम्प्रदायिकता का भी उदय हुआ। मुस्लिम साम्प्रदायिकता का उदय मुख्य रूप से ब्रिटिश नीति, मुसलमानों में असन्तोष तथा हिन्दुओं की धार्मिक नीति जैसे कारणों के फलस्वरूप हुआ। अंग्रेजों ने भारत में मुसलमानों से शासन छीना और उनका हर प्रकार से दमन किया। परिणामस्वरूप सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में उनका अत्याधिक पतन हुआ। अंग्रेजों ने आरम्भ से ही फूट डालों और शासन करों की नीति को अपनाया इसलिए शुरू में हिन्दुओं को और 1857 के बाद मुसलमानों को अपने पक्ष में लाने की चेष्टा की। वहाबी आन्दोन में मुसलमानों ने अपने इस्लाम धर्म को पुनः पवित्रता देने की कोशिश की और अग्रेंजों के खिलाफ जिहाद को आरम्भ किया। सरकार ने इस आन्दोलन कों निर्दयतापूर्वक कुचल दिया लेकिन मुसलमानों में साम्प्रदायिक चेतना को न दबा सकी। उन्नीसवीं शताब्दी के हिन्दू धार्मिक आन्दोलनों ने मुसलमानों को और भी संगठित किया। ब्रिटिश सरकार ने अपनी कूट-नीति द्वारा अपने को हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच रखकर एक साम्प्रदायिक त्रिकोण की रचना करने का निश्चय किया। वे मुसलमानों से सम्पर्क बढ़ाने लगे। भारत के राष्ट्रीय आन्दोलने को कमजोर करने के लिए तथा मुसलमानों को अपने पक्ष में लेने के लिए अंग्रेजों ने 1905 में बंगाल का विभाजन किया। मुसलमानों में नई जाग ति लाने में अलीगढ़ आन्दोलन का प्रमुख हाथ था। इस आन्दोलन के जन्मदाता सर सैयद अहमद खाँ थे। उनका विचार था कि मुसलमानों की दशा में सुधार अंग्रेजों की सहायता से ही सम्भव है। उन्होंने अलीगढ़ में 'मौहम्मडन' ऐंग्लो-ओरियन्टल कालिज की स्थापना की जो आगे चलकर अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के रूप में परिणत हुआ। इस कालिज के प्रिंसिपल बेक ने सर सैयद अहमद खाँ को इतना प्रभावित किया कि वह एक प्रगतिशील राष्ट्रवादी नेता से प्रतिक्रियावादी साम्प्रदायवादी नेता में बदल गये और उन्होंने भारतीय मुसलमानों को राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लने से रोकने का प्रयास किया।

प थक प्रतिनिधित्व की माँग

ब्रिटिश कूटनीति का खेल यहीं समाप्त नहीं हुआ। उन्होंने मुसलमानों के बहुत से संगठन बनवाये तथा उन्हें प थक प्रतिनिधित्व माँगने के लिए उत्साहित किया 1906 से सर आगा खाँ के नेत त्व में मुसलमानों का एक शिष्टमंडल बाबसराम लार्ड मिन्टों से मिला जिसने मुसलमानों के साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की माँगों को सहर्ष स्वीकार किया। शिष्ट मंडल की माँग थी कि-

(i) किसी भी प्रकार के प्रतिनिधित्व में मुसलमानो के महत्त्व को उनकी संख्या से नही बल्कि उनकी ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति सेवाओ से आँका जाये।

(ii) प्रस्तावित सुधारों में उन्हें अपने प्रतिनिधियों को साम्प्रदायिक निर्वाचक मंडलों द्वारा चुनकर भेजने का अधिकार दिया जाये।

(iii) विभिन्न सेवाओं में मुसलमानो को अधिक प्रतिनिधित्व मिले।

लार्ड मिन्टों ने शिष्टमंडल की माँगों को स्वीकार करके भारतीय राजनीति में सम्प्रदायवाद का बीजारोपण किया जिसने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को न केवल पीछे धकेला अपितु आगे चलकर भारत का विभाजन किया।

मुस्लिम लीग की स्थापना

मुस्लिम शिष्टमंडल को शिमला में जो सफलता मिली उससे उन्हें बहुत उत्साह मिला। दिसम्बर 1907 में कराची में कुछ उच्च कोटि के मुस्लिम एकत्रित हुए जिन्होंने मुस्लिम लीग की स्थापना की। मुस्लिम लीग के संविधान में लीग के लक्ष्यों को घोषित किया गया कि इसका उद्देश्य भारतीय मुसलमानों में ब्रिटिश सरकार के प्रति राजभक्ति की भावना को बढ़ाना है और सरकार के निश्चयों से सम्बन्धित सभी संदेहों को समाप्त करना है। भारतीय मुसलमानों के राजनीतिक तथा अन्य अधिकारों की रक्षा करना है।

संक्षेप में कह सकते हैं कि ब्रिटिश नीति ने भारत में एक साम्प्रदायिक संगठन को जन्म दिया जिसने भारतीय राजनीति को बहुत अधिक प्रभावित किया। लार्ड मिन्टों ने साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व को माँगने के लिए मुस्लिम लीग को प्रोत्साहन दिया और 1909 के सुधार अधिनियम में इसे स्थान दिया।

मार्ले-मिण्टों सुधार और उसके बाद

ब्रिटिश सरकार की दमन नीति के बावजूद भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन तीव्र होता जा रहा था। भारत में विभिन्न प्रकार की घटनाँए हो रही थी और प्रशासनिक सुधारों की माँग उम्र होती जा रही थी अतः सरकार ने सुधार अधिनियम (Reform Act; 1909) पारित करके राष्ट्रीय नेताओं को संतुष्ट करना चाहा। किन्तु इस अधिनियम में जो कुछ दिया गया वह भारतीयों की आशाओं से बहुत कम था, साथ ही इसमें बहुत सी आपत्तिजनक चीजों को भी दिया गया। डा० जकारिया ने इस अधिनियम का विश्लेषण करते हुए कहा है कि इसमें एक ओर प्रगतिशील कदमों का समावेश किया गया था तो दूसरी ओर उन पर इतने बन्धन लगा दिये थे कि वे निरर्थक हो गए थे प्रजातांत्रिक निर्वाचन सिद्धान्त अप्रजातांत्रिक साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व से जुड़ा हुआ था, सरकारी बहुमत को समाप्त कर दिया था फिर भी केन्द्रीय तथा प्रान्तीय परिषदों में निर्वाचित सदस्य अल्पमत में थे। परिषदों की सदस्य संख्या तथा अधिकार क्षेत्र में व द्धि की गई थी फिर भी संसदीय सरकार की स्थापना नहीं की गई थी। कार्यकारिणी परिषदों में भारतीयों को स्थान दिया फिर भी सत्ता अंग्रेजों के हाथ में रही।

भारत में इस अधिनियम की मिली-जुली प्रतिक्रिया हुई। यदि एक ओर उग्रवादी नेताओं ने इसकी आलोचना की तो दूसरी ओर उदारवादियों ने संतोष व्यक्त किया। उन्हें फिर से ब्रिटिश सरकार पर विश्वास होने लगा जिसे ब्रिटिश नीति ने पहले कम कर दिया था। 1911 ई० में सरकार द्वारा बंगाल का विभाजन समाप्त करने से उदारवादी और भी संतुष्ट हुए।

1914 में प्रथम विश्वयुद्ध आरम्भ हुआ। ब्रिटिश ससंद में भारत सचिव ने घोषित किया कि भारत में ब्रिटिश सरकार की नीति का उद्देश्य भारत में धीरे-धीरे उत्तरदायी सरकार की स्थापना है। भारत के उद्योगपतियों की सहायता प्राप्त करने के लिए सरकार ने सन् 1916 में कपास पर आयात कर 3½ प्रतिशत स्वीकार किया जिससे भारत में सूती वस्त्र उद्योग के विकास में सहायता मिली।

भारत में इस युद्ध से दो प्रकार के विचार पैदा हुए। क्रांतिकारी तथा आतंकवादी इसे एक अच्छा अवसर मानकर ब्रिटेन की लाचारी का लाभ उठाना चाहते थे। इसलिए उन्होंने अपना आन्दोलन तेज कर दिया। लाला लाजपतराय ने टर्की जाकर गदर पार्टी की स्थापवना की। पुनः जर्मनी जाकर भारतीय राष्ट्रीय दल का संगठन किया। विदेशों से भारतीय क्रान्तिकारी भारत पहुंचे और यहाँ बंगाल, पजांब, दिल्ली और महाराष्ट्र की क्रान्तिकारी समितियों के साथ सम्पर्क स्थापित किया। दूसरी ओर उदारवादी नेता ब्रिटेन को युद्ध में सभी प्रकार की सहायता देने के पक्ष में थे। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा के लिए भारतीयों द्वारा युद्ध में सहायता देना उचित बताया। महात्मा गाँधी, जो भारतीय राजनीति में पदार्पण कर चुके थे, भारत द्वारा सहयोग देने के पक्ष में थे।

होम रूल आन्दोलन

1914 ई० में भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में एक नये विचार को जन्म मिला। जिसने पिछले दो वर्ष के शिथिल आन्दोलन को फिर से तीव्र कर दिया। श्री जी० एन० सिंह के अनुसार ब्रिटिश सरकार ने 'दमन और सुधार' की नीति अपना कर राष्ट्रीय आन्दोलन को कमजोर कर दिया था। 1914 में बालगंगाधर तिलक जेल से छूटकर आए और उन्होंने उग्रवाद को पुनर्जीवित करने के प्रयास किए। इसी वर्ष श्रीमती एनी बेसेन्ट भी राजनीति में शामिल हुई। उनकों पहले से ही विश्वख्याति प्राप्त हो चुकी थी और उन्होंने अपने देश आयरलैंड में 'होम रूल लीग' की स्थापना की थी। उनका विश्वास था कि भारत में भी इसी प्रकार का आन्दोलन चलाया जा सकता है किन्तु उसके लिए उग्रवादियों का सहयोग परम आवश्यक होगा। इसलिए उन्होंने पहले उदारवादियों तथा उग्रवादियों में समझौता कराने का प्रयास किया। सन् 1916 में वह अपने उद्देश्यों में सफल हुई और काँग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में उग्रवादी भी काँग्रेस में शामिल हो गये।

23 अप्रैल, 1916 को तिलक ने पूना में होम रूल लीग की स्थापना की। 6 महीने बाद श्रीमती बेसेन्ट ने मद्रास में अखिल भारतीय होम रूल लीग की स्थापना की। बाद में दोनो नेताओं ने मिलकर इस आन्दोलन को चलाया। इस आन्दोलन के उद्देश्यों में घोषित किया गया कि होम रूल आन्दोलन एक अधिकारपूर्ण माँग की अभिव्यक्ति करता है। भारत के लिए स्वशासन की माँग कोई भीख नहीं है अपितु स्वशासन की प्राप्ति भारतीयों का जन्मसिद्ध अधिकार है। तिलक ने कहा कि होम रूल मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है, मैं इसे लेकर रहूँगा।

1917 में होम रूल आन्दोलन अपने शिखर पर पहुँच गया था। यद्यपि यह शान्तिपूर्ण और वैधानिक आन्दोलन था फिर भी सरकार ने इसका बुरी तरह से दमन किया और उसके नेताओं का गिरफ्तार करना शुरू किया। जनता ने इसका विरोध किया। काँगेंस ने ब्रिटिश नीति की आलोचना की तिलक ने सत्याग्रह करने की धमकी दी। सरकार ने इसकी उपेक्षा करनी उचित नहीं समझा क्योंकि उसे भारतीयों की सहायता की आवश्यकता थी। अतः उसने भारत मंत्री माण्टेग्यू की घोषणा द्वारा इच्छा व्यक्त की कि युद्ध के बाद भारत में उत्तरदायी शासन की स्थापना की जायेगी। इस प्रकार इस आन्दोलन ने न केवल भारत को सोने से जगाया बल्कि सरकार को नई सुधार योजना लागू करने के लिए बाध्य किया।

काँग्रेंस लीग पैक्ट

सन् 1916, राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि इस वर्ष काँग्रेंस और मुस्लिम लीग में लखनऊ अधिवेशन में समझौता हुआ। इस समझौते के कई कारण थे जैसे (i) लीग में राष्ट्रवादी नेताओं का शामिल होना और उनके दिल में भारत के लिए स्वराज्य प्राप्त करने की भावना, (ii) ब्रिटिश सरकार की नीति में परिवर्तन और काँग्रेंस के प्रति उदार द ष्टिकोण अपनाना, (iii) पान-इस्लामिक आन्दोलन के परिणामस्वरूप भी भारतीय मुसलमानों में राष्ट्रीय भावना उत्पन्न हुई, (iv) मुस्लिम लीग का आफिस लखनऊ बन गया था इसलिए वह अलीगढ़ के कुप्रभाव से प थक हो गई थी।

राष्ट्रवादी और प्रगतिशील विचारधारा के बहुत से मुस्लिम नेता लीग के सदस्य बन गये थे इसलिये 1913 से ही लीग के दष्टिकोण में काफी परिवर्तन हो गया था। 1913 में उसने प्रस्ताव पास किया कि लीग का उद्देश्य औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त करना है। 1914 और 1915 के अधिवेशनों में लीग ने भारतीय नेताओं के साथ मिलकर कार्य करने की इच्छा व्यक्त की। इस परिवर्तन के लिए श्री मोहम्मद अली जिन्हा मुख्य रूप से उत्तरदायी है। परिणामस्वरूप सन् 1916 में काँग्रेस तथा लीग के साथ अधिवेशन लखनऊ में जहुए जिनमें दोनों संगठनों के बीच समझौता हुआ जिसे लखनऊ समझौता भी कहते हैं। इस समझौते में राष्ट्रीय आन्दोलन को बहुत बल मिला। अब हिन्दू और मुस्लिम मिल कर भारत के लिये स्वराज्य प्राप्त करने को अग्रसर हुए।

माण्टेग्यू की घोषणा और लिबरल फेडरेशन की स्थापना

भारत सचिव माण्टेग्यू ने 20 अगस्त, 1917 को घोषित किया कि ब्रिटिश सरकार की नीति यह है कि भारत में शासन के प्रत्येक विभाग में भारतीयों का सम्पर्क बढ़े और उत्तरदायी शासन प्रणाली का धीरे-धीरे विकास हो जिससे अधिकाधिक प्रगति करके स्वशासन प्रणाली भारत में स्थापित हो और वह ब्रिटिश साम्राज्य के एक अंग के रूप मे रहे।

उदारवादियों ने इस घोषणा का स्वागत किया और इसे भारतीय सांविधानिक विकास में एक कड़ी माना। उग्रवादी नेताओं ने इसका विरोध किया। श्रीमती बेसेन्ट ने कहा कि इंग्लैण्ड के लिए ऐसी योजना प्रस्तुत करना अनुदार था तथा भारत के लिये इसे स्वीकार करना अनुचित था। सन् 1918 में इस घोषणा पर विचार करने के लिए काँग्रेंस का अधिवेशन बुलाया गया जिसमें उदारवादी शामिल नहीं हुए और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी की अध्यक्षता में लिबरल फेडरेशन की स्थापना की गई। एक बार फिर काँग्रेस में फूट हुई, उग्रवादी और उदारवादी फिर से अलग हो गये।

राष्ट्रीय आन्दोलन का तीसरा चरण (1918-1935)

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का तीसरा चरण आन्दोलन के इतिहास में सबसे महत्त्वपूर्ण चरण माना जाता है। इस चरण में राष्ट्रीय आन्दोलन में बहुत से प्रमुख लक्षणों को जन्म मिला है, बहुत से नये संगठनों का उदय हुआ है और बहुत सीह महत्वपूर्ण घटनाओं के होने से काँग्रेस ने 'पूर्ण स्वराज्य' अपना ध्येय घोषित किया है। इस चरण के मुख्य लक्षण निम्न प्रकार हैं :-

(i) भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन जो अभी तक उच्च और माध्यम वर्ग की जनता तक सीमित था, वह इस चरण में आम जनता तक पहुँच गया और उसके संघर्ष करने के विभिन्न तरीकों में बहुत से नये-नये तरीके शामिल हो गये, जैसे असहयोग करना, सविनय अवज्ञा आन्दोलन या जनता का सीधा संघर्ष।

(ii) युद्ध के समय और उसके बाद की बहुत सी घटनाओं ने राष्ट्रीय जाग ति को पैदा किया और अधिकांश भारतीयों को ब्रिटिश साम्राज्य के विरूद्ध संघर्ष करने को तैयार किया। 1919 ई० के अधिनियम में दिये गये सुधारो में अधिकांश राष्ट्रीय नेताओं को असन्तुष्टि थी उनको ऐसा महसूस हुआ कि सरकार ने उन्हें धोखा दिया हो। युद्ध के बाद भारत

में आर्थिक संकट पैदा हुआ। वस्तुओं के मूल्य बढ़ गये तथा आवश्यक वस्तुओं का मिलना बन्द हो गया। सेना से छटनी किये हुए बहुत से नवयुवक बेकार हो गये थे और उन्हें रोजगारा नहीं मिल पा रहा था।

(iii) सरकार दमनकारी नीति अपना रही थी। एक ओर तो वह सुधारों का आश्वासन दे रही थी और दूसरी और आन्दोलन के कुचलने के लिए प्रेस एक्ट, सेडीशन एक्ट, एक्सप्लोजिव सव्सटेन्स एक्ट, क्रिमिनल लॉ ऐमेण्डमेण्ट एक्ट आदि दमनकारी कानूनों का निर्माण कर रही थी। क्रान्तिकारियों को फाँसी, काला पानी और कारावास की सजा दी जा रही थी। परिणामरूवरूप भारत के सभी वर्गो-शिक्षित, पूँजीपति, किसान और मजदूरों में असन्तोष और विद्रोह की भावना पनप रही थी।

(iv) अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं, जैसे योरोपीय देशों में विभिन्न प्रजातान्त्रिक क्रान्तियाँ और रूस में समाजवादी क्रान्ति ने भारतीयों की चेतना को झकझोर दिया। सेवरेज की संधि ने भारतीय मुसलमानों को अंग्रेजों से नाराज कर दिया और इस प्रकार उन्हें राष्ट्रीय आन्दोलन में साथ लड़ने को प्रेरित किया।

(v) युद्ध-काल में भारतीय उद्योगों के प्रसार से भरतीय पूँजीपति आर्थिक रूप में मजबूत हो गये थे। काँग्रेस द्वारा अपनाये गये स्वदेशी आन्दोलन और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार ने इन पूँजीपतियों के आर्थिक विकास को और अधिक सहयोग दिया। अतः यह पूँजीपति वर्ग काँग्रेस को वित्तीय सहायता प्रदान कर रहा था। गाँधी जी द्वारा वर्ग-सहयोग सामाजिक शान्ति और कलकत्ता अधिवेशन में 'स्वदेशी' के विषय में प्रस्ताव पास करना आदि से उद्योगपतियों ने गाँधीजी और उनके आन्दोलन को पूरा समर्थन देना शुरू कर दिया। इस काल में काँग्रेस की नीतियों और आन्दोलन के तरीकों को उद्योगपतियों का वर्ग प्रभावित करने लगा था। श्री ए० आर० देसाई के शब्दों में, "It was from 1918 that the Indian industrial bourgeoisie began to exert a powerful influence in determining the programmes, policies, strategies, tactics and form of struggle, of the Indian Nationalist Movement led by the Congress of which Gandhi was the leader."

(vi) आन्दोलन के इस काल में समाजवादी और साम्यवादी संगठनों का उदय हुआ। सन् 1928 तक ये संगठन स्वतंत्र रूप से श्रमिक वर्ग के राजनीतिक और ट्रेड यूनियन आन्दोलन चलाने लगे। सन् 1926 के बाद भारतीय श्रमिक वर्ग एक राजनीतिक इकाई के रूप में भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने लगा।

(vii) इसी काल में बहुत से प्रतिक्रियावादी और सम्प्रदायवादी गुटों का जन्म हुआ और बहुत से साम्प्रदायिक दंगे हुए।

(viii) राष्ट्रीय काँग्रेस ने इसी चरण में 'औपनिवेशिक स्वराज्य' से अपना लक्ष्य 'पूर्ण स्वराज्य' घोषित किया।

असहयोग आन्दोलन

प्रथम युद्ध के बाद भारत में विभिन्न कारणों के फलस्वरूप साम्राज्य'-विरोधी भावना बड़ी तीव्र गति से फैल रही थी। सरकार किसी भी परिस्थिति का सामना करने की तैयारी कर रही थी। इसी उद्देश्य से बहुत से दमनकारी कानूनों को पारित किया गया। भारतीय सुरक्षा अधिनियम की समाप्ति पर सरकार इसी प्रकार का कोई अधिनियम चाहती थी। अतः उसने 'रौलेट बिल' विधानपालिका मे पेश किया और विरोध के बावजूद इसे कानून बनाया। इससे भारतीयो को बहत क्षोभा हुआ। इसके द्वारा किसी भी व्यक्ति को बिना कारण बताये बंदी बनाया जा सकता था।

महात्मा गाँधी द्वारा नेत त्व सम्भालना

रौलेट ऐक्ट के बनने से गाँधीजी भारतीय राजनीति के मंच पर आगे आये। वह ब्रिटिश सरकार से सहयोग में विश्वास रखते थे किन्तु इस अधिनियम के बनने से वह भी विद्रोह कर उठे। उन्होंने सत्याग्रह करने का निश्चय किया और 30 मार्च की तिथि भी घोषित कर दी, जिसे बाद में बदलकर 6 अप्रैल कर दिया। बहुत सी जगह बदली हुई तिथि की खबर तक नहीं पहुँच सकी। गाँधीजी इस सत्याग्रह को शान्तिपूर्ण तरीकों से चलाना चाहते थे किन्तु बहुत से स्थानों पर हिसांत्मक झगड़े हुए जिससे गाँधीजी ने सत्याग्रह वापस ले लिया।

पंजाब में सरकार द्वारा दमन

गाँधीजी द्वारा सत्याग्रह आन्दोलन वापस लेने पर सरकार ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया तथा दमन-चक्र चालू कर दिया। पंजाब

के गवर्नर ने स्थिति को काबू में रखने के लिये वहाँ के नेता डा० किचलू और डा० सत्यपाल को बन्दी बनाकर अज्ञात स्थान पर भेज दिया। अम तसर में जनता ने उत्तेजित होकर जलूस निकाला। जलूस शान्तिपूर्ण था किन्तु पुलिस ने उस पर गोली चलाई जिससे कई व्यक्ति मरे और बहुत से घायल हुए। परिणामस्वरूप जनता ने भी कई अंग्रेजों की हत्या की और सार्वजनिक भवनों को आग लगा दी।

जलियाँवाला बाग काँड

12 अप्रैल को सरकार ने शहर में सार्वजनिक सभा करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया किन्तु इस आदेश की पूरी जानकारी जनता को नहीं दी गई। 13 अप्रैल को वैशाखी के दिन सरकार की नीतियों का विरोध करने के लिए अम तसर की जनता ने जलियाँवाला बाग में एक सार्वजनिक सभा की, जिसमें स्त्री और बच्चे भी शामिल थे। सभा शान्तिपूर्वक चल रही थी किन्तु जनरल डायर ने 150 सिपाहियों को साथ ले उस पर गोलियों की बौछार करा दी जिससे लगभग 400 आदमी मरे और करीब 1200 घायल हुए जिन्हें वहीं छोड़ दिया गया।

इस अमानुषिक कार्य के बाद पंजाब के पाँच जिलों में सैनिक शासन लागू कर दिया गया और जनता के साथ दूर्व्यवहार किये गये। घटना की जाँच करने के लिए हुण्टर कमेटी नियुक्त की गई। जिसने पक्षपातपूर्ण रिपोर्ट देकर अधिकारियों के कार्यो पर पर्दा डालने की कोशिश की। काँग्रेस ने इस काँड की स्वंय जाँच कराई जिसमें अधिकारियों की घोर निन्दा की गई। महात्मा गाँधी पर इस घटना का ऐसा प्रभाव हुआ कि वह सरकार के कट्टर असहयोगी बन गये।

खिलाफत आन्दोलन

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद सेवरेज की संधि द्वारा टर्की साम्राज्य का विभाजन किया गया। उसके कुछ प्रान्त स्वतंत्र कर दिये गये और कुछ ब्रिटेन और फ्रांस के अधिकार में आ गये। इससे भारतीय मुसलमानों को बहुत क्षोभ हुआ क्योंकि टर्की का सुल्तान संसार के मुसलमानों का खलीफा था। भारत में अंग्रेजों की इस नीति के विरोध में मुस्लिम लीग तथा अन्य मुस्लिम सम्प्रदायों ने खिलाफत आन्दोलन आरम्भ किया। महात्मा गाँधी ने इसे सफल बनाने का प्रयास किया और इसका नेत त्व किया।

ऊपर दिये कारणों से काँग्रेस की नीति पर बहुत प्रभाव हुआ और गाँधीजी के नेत त्व में उसमें क्रान्तिकारी परिवर्तन किये गये। नागपुर अधिवेशन (1920) में असहयोग आन्दोलन का प्रस्ताव पूर्ण बहुमत से स्वीक त किया गया। काँग्रेस का उद्देश्य 'स्वराज्य' की प्राप्ति घोषित किया गया। अभी तक काँग्रेस का विचार ब्रिटिश साम्राज्य में रह कर ही स्वराज्य प्राप्त करना था किन्तु अब घोषित किया गया कि स्वराज्य उससे बाहर भी प्राप्त किया जा सकता है। स्वराज्य प्राप्त करने के साधनों में भी परिवर्तन किये गये। अभी तक काँग्रेस केवल संविधानिक साधनों का ही प्रयोग कर सकती थी। किन्तु नागपुर अधिवेशन में घोषित किया गया कि इनके अतिरिक्त अन्य साधनों का भी प्रयोग किया जा सकता है किन्तु वह भी शान्तिपूर्ण तरीके से।

असहयोग आन्दोलन का कार्यक्रम

असहयोग आन्दोलन में निम्नलिखित कार्यक्रम निर्धारित किये गये -

(i) सरकारी उपाधियों तथा अवैतनिक पदों का त्याग और स्थानीय संस्थाओं के मनोनीत सदस्यों को अपने-अपने पदों को रिक्त करना।

(ii) सरकारी दरबारों, उत्सवों तथा सरकार के सम्मान में आयोजित कार्यक्रमों में शामिल न होना।

(iii) सरकारी स्कूलों और कॉलिजों को त्यागना तथा राष्ट्रीय स्कूलों और कॉलिजों की स्थापना करना।

(iv) सरकारी अदालतों का बहिष्कार करना तथा उनके स्थान पर पंचायतों की स्थापना करना।

(v) कौंसिलों का बहिष्कार करना।

(vi) विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करना तथा स्वदेशी का प्रचार करना।

आन्दोलन की प्रगति

गाँधीजी ने सम्पूर्ण देश का भ्रमण करके जनता को उपने कार्यक्रम से अवगत कराया और 1921 में असहयोग आन्दोलन आरम्भ

किया। सैकड़ों व्यक्तियों ने उपाधियाँ त्याग दी। बहुत से छात्रों ने स्कूलों को छोड़ा तथा वकीलों ने अदालतों का बहिष्कार किया। विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार किया गया। मादक वस्तुओं के खिलाफ आन्दोलन किये गये। राष्ट्रवादी नेताओं ने विधान सभाओं का बहिष्कार किया। आन्दोलन की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि हर जगह हिन्दू-मुस्लिम की जय के नारे लग रहे थे। उन्हीं दिनों प्रिंस आफ वेल्स भारत आये जिनका हर जगह हड़ताल से स्वागत हुआ। सरकार गाँधीजी से समझौता करना चाहती थी किन्तु उन्होंने मना कर दिया। इस प्रकार भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में यह पहला अवसर था जबकि सम्पूर्ण भारत अर्थात् भारत के सभी वर्ग सरकार का विरोध कर रहे थे। यह जनता का आन्दोलन था।

सरकार ने आन्दोलन को कुचलने के लिए सभी प्रकार के उपाय किये। सारे देश में गिरफ्तरियाँ की गई। लाठी चार्ज और गोली कॉड सरकार के लिये मामूली चीज बन गई थी। कॉंग्रेस को गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया। सार्वजनिक सभाओं पर प्रतिबन्ध लगा दिये गयें

सरकार द्वारा दमन किये जाने के विरोध में अहमदाबाद अधिवेशन में कॉंग्रेस ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन चलाने का निश्चय किया। गाँधीजी ने वायसराय को चेतावनी दी कि यदि उसने 7 दिन के अन्दर दमन नीति में परिवर्तन नहीं किया तो 'कर न दो' आन्दोलन आरम्भ कर दिया जायेगा। अभी 7 दिन बीते भी नहीं थे कि गोरखपुर जिलें में चौरी-चोरा नामक स्थान पर उत्तेजित भीड़ ने 21 सिपाहियों और एक थानेदार को थाने में जिन्दा जला दिया। गाँधीजी के अनुभव किया कि आन्दोलन ने हिंसात्मक रूप ले लिया है तो उन्होंने आन्दोलन वापिस ले लिया।

गाँधी द्वारा इस प्रकार आन्दोलन वापस लेने के कदम को बहुत से नेताओं ने गलत माना। मोतीलाल नेहरू, जवाहरलाल नेहरू, सी०आर० दास, सुभाषचन्द्र बोस, लाजपत राय, अली बंधुओं आदि ने इसे गाँधीजी की जल्दबाजी का कदम बताया। वास्तव में गाँधीजी ने आन्दोलन ऐसे समय में वापिस लिया जबकि जनता का मनोबल बहुत ऊँचा था। इसने भारत के इतिहास को ही नई दिशा दे दी। आन्दोलन के इस प्रकार स्थगित करने से गाँधीजी की लोकप्रियता बहुत कम हो गई और इसका लाभ उठाकर सरकार ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया। असहयोग आन्दोलन तो समाप्त हो गया किन्तु इसने भारतीयों मे नई चेतना और देश-प्रेम जाग्रत किया। जनता में स्वदेशी वस्तुओं का प्रेम पैदा किया। रचनात्मक पक्ष में बहुत से राष्ट्रीय कॉलिजों को खोला गया। इस आन्दोलन ने ब्रिटिश साम्राज्य की जड़ों पर कुठाराघात किया और भारतीयों को एक प्रोग्राम दिया।

स्वराजय दल की स्थापना

1922 ई० में असहयोग आन्दोलन के अचानक स्थगित होने से भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में अनिश्चितता और गतिहीनता आ गई। अधिकॉंश नेता गाँधीजी के इस कार्य से क्षुब्ध थे। परिणामस्वरूप कॉंग्रेस पार्टी में फिर से फूट नजर आने लगी। इस वातावरण में दो प्रकार की विचारधाराएँ सामने आई। कुछ लोगों का मत था कि आगामी चुनावों में भाग लेकर कौंसिलों में पहुँचा जाय और वहाँ उन्हें अन्दर से तोडा जाये। दूसरी तरफ कुछ लोग कॉंग्रेस की नीति में कोई परिवर्तन नहीं चाहते थे और असहयोग आन्दोलन के रचनात्मक कार्यकर्म को ही आगे बढ़ाना चाहते थे। पहली विचारधारा के नेता सी० आर० दास, मोतीलाल नेहरू तथ बी० जे० पटेल थे। सन् 1922 में गया में कॉंग्रेस का अधिवेशन बुलाया गया। सी० आर० दास ने अध्यक्ष पद से अपनी नीति को प्रस्तुत किया जिसे गाँधीवाद विचारकों ने अस्वीकार कर दिया। परिणामस्वरूप दास और मोतीलाल नेहरू ने कॉंग्रेस से त्यागपत्र देकर सन् 1923 में स्वराज्य दल के गठन की घोषणा की। इस तरह कॉंग्रेस दल के फिर से दो गुट बनने की सम्भावना हो गई लेकिन मौलाना आजाद के प्रयासों के फलस्वरूप सितम्बर 1923 में एक विशेष अधिवेशन दिल्ली में बुलाया गया जिसमें प्रस्ताव पास करके स्वराज्य दल के प्रोग्राम को स्वीकार किया गया और उन्हें कौंसिलों के लिए चुनाव लड़ने की आज्ञा दे दी गई।

स्वराज्य दल का मुख्य उद्देश्य, सन् 1919 के सुधार अधिनियम को असफल बनाना था। उनका विचार था कि कौंसिलों में प्रवेश करके बजट को फेल किया जाये तथा उन कानूनों को न बनने दिया जाये जिनसे सरकार की शक्तियाँ अधिक होती हों। उन कानूनों को बनवाने का प्रयास किया जाये जिनके द्वारा राष्ट्रीय रचनात्मक कार्यो में सहायता प्राप्त हो।

स्वराज्यवादियों ने निर्वाचन में भाग लिया। बंगाल और मध्यप्रदेश में उन्हें आंशातीत सफलता प्राप्त हुई। अन्य प्रान्तों में भी यह सबसे बड़े दल के रूप में विजयी रहा। आरम्भ में इसने सरकार के साथ असहयोग व अड़गे की नीति अपनाई किन्तु

बाद में 'उत्तरदायित्वपूर्ण सहयोग' की नीति आरम्भ कर दी। 1925 में देशबन्धु दास की म त्यु से दल को बहुत धक्का पहुँचा और धीरे-धीरे इसके नेता सरकार के साथ सहयोग करने लगे। फलस्वरूप यह दल कमजोर हो गया और इसका आकर्षण समाप्त हो गया।

साइमन कमीशन (1927)

सन् 1927 में ब्रिटिश सरकार ने भारतीय व्यवस्था में अन्य सुधारों के विषय में सिफारिश करने के लिए साइमन कमीशन की नियुक्ति की। कमीशन के उद्देश्य तथा सदस्यता से भारतीयों को बहुत क्षोभ हुआ और काँग्रेस, मुस्लिम लीग, हिन्दू महसभा और लिबरल फेडरेशन ने इसका बहिष्कार करने का निश्चय किया। 3 फरवरी, 1929 को जब यह कमीशन भारत पहुँचा तो सारे देश में हड़ताल मनाई गई। जगह-जगह पर इसके विरोध में जलूस निकाले गये। पुलिस ने आन्दोलनकर्त्ताओं के साथ कई जगह अमानुषिक व्यवहार किये। इस अवसर पर क्रान्तिकारी फिर से सक्रिय हो गये। सरदार भगत सिंह और बटु-केश्वर दत्त ने केन्द्रीय व्यवस्थापिका में बम विस्फोट किये। कमीशन ने इस वातावरण में अपनी जाँच-पड़ताल की और सन् 1930 में अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की।

नेहरू रिपोर्ट

साइमन कमीशन का सभी संगठनों ने बहिष्कार किया और उसका विरोध किया। ब्रिटिश सरकार ने साइमन कमीशन में भारतीयों को शामिल न करने का कारण उनके आपसी मतभेद बताया। लार्ड बर्केनहेड ने ब्रिटिश संसद् में कहा कि भारतीयों में साम्प्रदायिक मतभेद हैं और उसने चुनौती दी कि वे कोई ऐसा संविधान बनाकर दिखायें जो भारत के सभी वर्गो को मान्य हो। भारतीयों ने इस चुनौती को स्वीकार किया और फरवरी, 1928 को एक सर्वदलीय सम्मेलन बुलाया। भारतीय संविधान का प्रारूप तैयार करने के लिए नेहरू कमेटी का गठन किया गया। इसने तीन महीने के परिश्रम के बाद एक रिपोर्ट तैयार की। रिपोर्ट के मुख्य सुझाव निम्न प्रकार थे।

(i) भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य दिया जाये।

(ii) केन्द्र में पूर्ण उत्तरदायी शासन की स्थापना की जाये।

(iii) केन्द्र और प्रान्तों में शक्ति-विभाजन किया जाये।

(iv) प थक निर्वाचन के स्थान पर संयुक्त निर्वाचन के सिद्धान्त को अपनाया जाय और अल्पसंख्यक वर्ग के लिये सीटों को सुरक्षित किया जाये

(v) मौलिक अधिकारों को संविधान में स्थान दिया जाये, आदि।

नेहरू रिपोर्ट को विभिन्न राजनीतिक दलों के विभिन्न रूप में देखा। काँग्रेस के युवक दल ने 'औपनिवेशिक स्वराज्य' पर आपत्ति की। मि० जिन्ना इसे संशोधित करने की माँग कर रहे थे और उन्होंने विकल्प के रूप में 'चौदह सूत्रीय कार्यक्रम' दिया। राष्ट्रवादी मुसलमानों का एक गुट, जिसके नेता सर मुहम्मद शफी थे, इसे पूरी तरह अस्वीकार करना चाहता था। ब्रिटिश सरकार ने इसे अत्याधिक प्रगतिशील माना। फिर भी नेहरू रिपोर्ट भारतीय संविधानिक विकास के द ष्टिकोण से एक महत्वपूर्ण प्रलेख है। भारत का वर्तमान संविधान इस पर बहुत कुछ आधारित है।

राष्ट्रीय आन्दोलन में वामपंथी और समाजवादी विचारधाराओं का उदय

सन् 1927 से भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में समाजवादी और साम्यवादी संगठनों का उदय आरम्भ हुआ। समाजवादी विचारकों ने नेहरू रिपोर्ट की इस आधार पर आलोचना की कि उसमें पूर्ण स्वराज्य के लक्ष्य को छोड़ दिया गया है। 1928 और 1929 ई० में श्रमिक वर्ग में वर्ग-चेतना का विकास हुआ और उन्होंने राजनीतिक आन्दोलनों में अपने झण्डें और अपने नेता के नेत त्व में भाग लिया। इस प्रकार ये एक राजनीतिक इकाई का रूप लेने लगे। सन् 1928-29 में देशव्यापी श्रमिक आन्दोलन हुए।

1928 में कलकत्ता में काँग्रेस का अधिवेशन हुआ जिसमें सुभाष और जवाहरलाल नेहरू ने नेहरू रिपोर्ट में 'औपनिवेशिक स्वराज्य' पर आपत्ति उठाई और उसके स्थान पर पूर्ण स्वराज्य की माँग की। गाँधीजी द्वारा प्रयास करने पर निश्चित किया गया कि यदि ब्रिटिश सरकार नेहरू रिपोर्ट को पूरी तरह से स्वीकार नही करती तो काँग्रेस का उद्देश्य पूर्ण स्वराज्य घोषित

कर दिया जायेगा। इस अधिवेशन की सबसे आश्चर्यजनक घटना यह थी कि कलकत्ता की मिलों के करीब 50 हजार श्रमिक जलूस बनाकर अधिवेशन में आये, पडांल में लगभग दो घण्टे रहे और उन्होंने भारत के लिए पूर्ण स्वराज्य का प्रस्ताव पास किया। इसी समय में क षक और मजदूर पार्टी ने अपना अखिल भारतीय सम्मेलन कलकत्ता में किया और भारत के लिए पूर्ण स्वराज्य, देशी रियासतों की समाप्ति, जमीदारी प्रथा की समाप्ति मुख्य उद्योगों का राष्ट्रीयकरण और मजदूरों के काम करने का समय आठ घण्टे तथा अन्य माँगों के साथ प्रस्ताव पास किया।

सरकार ने इस प्रकार के आन्दोलनों को साम्राज्य के लिये बहुत बड़ा खतरा माना तथा इन्हें दबाने के लिए बहुत से कानून पास किये। 1929 में सरकार ने बहुत से लोगों को गिरफ्तार किया जिनमें सरदार भगतसिंह और दत्त की गिरफ्तारी उल्लेखनीयश है। इन्हें केन्द्रीय व्यवस्थापिका मे बम विस्फोट करने के अपराध मे गिरफ्तार किया गया। कलकत्ता में सुभाष चन्द्र बोस तथा काँग्रेसी नेताओं को गिरफ्तार किया गया।

संक्षेप में कह सकते हैं कि इस काल में देश का राजनीतिक वातावरण बहुत खराब था और काँग्रेस तथा अन्य समाजवादी एवं मजदूर संगठनों की निश्चित नीतियों से सरकार को बहुत अधिक परेशानी थी। वह दमनकारी नीति का अनुसरण कर रही थी। लार्ड इरविन ने यह तो घोषित किया कि भारत में औपनिवेशिक स्वराज्य प्रदान किया जायेगा किन्तु 23 दिसम्बर, 1929 को जब गाँधी अपने अन्य सहयोगियों के साथ लार्ड इरविन से मिले तो वह यह आश्वासन प्राप्त नहीं कर सके कि गोल मेज सम्मेलन में भारत के लिए औपनिवेशिक संविधान का निर्माण होगा। इससे भारतीय जनता को बड़ी निराशा हुई और सारे देश में विरोध की भावना फैल गई।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन

लाहौर अधिवेशन :

पं० जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में, एक उत्तेजनापूर्ण वातावरण में दिसम्बर 1929 को काँग्रेस का अधिवेशन आरम्भ हुआ। इसमें काँग्रेस ने अपना उद्देश्य पूर्ण स्वराज्य घोषित किया। काँग्रेस कार्यसमिति को सविनय अवज्ञा आन्दोलन आरम्भ करने का अधिकार दिया गया। यह भी निश्चित किया गया कि 26 जनवरी प्रतिवर्ष स्वतंत्रता दिवस के रूप में मनाया जाये।

आन्दोलन का आरम्भ :

काँग्रेस समिति ने आन्दोलन चलाने के पूरे अधिकार गाँधीजी को सौंप दिये। उन्होंने आन्दोलन का कार्यक्रम तैयार किया और 12 मार्च 1930 को साबरमती से समुद्र-तट के एक गाँव दंडी की नमक कानून तोड़ने के लिये यात्रा आरम्भ की। गाँधीजी के साथ 79 अन्य साथियों ने यात्रा में भाग लिया। इस यात्रा के परिणामस्वरूप भारतीयों में उत्तेजना बढ़ती जा रही थी और मनुष्यों के हृदय में देशप्रेम की भावना इतनी तेजी से बढ़ रही थी जितनी पहले कभी नहीं देखी गई। 9 अप्रैल को गाँधीजी ने देश के सामने निम्न कार्यक्रम रखा-

"प्रत्येक गाँव निषिद्ध नमक को प्राप्त करे या बनाये। बहनें शराब की दुकानों, अफीम के अड्डों और विदेशी वस्त्रों के विक्रेताओं के सामने धरना दें। विदेशी वस्त्र जलाये जायें। हिन्दू छुआछात छोड़ें। छात्र सरकारी स्कूलों को छोड़ दें और सरकारी नौकर अपनी नौकरी छोड़ दें।" 5 मई को गाँधीजी को गिरफ्तार कर लिया गया। आन्दोलन के कार्यक्रम में 'कर न देने' को भी शामिल कर लिया गया।

आन्दोलन की प्रगति :

सम्पूर्ण भारत में आन्दोलन की लपटें फैलने लगी। कार्यक्रम को पूरी तरह से लागू किया गया। कलकत्ता, बम्बई आदि अनेक स्थानों पर पूर्ण हड़ताल रही। स्त्रियों ने आन्दोलन में खुलकर भाग लिया। किसानों व मजदूरों ने कर न देना, कानून तोड़ना आरम्भ किया तथा हड़ताल आदि में खुले दिल से भाग लिया। गुजरात, मद्रास, पंजाब और यू० पी० में 'वन नियम' तथा 'कर देना' आदि का बहिष्कार पूरी तरह से किया गया। आन्दोलन अधिकाँश रूप में शान्तिपूर्ण रहा किन्तु कहीं-कहीं पर अप्रिय घटनाएँ भी हुई, जैसे चटगाँव में क्रांतिकारी व्यक्तियों ने पुलिस पर हमला बोल दिया, शोलापुर में पुलिस तथा आन्दोलनकर्त्ताओं में सघंर्ष हुआ। पेशावर में प्रदर्शनकारियों पर पुलिस ने गोली चलाई।

सरकार ने आन्दोलन को दबाने के लिये बहुत से कानून और अध्यादेश लागू किए। जलूसों और सभाओं को तितर-बितर करने के लिये पुलिस ने निर्ममता से लाठियाँ चलाई। बड़े पैमाने पर गिरफ्तारियाँ की गई। कर न देने वालों की सम्पति जब्त कर ली गई। औरतों को गिरफ्तार किया गया तथा उन पर जुल्म किये गये। काँग्रेस के अधिकांश नेताओं को जेलों में भेज दिया गया।

12 नवम्बर, 1930 को पहला गोल मेज सम्मेलन आरम्भ हुआ जिसमें काँग्रेस ने भाग नहीं लिया। सम्मेलन की समाप्ति पर ब्रिटिश सरकार ने आशा व्यक्त की कि दूसरे सम्मेलन में काँग्रेस भी आवश्यक रूप मे शामिल होगी। लार्ड इरविन ने जनवरी 1931 में गाँधीजी तथा काँग्रेस कार्यसमिति के अन्य सदस्यों को जेल से रिहा करने के आदेश दिये। गाँधीजी और वायसराय के बीच अच्छे वातावरण में वार्त्तालाप हुआ और दोनों के बीच एक समझौता हुआ जिसें गाँधी-इरिवन पैक्ट कहते हैं। इसके अनुसार सरकार ने स्वीकार किया कि वह दमन नीति बन्द करेगी, हिसांत्मक अपराधों के बंदियों के अलावा अन्य समस्त राजनीतिक बंदियों को मुक्त कर दिया जायेगा, जब्त की गई सम्पति वापस कर दी जायेगी और शराब, अफीम और विदेशी कपड़ों की दुकानों पर शान्तिपूर्वक पिकेटिंग करने की आज्ञा दी जायेगी। दूसरी और गाँधीजी ने स्वीकार किया कि वह आन्दोलन को स्थगित कर देंगे, गोल मेज सम्मेलन में भाग लेंगें और पुलिस की कार्यवाहियों की निष्पक्ष जाँच की माँग नहीं करेंगे। गाँधीजी ने यह भी स्वीकार किया कि वह भारत के हित में सरंक्षणों तथा रक्षा कवजों के सहित उत्तरदायित्व के आधार पर गोल मेज सम्मेलन में भाग लेने को तैयार हैं।

करांची अधिवेशन में इस समझौते को स्वीक ति दी गई। वामपंथी राष्ट्रीय नेताओं ने इसकी आलोचना की और कहा कि यह काँग्रेस के पूर्ण स्वराज्य के उद्देश्य का विरोध करता है। गाँधीजी की भी आलोचना की गई और उन्हें काले झण्डें दिखाये गये। काँग्रेस का नवयुवक वर्ग इसलिए नाराज था कि गाँधीजी सरदार भगतसिंह, सुखदेव और राजगुरू को नहीं बचा सके। करांची अधिवेशन में एक महत्वपूर्ण प्रस्ताव पास किया गया जिसके अन्तर्गत भारतीयों को नागरिक स्वतन्त्राएँ प्रदान किये जाने पर जोर दिया। प्रस्ताव में, मुख्य उद्योगों को राष्ट्रीयकरण, श्रमिकों को जीवन की उच्ति व्यवस्थाएँ, भूमि सुधार, निःशुल्क शिक्षा और वयस्क मताधिकार की माँगे शामिल थी।

गाँधीजी काँग्रेस की ओर से दूसरे गोल मेज सम्मेलन में भाग लेने के लिए लन्दन गये किन्तु वहाँ से खाली हाथ लौटें बम्बई लौटने पर उन्होंने देखा कि उनके समझौते की सभी शर्तो को सरकार ने तोड़ दिया था और भारत में दमन नीति का शासन चल रहा था। गाँधीजी ने वायसराय लार्ड विलिंगडन से मिलना चाहा किन्तु वायसराय ने मना कर दिया। गाँधीजी ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन को पुनः चलाने का निश्चय किया किन्तु इस बार सरकार पूरी तरह से तैयार थी। 4 जनवरी, 1932 को गाँधीजी को कुछ अन्य साथियों के साथ बन्दी बना लिया गया।

यद्यपि इस बार भी जनता ने पूरे जोश के साथ आन्दोलन चलाया और इतने लोगों ने भाग लिया जितना पहले कभी नही लिया था। किन्तु सरकार ने कठोर दमन चक्र से इसे दबा दिया। लगभग 80 हजार व्यक्तियों को गिरफ्तार किया गया। इसी बीच जुलाई में ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने साम्प्रदायिक निर्णय की घोषणा की जिसमें अल्पसंख्यकों के प थक निर्वाचन का सिद्धान्त स्वीकार किया गया था। गाँधीजी ने इसका विरोध किया क्योंकि यह भारतीय एकता के लिए हानिकारक था। उन्होंने आमरण अनशन आरम्भा किया। गाँधीजी की हालत खराब देखकर देश के नेताओं ने पूना में एक समझौता किया गया जिसे पूना पैक्ट कहा जाता है इसमें संयुक्त प्रतिनिधित्व को स्वीकार किया गया किन्तु सुरक्षित सीटों की संख्या बढ़ा दी गई। गाँधीजी ने मई 1933 में पुनः व्रत आरम्भ किया। सरकार ने गाँधीजी को मुक्त कर दिया और काँग्रेस ने गाँधीजी के व्रत के कारण सविनय अवज्ञा आन्दोलन समाप्त कर दिया।

राष्ट्रीय आन्दोलन का अन्तिम चरण (1935-1947)

1935 ई० में ब्रिटिश सरकार ने भारत सरकार अधिनियम पारित किया। यह अधिनियम ब्रिटिश शासन काल के इतिहास में सबसे महत्वपूर्ण और अन्तिम सांविधानिक कदम माना जाता है। भारत के वर्तमान संविधान में बहुत से उपबन्धों को तो 1935 के अधिनियम में वाक्यांशतः ले लिया गया है। इस अधिनियम ने भारत की शासन-व्यवस्था में बहुत से परिवर्तन किये, जैसे संघीय व्यवस्था, केन्द्र में द्वैध शासन, प्रान्तीय स्वराज्य और संघीय न्यायालय की स्थापना आदि।

भारत में अधिकांश राजनीतिक दल 1935 के अधिनियम के विरूद्ध थे फिर भी उन्होंने नई प्रान्तीय व्यवस्था को प्रयोग में लाने की स्वीक ति दे दी। काँग्रेस, मुस्लिम लीग तथा उदारवादियों ने इस विषय पर अपनी सहमति प्रकट की और चुनाव लड़ने की तैयारियाँ की।

सन् 1936 के लखनऊ अधिवेशन में पं० जवाहरलाल नेहरू ने भारत की स्वतंत्रता के लिये लड़ने वाली सभी शक्तियों का एक संयुक्त मोर्चा बनाने की अपील की। राष्ट्रीय आन्दोलन को जन-आधार प्रदान करने के उद्देश्य से उन्होंने ट्रेड यूनियन और किसान सभा को भी काँग्रेस से सम्बन्धित करने पर बल दिया। काँग्रेस ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया किन्तु जन-सम्पर्क बढ़ाने के लिये एक कमेटी का गठन किया गया। इस समय तक भारत में बहुत से प्रगतिशील संगठनों को जन्म मिल चुका था। काँग्रेस में से सोशलिस्ट पार्टी का जन्म हो चुका था। किसान सभा पहले ही बन चुकी थी जो क्रान्तिकारी सुधारों की माँग कर रही थी।

काँग्रेस ने लखनऊ अधिवेशन में चुनाव लड़ने की घोषणा की और उसी वर्ष दूसरा अधिवेशन बुला कर यह प्रस्ताव पारित किया कि वह प्रजातान्त्रिक राज्य की स्थापना चाहती है, 'जिसकी स्थापना वयस्क मताधिकार के आधार पर बुलाई हुई सांविधानिक सभा के द्वारा हो सकती है। काँग्रेस ने अपना चुनाव घोषण-पत्र घोषित किया जिसमे नागरिक अधिकार, स्त्री-पुरूष की समानता, भूमि-सुधार, राजस्व प्रणाली में सुधार, अनुत्पादक भूमि पर से लगान की छूट, सामाजिक और आर्थिक असमानता की समाप्ति, उद्योगों के श्रमिकों का जीवन-स्तर तथा कार्य करने का समय एवम् परिस्थितियाँ, कुटीर उद्योग-धन्धों का विकास, बड़े उद्योग-धन्धों को सरंक्षण आदि उद्देश्य निहित थे।

चुनाव में काँग्रेस को आशातीत सफलता प्राप्त हुई। छः प्रान्तों में उसे स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ और बंगाल तथा आसाम में सबसे बड़ी पार्टी के रूप में पहुँची। पद स्वीकार करने से पूर्व उसने सरकार से आश्वासन माँगा कि गवर्नर दिन प्रतिदिन के कार्यो में अनुचित दखल नहीं देंगे। वायसराय से अप्रत्यक्ष आश्वासन मिलने पर ही काँग्रेस ने प्रान्तों में मन्त्रि-मंडलों का गठन किया।

यदि 1937 और 1939 के बीच विभिन्न प्रान्तों में काँग्रेस सरकार के कार्यो का अध्ययन करें तो बहुत से ऐसे कार्य सामने आते हैं जो काँग्रेस नीति के विरूद्ध थे और जिन्हें स्वयं काँग्रेस ही बुरा समझती थी। इन कार्यो के लिये काँग्रेस सरकार की आलोचना की गई। मुस्लिम लीग ने भी काँग्रेस मन्त्रिमण्डलों की कटु-आलोचला की।

दूसरा महायुद्ध तथा सांविधानिक गतिरोध

3 सितम्बर, 1939 को दूसरा विश्वयुद्ध आरम्भ हो गया। भारत को युद्ध में शामिल घोषित कर दिया गया। काँग्रेस ने सरकार के इस कदम का विरोध किया और 14 सितम्बर को प्रस्ताव पास करके सरकार से युद्ध के उद्देश्यों की घोषणा करने का आग्रह किया। काँग्रेस ने भारत को स्वतंत्र देश बनाने की माँग की। उदारवादियों ने भी काँग्रेस की माँग का समर्थन किया और कहा कि वर्तमान केन्द्रीय सरकार को हटाकर उसके स्थान पर उत्तरदायी सरकार की स्थापना की जानी चाहिए।

काँग्रेस की माँगों का सरकार की तरफ से कोई उचित उत्तर नहीं मिला। 17 अक्टूबर के श्वेत पत्र में सरकार ने जो घोषणा की, उससे किसी को भी सन्तोष न हो सका। वायसराय के उत्तरों से निराश होकर काँग्रेस के मन्त्रिमंडलों ने त्यागपत्र दे दिये।

मार्च, 1940 में भारतीय राजनीति में एक मोड़ आया। मुस्लिम लीग ने दो राष्ट्र के सिद्धांत के आधार पर पाकिस्तान की माँग आरम्भ की। काँग्रेस ने दो शर्तो पर युद्ध में इंग्लैण्ड को सहायता देने का प्रस्ताव रखा, (क) युद्ध के बाद भारत को अपना शासन स्वंय चलाने का अधिकार दिया जाय, (ख) शीघ्र ही केन्द्र में एक अस्थाई राष्ट्रीय सरकार की स्थापना की जाय जिससे सभी राजनीतिक दलों के प्रतिनिधि भाग लें और जो केन्द्रीय व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी हो।

इंग्लैण्ड में मन्त्रिमण्डल में परिवर्तन हुआ। चेम्बरलेन के स्थान पर अनुदारवादी चर्चिल प्रधानमंत्री बने। वह भारत को स्वतंत्र बनाने के पक्ष में नहीं थे। उन्होंने कही कि "मैं ब्रिटिश साम्राज्य के विघटन पर अध्यक्षता करने के लिये ब्रिटिश प्रधानमंत्री नहीं बना हूँ।" इससे भारतीयों को बड़ी निराशा हुई। 8 अगस्त 1940 के प्रस्ताव में वायसराय ने भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य देने का ब्रिटिश सरकार का उद्देश्य घोषित किया और भारत के लिये संविधान निर्माण करने के लिए संविधान सभा की व्यवस्था

को स्वीकार किया। इनके अतिरिक्त वाससराय की कार्यकारिणी का विस्तार किया गया और यह स्पष्ट किया गया कि जब तक भारत के सभी राजनीतिक दल तैयार न हों तब तक ब्रिटिश सरकार किसी एक दल के हाथ में शासन सत्ता नहीं सौंपेगी।

अगस्त प्रस्ताव से काँग्रेस को बड़ी निराशा हुई और प्रतिक्रियास्वरूप व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आन्दोलन आरम्भ कर दिया। यद्यपि आन्दोलन पूरी तरह से शान्तिपूर्ण था फिर भी सरकार ने दमन की नीति अपनाई और लगभग 25 हजार भारतीयों को बन्दीं बनाया गया। किन्तु दिसम्बर 1941 में युद्ध का रूख ब्रिटेन के खिलाफ हो गया और जापान विजय प्राप्त करता हुआ भारत के दरवाजों पर पहुँच गया। भारतीयों को सन्तुष्ट करने के लिए सरकार ने सभी बन्दियों को रिहा कर दिया। काँग्रेस ने समयानुसार प्रस्ताव पास करके अपना आन्दोलन वापस ले लिया।

क्रिप्स मिशन :

युद्ध की स्थिति बिगडनें में और आस्ट्रेलिया, चीन और अमेरिका द्वारा ब्रिटेन पर दबाव देने से ब्रिटिश सरकार ने भारतीय सांविधानिक गतिरोध को दूर करने को क्रिप्स मिशन भारत भेजा। क्रिप्स मिशन ने भारत आकर सभी राजनीतिक दलों से विचार-विमर्श किया और अपने प्रस्ताव सामने रखे। विभिन्न राजनीतिक दलों ने अपने-अपने द ष्टिकोण के आधार पर प्रस्तावों को ठुकरा दिया। काँग्रेस का विचार था कि इन प्रस्तावों से भारतीय एकता को खतरा पैदा हो सकता है क्योंकि प्रान्तों को संघ छोड़ने का अधिकार दिया गया था। प्रस्तावित संघ में देशी रियासतों को शामिल किया गया था और प्रतिरक्षा का भार भी अभी ब्रिटिश सरकार अपने ही हाथों में रखना चाहती थी। हिन्दू महा सभा तथा सिक्खों ने इन्हें इसलिये अस्वीकार कर दिया कि इसमें अप्रत्यक्ष रूप से पाकिस्तान का विचार निहित था। मुस्लिम लीग प्रस्तावों को स्वीकार करना चाहती थी किन्तु जब काँग्रेस ने इन्हें अस्वीकार कर दिया तो उसने भी उन्हें ठुकरा दिया। 11 अप्रैल 1942 को क्रिप्स मिशन ने इन प्रस्तावों को वापस ले लिया।

भारत छोड़ो आन्दोलन :

जिस नाटकीय तरीके से क्रिप्स प्रस्ताव वापस लिये गये उससे भारतीय स्तम्भित और ठगे से रह गये। ब्रिटिश संसद में जिस प्रकार के विचार व्यक्त किये गये उनसे ब्रिटिश सरकार के इरादे स्पष्ट हो गये और यह जाहिर हो गया कि यह सब एक राजनीतिक चाल थी। इससे भारतीयों में निराशा और खिन्नता की भावना पैदा हुई। यह देश के लिये बहुत ही संकट का समय था क्योंकि देश की सीमाओं पर जापान पहुँचा हुआ था और देशवासियों में उदासीनता तथा निष्क्रियता फैली हुई थी। इस हालत में देश के सामने कोई नया प्रोग्राम रखना बहुत ही जरूरी था। वह कार्य गाँधीजी ने किया और देश को एक नया जीवन प्रदान किया। उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्य का अन्त करने के लियें अंग्रेजों से भारत छोडने को कहा। गाँधीजी इस नतीजे पर पहुँच चुके थे कि भारत में ब्रिटिश शासन तुरन्त समाप्त होना चाहिए। लुई फिशर से गाँधीजी ने कहा था कि "There is no half way house between withdrawal and non-withdrawal" उन्होंने स्पष्ट किया कि भारत छोड़ने से तात्पर्य सत्ता छोड़ने से है।

भारत छोड़ो प्रस्ताव :

8 अगस्त 1942 को बम्बई में अखिल भारतीय काँग्रेस समिति ने भारत छोड़ो प्रस्ताव स्वीकार किया। प्रस्ताव में ब्रिटिश शासन को तुरन्त समाप्त करने और भारत को स्वतंत्रत करने की माँग की गई। एक अस्थाई सरकार की व्यवस्था की गई जो भारत की सुरक्षा का प्रबन्ध करेगी। अस्थाई सरकार संविधान सभा की व्यवस्था करेगी जो भारत के लिये संविधान का निर्माण करेगी। भारत में संघीय व्यवस्था की जायेगी जिसमें अवशिष्ट शक्तियाँ प्रान्तों को दी जायेंगी। अन्त में प्रस्ताव द्वारा गाँधीजी की अहिंसात्मक तरीके से जन आन्दोलन चलाने का अधिकार दिया गया।

गाँधीजी ने स्पष्ट किया कि यह आन्दोलन 'करो या मरो' का संघर्ष है किन्तु हर हालत में यह शान्तिपूर्ण रहेगा। वह संघर्ष आरम्भ करने से पूर्व वायसराय से मिलना चाहते थे किन्तु उसने समय देने से मना कर दिया। सरकार दमन के लिये तैयार थी। 9 अगस्त की सुबह ही गाँधीजी और उनके साथियों को गिरफ्तार कर लिया गया। काँग्रेस संस्था को अवैध घोषित किया गया और सभी बड़े नेताओं को जगह-जगह पर गिरफ्तार कर लिया गया।

नेताओं को बन्दी बनाने से और सरकार की दमन नीति से जनता में विद्रोह की भावना फैल गई। जगह-जगह पर

छात्रों, मजदूरों, दुकानदारों और स्त्रियों ने जलूस निकाले। विद्रोही जनता ने रेलवे और पुलिस थानों को आग लगा दी तथा आवागमन के साधनों की तोड़-फोड़ की। पुलिस ने जलूसों पर गोलियाँ चलाई और कई स्थानों पर हवाई जहाजों से मशीन गनों से गोलियों की बौछार की गई। संक्षेप में कह सकते हैं कि आन्दोलन को कुचलने के लिये सरकार ने सभी अमानुषिक तरीको को अपनाया। फिर भी सतारा और मिदनापुर में ब्रिटिश शासन को समाप्त करके भारतीयों ने अपनी सरकार की स्थापना की। श्रमिक वर्ग ने भी इसमें पूरा भाग लिया। टाटा आइरन एण्ड स्टील वर्क्स के सभी कर्मचारी 14 दिन तक हड़ताल पर रहे। जयप्रकाश नारायण, राम मनोहर लोहिया और अरूणा आसफ अली जैसे नेताओं ने छुपकर आन्दोलन को चलाया।

सरकार ने सभी हिसांत्मक कार्यो के लिए कॉंग्रेस को दोषी ठहराया। चर्चिल ने संसद् में घोषित किया कि कॉंग्रेस ने शान्तिपूर्ण नीति को त्याग कर क्रान्तिकारी नीति को अपना लिया है। गॉंधीजी ने इसकी निष्पक्ष जॉंच करने की मॉंग की जिसे सरकार ने ठुकरा दिया। परिणामस्वरूप गॉंधीजी ने 21 दिन का उपवास शुरू कर दिया। सारे देश को इस व्रत से परेशानी पैदा हुई क्योंकि गॉंधीजी शारीरिक रूप से बहुत ही कमजोर थे किन्तु उन्होंने उपवास सफलतापूर्वक पूरा किया। जब सरकार ने देखा कि उन्हें रिहा करने से कोई खतरा नहीं है तो 9 मई, 1944 को उन्हें रिहा करने का आदेश दिया।

वैवल योजना :

सन् 1945 में ब्रिटिश सरकार ने भारत में सांविधानिक गतिरोध को समाप्त करने के लिए एक और प्रयास किया। इस समय तक यूरोप में युद्ध समाप्त हो गया था किन्तु जापान से युद्ध जारी रहने की सम्भावना बनी हुई थी। दूसरे, ब्रिटेन में आम चुनाव होने थे जिसमें मजदूर दल के जीतने की आशा थी। चर्चिल ने जनमत को अपने पक्ष में करने के लिए वैवेल योजना का सहारा लेना चाहा। लार्ड वैवेल 4 जून, 1945 को भारत पहुँचे और दस दिन बाद उन्होंने अपने सुझाव पेश किये जो निम्नलिखित हैं-

(i) वायसराय की कौंसिल का पूर्ण गठन किया जायेगा जिसमें वायसराय और कमाण्डर-इन-चीफ को छोड़ कर शेष सभी सदस्य भारतीय होंगे।

(ii) कौंसिल में भारत के प्रमुख साम्प्रदायों का प्रतिनिधित्व होगा और इसमें सवर्ण हिन्दू और मुस्लिम बराबर संख्या में होंगे।

(iii) विदेशी मामलों का विभाग भारतीयों के पास होगा।

(iv) भारत में एक ब्रिटिश हाई कमिश्नर की नियुक्ति होगी, आदि।

लगभग सभी राजनीति दलों ने इस योजना को स्वीकार किया और भारतीय नेताओं से विचार-विमर्श करने के लिए वायसराय ने एक सम्मेलन शिमला में बुलाया। यद्यपि सम्मेलन बहुत अच्छे वातावरण में आरम्भ हुआ किन्तु वायसराय की कौंसिल में मुस्लिम प्रतिनिधियों की नियुक्ति के विषय में कॉंग्रेस और मुस्लिम लीग में मतभेद हो गया। मुस्लिम लीग सभी मुस्लिम सदस्यों की नियुक्ति स्वंय करना चाहती थी। फलस्वरूप यह योजना असफल हो गई।

केबिनेट मिशन :

सन् 1946 में भारत के राजनीतिक एवम् संवैधानिक गतिरोध का हल निकालने का अन्तिम प्रयास आरम्भ हुआ। इंग्लैण्ड में चुनाव हो चुके थे और प्रधानमंत्री एटली ने संसद् के निम्न सदन में घोषित किया कि भारत को स्वतंत्रता प्रदान की जायेगी और किसी अल्पसंख्यक दल को भारतीय राजनीतिक प्रगति में बाधा नहीं डालने दी जायेगी। उन्होंने केबिनेट मिशन की नियुक्ति की घोषणा की।

23 मार्च, 1946 को मिशन भारत पहुँचा और भारतीय नेताओं से विचार-विमर्श करके 16 मई, 1946 को अपने प्रस्ताव प्रस्तुत किये, जिसमें मुख्य बातें इस प्रकार थी - (i) पाकिस्तान के विचार की अस्वीक ति, (ii) भारत को संघ बनाने का प्रस्ताव, (iii) भारत के लिये संविधान बनाने के लिए सांविधानिक सभा की व्यवस्था, (iv) अन्तरिम सरकार की स्थापना जिसमें मुख्य राजनीतिक दलों का प्रतिनिधित्व हो, (v) प्रान्तों को ग्रुपों में बॉंटना आदि।

कॉंग्रेस और मुस्लिम लीग ने इस योजना को स्वीकार किया। संविधान सभा के चुनाव कराये गये और अन्तिम सरकार बनाने के प्रयास किए गये। संविधान सभा में कॉंग्रेस की स्थिति देखकर मि० जिन्ना को अधिक निराशा हुई। दूसरे लार्ड वैवेल

ने केवल मुस्लिम लीग के सहयोग से सरकार बनाने से मना कर दिया था। अतः लीग ने नाराज होकर मिशन योजना के सम्बन्ध में दी हुई स्वीक ति वापस ले ली और पाकिस्तान की माँग को मनवाने के लिए सीधे कार्यवाही का विचार अपनाया।

14 अगस्त, 1946 को वायसराय ने पं० जवाहरलाल नेहरू को अन्तरिम सरकार बनाने के लिए बुलाया। लीग ने सीधी कार्यवाही का मार्ग अपनाया जिससे कलकत्ता में हजारों आदमी मारे गए। परिणामस्वरूप अन्य कई स्थानो ंपर साम्प्रदायिक दंगे हुए। लार्ड वैवेल मुस्लिम लीग को मन्त्रिमण्डल में शामिल करने के प्रयास करते रहे। मि० जित्रा ने अन्त में आकर सरकार में लीग को शामिल करने की बात को स्वीकार कर लिया और पाँच सदस्यों को मनोनीत करके भेजा। इन सदस्यों ने काँग्रेस के साथ सहयोग नहीं किया जिससे अन्तरिम सरकार में गतिरोध पैदा हो गया। ब्रिटेन में प्रधानमंत्री ने घोषणा की कि वह जून, 1948 तक भारत का शासन जिम्मेदार भारतीयों को सौंपना चाहते हैं। यदि मुस्लिम लीग सांविधानिक सभा में शामिल नहीं होती तो देखना यह होगा कि केन्द्रीय सरकार का प्रबन्ध किसकों सौंपा जाय। इस घोषणा से मि० जित्रा बहुत उत्साहित हुए और उन्हें पाकिस्तान बनने का स्वप्न साकार नजर आने लगा।

माऊंटबेटन की योजना 1947

लार्ड वैवेल के स्थान पर लार्ड माऊंटबेटन भारत के वायसराय बने। भारत पहुँचने पर इन्होंने देखा कि देश के कई भागों में साम्प्रदायिक दंगे बड़े जोरों से चल रहे हैं और गतिरोध के कारण सरकार असफल है। भारतीयों से विचार विमर्श करने के बाद उनके सामने इस समस्या को हल करने के केवल दो ही रास्ते आये-या तो भारत का विभाजन या फिर उसे अराजकता में छोड़ दिया जाय। चूँकि अराजकता में छोड़ने से ग हयुद्ध भड़क सकता था इसलिए उन्होंने काँग्रेस नेताओं को समझा कर देश के विभाजन के लिए तैयार कर लिया। वायसराय ने देश के विभाजन की योजना तैयार करके ब्रिटिश सरकार की स्वीक ति के लिए इंग्लैण्ड भेज दी और वहाँ से स्वीक ति मिलने पर भारत में घोषित कर दी। इस योजना को भारत के सभी राजनीतिक संगठनों ने स्वीकार कर लिया।

माऊंटबेटन योजना स्वीक त हो जाने के बाद ब्रिटिश सरकार ने भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम 1947 पारित किया जिसके द्वारा व्यवस्था की गई कि 15 अगस्त सन् 1947 को दो स्वतन्त्र अधिराज्यों की स्थापना की जायेगी जिनके नाम भारत और पाकिस्तान होंगे। इस प्रकार एक लम्बे सघंर्ष के बाद 15 अगस्त, 1947 को भारत ब्रिटिश साम्राज्य का शासन समाप्त हो गया।

अध्याय-2
संवैधानिक विकास
(Constitutional Development)

अग्रेंज भारत में व्यापार करने के लिए आये लेकिन शासन करने के लिए ठहर गये। भारत में अग्रेंजों का उद्देश्य क्षेत्र विस्तार का नही अपितु व्यापारिक था। वे इग्लैंड के लोगों को भारत में बसाने की अपेक्षा भारत का आर्थिक शोषण करना चाहते थे क्योंकि अपने लोगों को बसाने के लिए उनके पास दुनिया में और भी बहुत से स्थान थे।

भारतीय राजनीतिक नेता व अर्थशास्त्री जिनमें प्रमुख श्री आर॰ सी॰ दत्त, दादा भाई नौरोजी, न्यायमूति एम॰ जी॰ रानाडे तथा गोपाल क ष्ण गोखले जैसे अनुभवी नेता थे, अग्रेंजों के साम्राज्यवादी द ष्टिकोण को समझ गए तथा इसका प्रचार देशवासियों में किया। गोपालक ष्ण गोखले ने समझाया कि अग्रेंजी के साम्राज्यवाद का वास्तविक उद्देश्य भारतीय साधनों व कच्चे माल को भारत से ले जाकर इग्लैंड पहुंचाना है। भारत में अग्रेंजी शासन व अग्रेंजी व्यापार पारस्परिक हितों पर आधारित नही था बल्कि उसकी आधारशिला अग्रेंजों की उन्नति व भारतीयों का आर्थिक शोषण थी। दादा भाई नौरोजी ने बडी सफाई से संकेतित किया था कि भारतीय विश्व सबसे ज्यादा निर्धन है और इस निर्धनता का कारण है ब्रिटिश शासन।

न्यायमूर्ति रानाड़े ने अग्रेंजी साम्राज्य की प्रशंसा की तथा इसे दैवी क पा कहा। लेकिन वे अच्छी तरह समझते थे कि अग्रेंजी साम्राज्यवाद की मुख्य प्रव ति भारत का आर्थिक शौषण थी। इसीलिए उन्होंने अग्रेंजों की हस्ताक्षेप न करने की नीति (Laisseing-Faire) तथा उन्मुक्त व्यापार (Free Trade) के सिधान्त को स्वीकार नही किया। उन्होंने 'भारतीय अर्थव्यवस्था' पर लिखे अपने एक लेख में विचार व्यक्त किया कि जो वस्तु इंग्लैड के लिए अच्छी है वह भारत के लिए विष ही हो सकती है। उनका मानना था कि अग्रेंजों की 'हस्ताक्षेप न करने की नीति' तथा 'उन्मुक्त व्यापार' के सिधान्त ने भारतीय अर्थव्यवस्था को नष्ट कर दिया था। इसलिए उन्होंने अग्रेंजों से यह मांग की कि वे 'हस्ताक्षेप न करने की नीति' एवम् 'उन्मुक्त व्यापार' के सिधान्त को छोड दे तथा इसके स्थान पर कल्याणकारी राज्य (Welfare State) के सिधान्त को अपनायें।

एक विचारधारा यह भी प्रचलित है कि अग्रेंजी शासन को भारत के आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक विकास का श्रेय जाता है। यह कहा जाता है कि अग्रेंजी शासन भारत के आधुनिकीकरण का यन्त्र था। लेकिन सच्चाई बिल्कूल अलग है।

आधुनिकीकरण (Modernistation) तथा साम्राज्यवाद (Imperialism) दोनों प्रथक हैं। फिर भी अग्रेंजी शासन ने यदि भारत के आधुनिकीकरण अथवा विकास में सहयोग दिया है तो वह केवल संयोगवश हुआ क्योंकि अग्रेंजी शासन भारत के विकास के लिए स्थापित नही किया गया था। अग्रेंजों का वास्तविक उद्देश्य भारत का आर्थिक शोषण था। उनका उद्देश्य तानाशाही साम्राज्वाद (Autocratic Imperialism) था लेकिन उन्होंने इस उद्देश्य को चातुर्य के साथ संविधानावाद के पर्दे से ढांप रखा था।

अग्रेंजी निरकुंश साम्राज्यवाद ने अपनी आर्थिक शोषण की प्रव ति पर सरचनात्मक (Structural) तथा संगठनात्मक (Organisational) आवरण डालने का प्रयत्न किया था। लेकिन इस आवरण द्वारा अग्रेंजों का निजि स्वार्थ व भारत का शोषण छुप नही पाया। भारतीय संवैधानिक विकास (Constitutional growth) को इस सन्दर्भ में ही देखा जाना चाहिये।

भारतीय संवैधानिक विकास का प्रारम्भ मुख्यतः 1773 ई॰ में हुआ जब ब्रिटिश संसद ने रेगुलेटिंग एक्ट (Regulating Act) पास किया। यह भारत में अग्रेंजी प्रशासन पर अंग्रेजी संसद के नियन्त्रण की पहली किस्त थी।

सन् 1858 के एक्ट द्वारा कोर्ट आफ डायरैक्टर (Court of Director) तथा बोर्ड आफ कन्ट्रोल (Board of Control) को समाप्त कर दिया। इस एक्ट द्वारा यह स्पष्ट किया गया कि भारत का शासन अग्रेंज सप्रभु (English Sovereign) के नाम से तथा अग्रेंज सप्रभु द्वारा चलाया जायेगा। 1858 में साम्राज्ञी विक्टोरिया ने घोषणा की (Proclamation of Queen Victoria):

हम भारतवासियों एवं भारतीय क्षेत्र के प्रति उसी प्रकार वचनबद्ध है जिस प्रकार हम अपनी अग्रेंज प्रजा से बंधे हुए हैं। हम यह विश्वास दिलाते है कि भगवान के आर्शीवाद से हम द ढता से अपने कर्त्तव्य का पालन करेगें।

सन् 1861 के संसदीय एक्ट द्वारा विद्यायी विकेन्द्रीकरण (legislative Decentralisation) का सूत्रपात हुआ। सन् 1892 के संसदीय अधिनियम द्वारा विधान परिषद की सदस्य संख्या तथा उसके कार्यो में व द्धि की गई। जब लार्ड मिन्टो भारत के गर्वनर जनरल बन कर आए तथा लार्ड मोर्ले भारत मंत्री (Secretary of state for India) बने तो इससे भारत के नर्मदल वाले नेता बहुत प्रसन्न हुए। उन लोगों का विचार था कि उसमें भारतीयों के साथ अग्रेंजों के सम्बन्धें में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होगें। विकेन्द्रीकरण के लिए एक शाही आयोग (Royal Commission) की नियुक्ति की गई। बहुत से प्रमुख भारतीय नेता इस आयोग के सम्मुख पेश हुये। गोपाल क ष्ण गोखले ने भारतीय राष्ट्रीय काग्रेंस के विचार मॉले के सम्मुख रखे। सन् 1908 में ब्रिटिश संसद में एक बिल पेश किया गया तथा मई 1909 में मिन्टो मॉले सुधार किये जिसे 1909 अधिनियम (1909 Act) कहते हैं।

सन् 1909 अधिनियम के अधीन गैरसरकारी सदस्यों की संख्या लगभग दौगुनी हो गई। फिर भी गर्वनर जनरल की विधान परिषद (Legistative Council of Governor-General) में सरकारी बहुमत रहा लेकिन प्रान्तीय विधान परिषदों में गैर-सरकारी सदस्यों का बहुमत हो गया। इस अधिनियम ने प्रत्यक्ष निर्वाचन के सिधान्त को अस्वीकार कर दिया।

अग्रेंजी निरकुंश साम्राज्यवाद पर पर्दा डालने की द ष्टि से 1909 का अधिनियम 1892 के अधिनियम से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं लेकिन फिर भी भारतीय राष्ट्रवादियों ने 1909 के अधिनियम की कटु आलोचना की। उग्रवादी वर्ग का विचार था कि 1909 अधिनियम अग्रेंजी साम्राज्यवाद को फैलाने की ओर अधिक शरारतपूर्ण कदम था क्योंकि इस अधिनियम ने सम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व (Communal representation) तथा प्रथक प्रतिनिधित्व (Seperate Electrate) की स्थापना की। यह सच है कि नर्मदल को लार्ड मॉले से बहुत आशा थी परन्तु जब अधिनियम की धाराएँ सामने आई तो उनकी आशाएँ छिन भिन्न हो गई। भारतीय राष्ट्रीय काग्रेंस ने निम्नलिखित कारणों से इस अधिनियम की आलोचना की:-

1. प्रत्यक्ष चुनाव की अपेक्षा अप्रत्यक्ष चुनाव की स्थापना।
2. संकीर्ण तथा सीमित मताधिकार की स्थापना। विधान परिषदों के कार्य-क्षेत्रों में विस्तार किया गया लेकिन विधायी तथा वित्तीय मामलो में उन्हें कोई वास्तविक अधिकार प्राप्त नही था।
3. केन्द्रीय प्रशासन पहले की भांति सर्वोच्च तथा शक्तिशाली बना रहा।
4. भारतीय राष्ट्रवादियों की मांग भारत के लिए प्रजातन्त्रिय उत्तरदायी सरकार की स्थापना थी। लेकिन अग्रेंजी साम्राज्य के स्वरूप के अनुसार इस मांग को स्वीकार नही किया जा सकता था। हमें यह याद रखना चाहिए कि अग्रेंजों को अपना निरकुंश साम्राज्यवादी उद्देश्य छिपाने के लिए एक आवरण चाहिए था। वे भारत में अग्रेंजी शासन के मौलिक स्वरूप को बदलने के इच्छुक नही थे। इसीलिये लार्ड मोर्ले जैसे उदारवादी अग्रेंज ने स्वंय ही स्पष्ट किया कि उन्हें ऐसे भारतीय सुधारों से कुछ नही लेना जो भारत में संसदीय प्रणाली की स्थापना से सम्बन्ध रखते हो। वे सच कहते थे क्योंकि भारत में अग्रेंजी शासन के मौलिक स्वरूप को बदलने का उन्हें कोई अधिकार प्राप्त नही था।
5. अधिनियम का उद्देश्य अग्रेंजी सत्ता को द ढ़ बनाना था।

इस अधिनियम द्वारा अग्रेंजी सिद्धान्त 'बाटों और राज्य करों' (Divide and Rule) के सिद्धान्त को विधायी रूप दिया गया। भारतीय समुदाय को बांटने के लिए साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व तथा प्रथक निर्वाचन मण्डल का सूत्रपात किया गया। श्रीमती मिन्टों ने अपनी पुस्तक " भारत, मिन्टों तथा मोर्ले (India, Minto and Morley) में लिखा है कि प्रथक निर्वाचन क्षेत्रों की मांग गोपाल क ष्ण गोखले द्वारा की गयी थी। लार्ड मॉले ने केवल उस मांग को स्वीकार किया था। यहाँ यह कहना आवश्यक है कि गोपाल क ष्ण गोखले ने केवल संयुक्त प्रतिनिधित्व (Joint Electorates) की मांग की थी न कि प थक प्रतिनिधित्व की, लेकिन अग्रेंज अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए प थक प्रतिनिधित्व को लागू करने की जिद् पकड़े हुए थे। श्री गोखले का उद्देश्य साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व व प थक प्रतिनिधित्व दोनों द्वारा अग्रेंजी शासन को भारत में द ढ़ करना नही बल्कि सुयंक्त निर्वाचन (Joint Electorates) के द्वारा भारत में अग्रेंजी प्रभाव को कम करना

था।

प्रथम विश्व युद्ध के समय अग्रेंजी शासकों को भारतीय सहयोग की अत्यन्त आवश्यकता थी। भारतीय राष्ट्रीय जनमत अग्रेंजों के प्रति कटु था। अग्रेंज अपनी आवश्यकता के कारण इस कटुता को कम करना चाहते थे। इसी उद्देश्य से भारत मन्त्री ने 20 अगस्त 1917 को कामन्स सभा (House of Commons) में यह घोषणा की:

"सम्राट की सरकार भारतीयों को प्रशासन के प्रत्येक पक्ष में सम्बन्धित करना चाहती है ताकी स्वशासन सहयोग का अधिक से अधिक विकास हो सके और भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तगर्त एक उत्तरदायी सरकार की स्थापना की जा सके।"

प्रथम विश्व युद्ध के समाप्त होने पर अग्रेंज शासकों ने मोनटेक (Montaque) घोषणा का पालन करने का प्रयत्न किया। इस कारण 1919 का अधिनियम (Govt. of India Act 1919) पास किया गया। इस अधिनियम की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार थी:-

1. स्थानीय प्रशासन में जहाँ तक सम्भव हो जनता का नियन्त्रण होगा।
2. प्रान्तों में द्वैध शासन (Dyarchy) की स्थापना की गई।
3. भारतीय विधान परिषद (Indian Legistative council) का विकास किया गया तथा इसमें गैर-सरकारी तत्वों में बढोतरी की गई।

भारतीय राष्ट्रीय काग्रेंस ने इस अधिनियम का विरोध किया। वैसे इस संस्था में आपसी मतभेद भी था महात्मागाँधी इस अधिनियम के विपक्ष में कुछ नही करना चाहते थे। (Swarajists) स्वराज्य दल वाले इस अधिनियम के बहुत विरोधी थे फिर भी उन्होंने इसी अधिनियिम के आधार पर चुनाव लडे। उनका उद्देश्य विधान परिषद् के लिए चुनाव लडना और विधान परिषदों में स्थान प्राप्त करना नही था। अपितु वे तो परिषदों को भीतर से नष्ट करना चाहते थे।

1919 अधिनियम की असफलता लगभग निश्चित थी तथा द्वैध शासन भी असफल ही होना था क्योंकि इस अधिनियम में न तो उत्तरदायी सरकार की स्थापना की गई और न ही अग्रेंजी शासन के स्वरूप में कोई मौलिक परिवर्तन किया। सर अलैकजन्डर मुडीर्मन (Alxander Muddiman) के नत त्व में एक सरकारी समिति भी इस निर्ष्कध पर पहुंची की प्रान्तों में द्वैध शासन (Dyarch) असफल रहा। उन्होंने इसके लिए अपनी विचारधारा के अनुसार कुछ कारण दिये। लेकिन सबसे प्रमुख असफलता का कारण यह था कि 1919 के अधिनियम द्वारा भारतीय राष्ट्रीय जनमत को उत्तरदायी सरकार (Responsible Government) प्रदान करने अथवा भारत में अग्रेंजी शासन के स्वरूप में मौलिक परिवर्तन करने का कोई प्रयत्न नही किया गया था। 1927 में अग्रेंजी सरकार ने 'साइमन आयोग' की नियुक्ति की घोषणा की। इसका उद्देश्य यह जानना था कि भारत में उत्तरदायी सरकार की स्थापना के सिद्धान्त को किस सीमा तक लागू किया जाये। भारतीय राष्ट्रीय जनमत यह जानता था कि कोई भी अग्रेंजी आयोग भारत को उत्तरदायी सरकार देने में सहमत नही होगा। क्योंकि इससे अग्रेंजी शासन के स्वरूप में मौलिक परिवर्तन होगा। इसलिए 'साईमन कमीशन' का बहिष्कार किया गया। इस कमीशन के विरोध में मोतीलाल नेहरू कमेटी की स्थापना की गई। यह कमेटी भारतीय मत का प्रतिनिधित्व करती थी। इसे आल-पार्टी कमेटी (All-Party committee) भी कहा जाता हैं क्योंकि इस कमेटी को अलग-2 राजनीतिक दलों तथा राजनीतिक गुटों का समर्थन प्राप्त था। नेहरू कमेटी का प्रमुख सुझाव था सत्ता का अग्रेंजो से भारतीयों को स्थानान्तरण करना अर्थात अग्रेंज भारत की सत्ता भारतीय को सौंप दें। इस समिति का यह भी सुझाव था कि भारत में एकात्मक शासन की स्थापना की जाए जिसमें आन्तरिक समस्याओं-जैसे धर्म, भाषा, जाति, आदि की समस्याओं का समाधान हो सकें।

साइमन कमीशन की असफलता के पश्चात् अग्रेंजी सरकार विश्व तथा भारतीय जनता को दिखाने के लिए एक 'गोलमेज सम्मेलन' (Round-Table conference) चतुराई से बुलाना चाहती थी ताकि भारतीय जनता यह समझे कि अग्रेंज वास्त्व में भारतीय राजनीतिक नेताओं से बातचीत द्वारा समस्या का हल निकलाने का प्रयत्न कर रहे है। पहला 'गोलमेज सम्मेलन' असफल रहा क्योंकि महात्मागाँधी जैसे नेता इस प्रकार की बातचीत में दिलचस्पी नही ले रहे थे। गाँधी जी उस समय 'सविनय

अवज्ञा आन्दोलन' (Civil Disobedience Movement) द्वारा अग्रेंजों के विरोध में अपना रोष प्रकट कर रहे थे। 'गाँधी-इरविन समझौते' के फलस्वरूप गाँधी जी द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने के लिए सहमत हो गए। इस सम्मेलन में भारतीय राष्ट्रीय मत की संघात्मक सरकार बनाने की मांग को स्वीकार कर लिया गया। लेकिन भारतीयों की प्रमुख मांग अर्थात सत्ता का भारतीय हाथों में सौपा जाना, स्वीकार नही किया गया। इस प्रमुख मांग का न माना जाना ही दूसरे गोलमेज सम्मेलन की असफलता का मुख्य कारण थी। अग्रेंजी सरकार का भारत में अपना शासन द ढ़ करने में अगला कदम 'साम्प्रदायिक अवार्ड' (Communal Award) था। इसके द्वारा अग्रेंजो ने 'बाटों और राज्य करो' की नीति का विस्तार करने हेतु साम्प्रदायिक अवार्ड का जाल हरिजनों तक फैलाया। महात्मागाँधी अग्रेंजों की शरारत को समझ गए तथा आमरण अनशन की घोषणा की। पूना समझौते (Poona Pact) द्वारा निर्णय हुआ और परिणाम स्वरूप गाँधी जी ने अपना व्रत तोड़ा तथा अग्रेंजों को ऐसी शरारत करने से रोका।

अग्रेंजी सरकार ने 1933 में एक 'श्वेतपत्र' (White Paper) छापा। इस पत्र में अग्रेंजों ने भारतीय संवैधानिक विकास के तीन प्रमुख आधारभूत सिद्धान्त बताए। वे सिद्धान्त हैंः-

1. संघीय सरकार की स्थापना
2. प्रान्तीय स्वायतत्ता
3. केन्द्रीय व प्रान्तीय कार्यपालिकाओं को अल्पसंख्यकों के बारे में विशेष उत्तरदायित्व देना।

जब इस श्वेत पत्र के विरोध में असन्तोष व्यक्त हुआ तो अग्रेंज सरकार ने एक सुयंक्त प्रवर समिति (Joint select committe) की नियुक्ति की इस सीमित की रिपोर्ट के आधार पर भारतीय सरकार अधिनियम 1935 (Government of India Act 1935) बनाया गया।

1935 अधिनियम के अनुसार भारत में संघीय सरकार स्थापित करने का प्रवाधन था। इस संघीय सरकार में केवल अग्रेंजी सरकार के अधीन क्षेत्र ही शामिल नही थे अपितु भारतीय रियासतें भी इसमें शमिल थी। भारतीय रियासतें एक दस्तावेज 'इन्स्टूरूमेंट आफ अैकसैशन (Instrument of Accession) के आधार पर संघ में शामिल होनी थी। केन्द्र में इस अधिनियम द्वारा द्वैध शासन को लागू किया गया। इस द्वैध शासन की असफलता लगभग निश्चित थी क्योंकि जिस प्रकार यह शासन प्रान्तों में सफल नही हो पाया उससे इसके केन्द्र में भी सफल होने की संभावना धूमिल थी। इस अधिनियम के अनुसार गर्वनर-जनरल भारत में किसी के प्रति उतरदायी नही था। वह केवल भारतमन्त्री द्वारा अग्रेंजी क्राउन के प्रति उत्तरदायी था। इसके अतिरिक्त गर्वनर-जनरल को बहुत अधिक शक्तियां प्रदान की गई जैसे रक्षा, वैदेशिक सम्बन्ध धार्मिक मामलें तथा कबीलों से सम्बन्धित शासन पर तो स्वविवेकी अधिकार (Discretion) प्राप्त था कि वह उन विषयों पर इच्छानुसार शासन कर सकता था। लेकिन कुछ विषयों पर उसे मंत्रियों के परामर्श से शासन करना था। यहाँ पर एक अपवाद था। जब वह व्यक्तिगत निर्णय का प्रयोग करता था तब वह मंत्रियों की सलाह मानने को बाध्य नही था।

अग्रेंज लेखक ए॰बी॰ कीथ ने भी स्वीकार किया है कि इन विशेष उत्तरदायित्वों का क्षेत्र इतना व्यापक था कि सम्पूर्ण शासन-व्यवस्था ही उसमें आ जाती थी और गर्वनर जनरल सभी हस्तान्तरित विषयों में भी हस्ताक्षेप कर सकता था तथा मंत्रियों के उत्तरदायित्व को नष्ट कर सकता था। वास्त्व में अग्रेंजों का उद्देश्य उत्तरदायी सरकार की स्थापना करना नही था। अग्रेंजों को अपने निरकुंश साम्राज्यवाद को ढकने के लिए एक आवरण की आवश्यकता थी। इसीलिए संघीय शासन को कभी भी लागू नही किया गया। 1935 के अधिनियम द्वारा तथाकथित केन्द्रीय विधानमण्डल कभी स्थापित नही हो पाया। इस अधिनियम द्वारा एक संघीय न्यायालय की व्यवस्था की गयी। इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि आधुनिक सर्वोच्य न्यायालय की स्थापना इसी संघीय न्यायालय के आधार पर की गयी।

यह सत्य है कि 1935 अधिनियम द्वारा संघ की स्थापना का सुझाव रखा गया लेकिन उसे लागू नही किया गया। फिर भी स्वतन्त्र भारत का संविधान बनाते समय 1935 अधिनियम के संघीय सुझाव ने बहुत सहायता की तथा आधुनिक संघ का ढांचा उसी सुझाव पर आधारित है। 1935 अधिनियम ने आधुनिक संविधान के ढांचे एवं शब्दावली आदि के मामले में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

प्रान्तीय स्वायत्तता की स्थापना इस अधिनियम की एक ओर महत्वपूर्ण विशेषता थी। संयुक्त प्रवर समिति का प्रांतीय स्वायता के बारे में कथन था कि इस योजना द्वारा प्रांतों को कार्यपालिका एवं एक विधानमण्डल प्रदान किया जाएगा जिसका निश्चित क्षेत्र होगा तथा जो अधिकतर केन्द्रीय सरकार व केन्द्रीय विधानमण्डल से स्वतन्त्र होगा। यद्यपि ब्रिटिश सरकार का उद्देश्य प्रांतो में प्रान्तीय स्वायत्तता की स्थापना करना था लेकिन इस अधिनियम द्वारा जो स्वायत्तता स्थापित की गयी वह वास्तव में प्रांतो की स्वायत्तता नही अपितु गर्वनर की स्वायत्तता थी।

यह सत्य है कि प्रान्त के अध्यक्ष (गर्वनर) को एक संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में कार्य करना चाहिये था। गर्वनर की सहायता (Aid and Advice) के लिए एक मंत्रीमण्डल की स्थापना की गई थी। लेकिन इसके साथ-साथ को स्वविवकी शक्तियाँ (Discretionary Powers) प्रदान की गई। स्वविवेकी शक्तियों का तात्पर्य यह था कि गर्वनर के द्वारा इन शक्तियों का प्रयोग मंत्रियों के परामर्श के बिना ही अपने विवेक के अनुसार किया जाना था। एक इन्सट्रूमैंट आफ इन्सटरकसन (Instrument of Instruction) भी गर्वनर को दिया गया।

1935 अधिनियम के अनुसार प्रान्तीय स्वायत्तता को लागू किया गया। काग्रेंस महासमिति की बैठक हुई जिसमें यह निश्चय किया गया कि जिन प्रांतो में काग्रेंस को बहुमत प्राप्त हो उनमें तभी मन्त्रिमण्डल बनाए जायें जब गवर्नर उनके कार्यो में हस्ताक्षेप न करे तथा मंत्रीमण्डल के परामर्श से कार्य करे व एक संवैधानिक अध्यक्ष बने रहने का वचन दे। लेकिन कुछ समय बाद 1937 में गर्वनर-जनरल ने यह आश्वासन दिया कि गर्वनर अपनी विशेष स्वविवेकी शक्तियों का प्रयोग मंत्रियों के दैनिक कार्यो में नही करेगें। 1937 में प्रान्तों में काग्रेंसी मंत्रीमण्डल बनाये गये।

1939 में द्वितीय विश्व युद्ध के समय अग्रेंजों ने भारत की ओर से युद्ध की घोषणा कर दी। काग्रेंसी मंत्रियों ने विरोध से अपने पद त्याग दिये। जिसे पहले प्रान्तों की उत्तरदायी सरकार कहा जाता था वह फिर गर्वनरों की स्वायत्तता हो गई।

साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली (Communal Representation) 1935 अधिनियम के अर्न्तगत लागू की गई। साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के लिए प्रमुख समुदाय मुस्लिम, सिक्ख, 'एंग्लो इंडियन', 'भारतीय ईसाई' तथा यूरोपियन' थे। विशेष हित्तों जैसे उद्योग, वाणिज्य, जमीदारों, विश्वविद्यालयों तथा मजदूर वर्गो को विशेष प्रतिनिधित्व दिया गया। कुछ स्थान स्त्रीयों वे पिछड़ी जातियों के लिए सुरक्षित रखे गए। मताधिकार में व द्धि की गई लेकिन फिर भी केवल 14 प्रतिशत जनता का मताधिकार प्राप्त था।

माउण्ट बैटन योजना के आधार पर राष्ट्र को भारत और पाकिस्तान जैसे दो भागों में बाँट दिया गया। 3 जून 1947 को ब्रिटेन के प्रधानमंत्री ऐटली ने घोषणा की कि भारत व पाकिस्तान स्वतन्त्र प्रभुत्व सम्पन्न राष्ट्र होगें तथा इस घोषणा के आधार पर भारत 15 अगस्त 1947 को एक प्रभुसता सम्पनन राष्ट्र बना।

अध्याय-3
राजनीतिक विरासतें
(Legacies)

प्रो० मैरिस जोन्स अपनी पुस्तक 'भारतीय शासन एवं राजनीति' के प्रथम अध्याय में कुछ विरासतों का वर्णन करते है। उनके अनुसार भारतवर्ष की एक विशेषता यह रही है कि यहाँ पर निरन्तरता (Continuity) और परिवर्तन (Change) के बीच तालमेल बैठाने की कोशिश की जाती रही है। भारतवर्ष की जो आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था है उसमें भी कुछ बातें नई है तो कुछ बाते हमने अपने इतिहास से राजनीतिक विरासत के रूप में पायी हैं। इन विरासतों को प्रो० मैरिस जोन्स चार शीर्षकों (i) सरकार (ii) राष्ट्रीय आन्दोलन (iii) बीच बचाव करने वाली सस्थाँए एवं (iv) समस्याँए और वायदे के अर्न्तगत वर्णन करते हैं।

(ii) **सरकार :** प्रो० जोन्स के अनुसार सबसे पहली विरासत यह है कि जब भारत स्वतन्त्र हुआ उस समय भारत की अधिकांश जनता सरकार के महत्त्व को समझती थी। यह बात इतनी साधारण नही जितनी लगती है क्योंकि अफ्रीका और एशिया के काफी देश ऐसे रहे है कि जहाँ आजादी मिली लेकिन वहाँ की आम जनता सरकार के महत्त्व को नही समझती थी और आजादी मिलने पर सरकार को चलाना ऐसे देशो में मुश्किल हो गया था। विशेष बात यह है कि भारतीय लोग सरकार की इज्जत करते थे और यह मानते थे कि सरकार का होना आवश्यक है और उसका शक्तिशाली होना भी आवश्यक है। लोग सरकार को अपना सरंक्षक मानते थे और यह भी समझते थे कि जब शक्तिशाली सरकार होगी तभी इस देश में कानून और व्यवस्था (Law and order) की स्थिति रह सकेगी। लोग एक शक्तिशाली सरकार ही नही बल्कि एक शक्तिशली केन्द्रीय सरकार का महत्त्व समझते थे। इस बात के साथ भारत को अग्रेंजी शासन से करने के यन्त्र, राजकरने की विधि और वे संगठन एवं कर्मचारी भी मिले तथा वे तरीके भी मिले जिनके द्वारा अग्रेंज भारत में राज करते थे। नौकरशाही भी अग्रेंजी की देन है। इसे नौकरशाही का ढाँचा पूर्णतया पदसोपान (Hierarchical) था। इन्डियन सिविल सर्विस (Indian civil service) सबसे पुरानी और सबसे श्रेष्ठ सर्विस थी और नौकरशाही का सारा कार्य इस सर्विस के हुकम से होता था। हमारी आजादी की लडाई में हमारे देश के नेता इस नौकरशाही के बहुत बडे विरोधी थे। आमतौर पर यह नौकरशाही ही राष्ट्रीय आन्दोलन को कुचलने की कोशिश करती थी। इसलिए हमारे देश में नौकरशाही के लिए और विशेषतौर पर आई॰सी॰एस॰ (I.C.S.) के प्रति घ णा का भाव रहा। हमारी संविधान सभा ने भी काफी बार सदस्यों ने नौकरशाही और आई॰सी॰एस॰ की बुराई की। लेकिन सरदार बल्लभ भाई पटेल जो उस समय ग हमन्त्री थे इस बात को जानते थे कि आई॰सी॰एस॰ के बिना देश को शासन चलाना एक असम्भव बात होगी। इसलिए 1949 में उन्होंने संविधान सभा में कहा, "मैनें इस कठिन समय में उनके साथ काम किया है..... अगर इन्हे हटा दिया गया तो मेरे विचार से ..... अराजकता कि स्थिति उत्पन्न हो जाएगी।

संघीय व्यवस्था की मांग हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन में की गई थी। लेकिन 1935 के एक्ट में इस व्यवस्था को अग्रेंजो ने शामिल कर लिया था। सच तो यह है कि इस अधिनियम का भारत के राजनीतिक विकास में विशेष योगदान रहा। हमारे संविधान पर इस अधिनियम का प्रभाव बहुत ज्यादा हैं। प्रो० जोन्स के अनुसार इस एक्ट ने भारत के राजनीतिक विकास में तीन योगदान दिएः-

(क) प्रान्तों में पूर्ण उत्तरदायी सरकारों की स्थापना की जिनमें व्यापक तरीकों से शक्तियों का विभाजन था। यह शक्तियों का विभाजन हमारे वर्तमान संविधान से काफी मिलता जुलता है।

(ख) एक संघीय न्यायालय की स्थापना की जो वर्तमान सर्वोच्य न्यायालय के लिए एक विरासत थी।

(ग) 1935 के एक्ट ममें 451 धारायें थी जिन्होंने वर्तमान संविधान के लिए एक नमूने का काम किया और एक बुनियादी ढाँचा पेश किया। यद्यपि वर्तमान संविधान में 1935 के एक्ट में से कुछ बात हटा दी गई और कुछ नयी बातें जोड

दी गई फिर भी इस एक्ट की महत्वपूर्ण भूमिका रही।

(ii) राष्ट्रीय आन्दोलनः हमें कुछ बातें ब्रिटिश सरकार से विरासत में मिली है और उससे भी ज्यादा बातें अपने राष्ट्रीय आन्दोलन से मिली। प्रो० मैरिस जोन्स के अनुसार, आधुनिक भारत की राजनीति का स्वरूप इन दोनों विरासतों के बीच होने वाली अन्तः क्रिया (Interaction) का ही परिणाम है। भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रमुख भाग इन्डियन नेशनल काग्रेंस यहां तक कि राष्ट्रीय आन्दोलन और इन्डियन नैशनल कॉंग्रेस एक ही बात मानी जाती रही। शायद इसीलिए गाँधी जी ने कहा था कि आजादी के बाद काग्रेंस की अब कोई जरूरत नही और उसे तोड़ कर नया रूप दिया जाए। लेकिन काग्रेंस पार्टी एक ऐसी विरासत थी जिसको स्वाधीन भारत के नेता किसी हालत में भी छोड नही सकते थे। यह एक राष्ट्रीय संगठन था जोकि अग्रेंजी राज की भांति सारे राष्ट्र में फैला हुआ था जैसे अग्रेंजी राज में शक्ति केन्द्रित थी वैसे ही काग्रेंस पार्टी में भी सारी शक्तियाँ इसकी ' हाई कमांड' (High command) में केन्द्रित थी। यह हाई कमांड समय-समय पर अरिवल भारतीय काग्रेंस कमेटी के सम्मेलनों और काग्रेंस के पूर्ण अधिवेशनों की योजना बनाती थी। इन सम्मेलनों व अधिवेशनों के बीच की अवधि में इसे पूर्ण अधिकार प्राप्त होता था हाई कंमाड का निर्णय काग्रेंस के सब लोग मानते थे। गांधी जी तो अक्सर कहा करते थे कि हमारा राजनीतिक संगठन एक सभा की भांति होना जरूरी है इस पार्टी का ढांचा ऐसा था कि अलग-अलग विचारों को व्यक्त करने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी और उन्हें ध्यानपूर्वक सुना भी जाता था लेकिन नीति निर्माण का काम केवल कुछ बडे नेता ही करते थे और झगड़ों का निपटारा भी यही नेता करते थे। आज की हमारी दलीय व्यवस्था में ये सभी बातें निरन्तर बनी हुई है। राष्ट्रीय आन्दोलन जो काग्रेंस की भूमिका और कार्यप्रणाली थी वही हमें विरासत में मिली है। स्वतन्त्रता के पहले से ही काग्रेंस में दो प्रकार के संगठनों में झगड़ा भी चालू हो गया था। एक संगठन उन लोगों का था जो सरकारी पदों या विधानमण्डलों में कार्य कर रहे थे। दूसरे वे लोग थे जो केवल काग्रेंस के संगठन में ही कार्य कर रहे थे। स्वतन्त्रता प्राप्ती से पहले पार्टी के संसदीय पक्ष (Parliamentary Wing) को दल की सर्वोच्चता माननी पड़ी थी। स्वतन्त्रता के बाद इस स्थिति में मूलभुत परिवर्तन आया। अब तो संसदीय पक्ष (Parliamentary Wing) ही ज्यादा शक्तिशाली उभर आया। लेकिन फिर भी ऐसी स्थितियाँ और समय जरूर आए जब पार्टी की सर्वोच्चता कुछ समय के लिए स्थापित हुई जैसे कि कामराज योजना के समय पार्टी को फिर से महत्त्वपूर्ण बनाया गया था। काग्रेंस पार्टी ने अपने सदस्यों को अनुशासन की शिक्षा दी तथा यह भी हिदायत दी की कि एक दल को सारे देश की बात सोचनी चाहिए और एक राजनीतिक दल क्षेत्रीय दल नही हो सकता। इसका नेत त्व भी अखिल भारतीय नेत त्व रहा।

(iii) बीच बचाव करने वाली संस्थाए :- प्रो० मौरिस जोन्स उन सस्थाओं का वर्णन करते है जो ब्रिटिश शासनकाल में दो विरोधी ताकतों, अग्रेंजी सरकार तथा राष्ट्रीय आन्दोलनकारी, के बीच बीचबचाव का काम करती थी। इन संस्थाओं में प्रो० जोन्स व्यवसायिक समूह जैसे प्रोफेसर, डाक्टर, वकील आदि को शामिल करते है। उनका कहना है कि इन लोगों ने अग्रेंजों से उनकी कानून व्यवस्था, अग्रेंजी साहित्य, इग्लैंड का इतिहास और अग्रेंजो की दूसरी, मान्यताओं को विरासत में पाया। ये वही लोग थे जो राष्ट्रीय आन्दोलन में भी प्रमुख भूमिका अदा कर रहे थे। इसलिए इन लोगों में दोनों विरासतों का मिश्रण देखा जा सकता था।

दूसरी संस्था जो इस प्रकार की बीच-बचाव करने वाली संस्था कही जा सकती है वह भी भारत की विधान सभाएँ। इन विधानसभाओं में सरकार और राष्ट्रीय आन्दोलनकारी के बीच टक्कर होती थी। इन संस्थाओं में अग्रेंज और उनके चापलूस अधिक थे लकिन राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रतिनिधित्व करने वाले लोग भी विधानसभाओं में आ रहे थे। अग्रेंजो का अपना स्वार्थ था जो वे इन संस्थाओं द्वारा पूरा करना चाहते थे। साम्राज्यवाद को इन संस्थाओं से ढक देना चाहते थे। लेकिन इन संस्थाआ ंसे भारत की आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था को बहुत सारी बातें विरासत में मिली। संविधान सभा ने जो संसदीय प्रणाली अपनाने का निर्णय किया उसका सबसे बड़ा कारण यह था कि हमें जो इन संस्थाओं में अनुभव प्राप्त हुआ था उसको हम खोना नही चाहते थे। एक तीसरी महत्वपूर्ण संस्था जिसको प्रो० जोन्स इस श्रेणी में शामिल करते है वह थी विधि प्रणाली और न्यायपालिका। इग्लैंड की सामान्य विधि (Common Law) भी विरासत में मिली। भारतीय आदलतों का ढांचा, विधि प्रणाली तथा न्यायपालिका के प्रति हमारे नेताओं में काफी श्रद्धा और सम्मान था। आज भी जो न्यायपालिका के लिए सर्वसम्मत सम्मान देखने को मिलता है उसमें हमारे इतिहास की भूमिका काफी महत्त्वपूर्ण है।

(iv) समस्याएँ और वायदे : राष्ट्रीय आन्दोलन के समय हमारे नेताओं ने काफी उम्मीदे जगायी थी और कुछ वायदे भी किये थे। जब एक सस्था केवल आन्दोलन कर रही होती है तो वायदे करना बहुत आसान होता है। जब वही संस्था शासन संभालती है तो उसी के द्वारा किए गए वायदे समस्याएँ बन जाती हैं। आज के भारत में जो असीमित उम्मीदें जगी हुई नजर आई है, वे हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन की देन हैं। राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान हर बात अग्रेंज सरकार नाम पर थोप दी जाती थी और ऐसा आभास कराया गया कि इनके जाते ही हमारे सारे सपने पूरे हो जायेगें मानों हमें स्वंग में रहने को मिल जायेगा। यही असीमित जगी हुई उम्मीदें आज हमारी राजनीतिक व्यवस्था को तोडने तक को हो रही हैं।

जो समस्या भाषायी पुनःगर्ठन (Linguistic Reorganisation) की स्वतंत्रता के बाद उठी, वह भी हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन की देन थी क्योंकि राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान भाषा के भाव (Sentiment) का खूब इस्तेमाल हुआ था और उद्दला था। इसीलिए स्वतन्त्रता के बाद देश का भाषा के आधार पर वितरण (Linguistic Distribution) करना पड़ा। स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले काग्रेंस ही एक प्रमुख राजनैतिक दल था। लोगों को आदत पड़ गयी थी कि इसे ही अपने राष्ट्रीय हितों का प्रतिनिधि माना। स्वतन्त्रता के बाद इस दल की स्थिति में काफी उत्तार चढाव आए और कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन भी हुए। लेकिन जो दलीय व्यवस्था हमारे देश में काफी समय तक बनी रही और जैसे काग्रेंस दल की प्रमुखता बनी रही। वह भी हमें विरासत में मिली है। आन्दोलन के दौरान हमारे जो गर्म दल के नेता थे उन्होंने खुले तौर पर गैर-संवैधानिक तरीकों पर जोर दिया था। उन्होंने असहयोग और निष्क्रिय विरोध (Non co-operation & Passive Resistance) की बात की थी। गांधी जी स्वंय तो बडे संविधानवादी थे उनका सत्याग्रह निर्ष्कय विरोधी नही था। लेकिन आजाद भारत में जो ' प्रत्यक्ष कार्य' (Direct Action) की बात चलती रहती है वह भी हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन की विरासत कही जायेगी क्योंकि आज जो लोग 'प्रत्यक्ष कार्य' की बात करते हैं। वे गांधी जी और गर्म दलों के नेताओं के भाषणों का अपने पक्ष में प्रयोग करते हैं। 'प्रत्यक्ष कार्य' या गैर संवैधानिक तरीकें तो बिल्कुल आखिर के तरीके होते है। लेकिन स्वतन्त्र भारत में इनका असीमित प्रयोग किया जाता रहा है। यहाँ तक की अब तो गैर-संवैधानिक तरीकें भी महत्त्वहीन जा रहे हैं।

अध्याय-4
भारतीय संविधान का निर्माणःपरिपेक्ष्य एवम् विचारधारा
(Framing of India's Constitution : Perspective and Idelogy.)

1789 में क्रान्तिकारी फ्रांस ने क्रांति के सम्पन्न होने के बाद जो पहला कार्य किया वह था संविधान सभा की स्थापना। उस समय से लेकर संविधान सभा का विचार प्रत्येक राष्ट्रीय आंदोलन के साथ किसी न किसी रूप में जुडा हुआ है। भारत में भी संविधान सभा की मांग राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान की गई थी।

भारत के संविधान का निर्माण संवैधानिक सभा द्वारा किया गया था जो कि अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित की गई थी। संविधान सभा ने दिंसम्बर 9, 1946 को काम प्रारम्भ किया। संविधान सभा का निर्माण, देश की जनता की आशाओं और राष्ट्रीय आंदोलन की मांग, भारतीय संविधान का निर्माण ब्रिटिश संसद नही बल्कि भारत की जनता द्वारा चुने गये प्रतिनिधि करेगें, की परिकाष्ठा थी। जनता का आह्वान करते हुए गाँधी जी ने 1921 में कहा था कि भारतीय जनता को ही अपने भविष्य का निर्णय करना चाहिए। 1922 में उन्होंने यह घोषणा भी की थी कि स्वराज ब्रिटिश संसद का तोहफा नही होगा। यह तो भारतीय जनता द्वारा चुने गये प्रतिनिधियों की आंकाशा से पैदा होगा।

साइमन कमीशन की नियुक्ति के विरोध में नेहरू समिति का गठन किया गया। इस समिति में भारत के विभिन्न राजनीतिक दल एवं संगठन शामिल हुए। प० मोती लाल नेहरू इस समिति के अध्यक्ष थे। इस समिति को स्वतन्त्र भारत के संविधान को तैयार करने का काम सौंपा गया। दिसम्बर 1929 में काग्रेंस के लाहौर अधिवेशन में पूर्ण स्वतन्त्रता का प्रस्ताव पारित किया गया। इसके बाद संवैधानिक सभा की मांग जोर पकड़ने लगी। 1934 में जब ब्रिटेन की संसद द्वारा भारत सरकार अधिनियम को अंतिम रूप दिया जा रहा था उस समय भी काग्रेंस ने संविधान सभा की मांग की। भारत सरकार अधिनियम 1935 के आधार पर चुनी गयी प्रान्तीय विधान सभाओं ने 1937 में एक प्रस्ताव पास किया। इस प्रस्ताव में यह मांग की गई थी कि भारत सरकार अधिनियम, 1935 भारतीय जनता की इच्छाओं का प्रतिनिधित्व नही करता। इसलिए इस ऐक्ट को रद्द कर दिया जाए। इसके स्थान पर वयस्क मताधिकार के आधार पर चुनी गई संविधान सभा द्वारा तैयार भारत का संविधान लागू किया जाए।

क्रिप्स मिशन प्रस्ताव के जरिये से ब्रिटिश सरकार ने पहली बार भारत के स्वंतन्त्रा के अधिकार तथा अपना संविधान स्वंय तैयार करने के अधिकार को मान्यता दी। 16 मई 1946 की कैबिनेट मिशन योजना के अन्तर्गत भारतीयों की संविधान सभा के 381 सदस्यों को चुना जाना था। ये सदस्य भारत के सभी प्रान्तों व भारतीय रियासतों का प्रतिनिधित्व करेगें। योजना के मुताबिक हर 10 लाख की आबादी पर संविधान सभा का काम सारे भारत के लिए एक संविधान तैयार करना था।

कैबिनेट मिशन योजना के अर्न्तगत संविधान सभा के सदस्य समानुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर अप्रत्यक्ष चुनाव द्वारा चुने जाने थे। इन सदस्यों का चुनाव प्रांतीय विधान-मण्डलों को करना था। प्रांतीय विधान मंडलों का चुनाव भी सीमित मताधिकार के आधार पर किया गया था। इसमें वयस्क जनता का लगभग 20-24 प्रतिशत भाग ही शामिल था। भारतीय जन संख्या का यह छोटा सा हिस्सा देश में राजनीतिक तौर पर सबसे अधिक जागरूक हिस्सा था। जनमत निर्माण पर भी इस छोटे से हिस्से का महत्त्वपूर्ण प्रभाव था। मूलरूप से इस संविधान सभा को सम्पूर्ण भारतीय उपमहाद्वीप के लिए संविधान बनाने का काम सौंपा गया था। लेकिन ऐसा नही हो पाया। मुस्लिम लीग ने देश के बंटवारे से पहले ही संविधान सभा का बहिष्कार

कर दिया। 1947 में ब्रिटिश संसद ने भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम पास किया। इसके अन्तर्गत भारत का विभाजन हुआ। भारत तथा पाकिस्तान नामक दो स्वतन्ा देशों का जन्म हुआ। पाकिस्तान में शामिल क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करने वाले सदस्यों को छोड़कर, बाकी सदस्यों ने भारतीय संविधान सभा का गठन किया। संविधान सभा के सदस्यों की संख्या बदलती रही। इसका कारण था भारतीय रियासतों का भारतीय संघ में विलय होना। नवम्बर 1948 में संविधान सभा में 324 सदस्य थे। जिनमें से 232 सदस्य भारतीय प्रांतो से थे। इन 232 सदस्यों में से 197 सामान्य श्रेणी के 4 सिक्ख व 31 मुसलमान थे। 1945 के चुनाव में काग्रेंस को भारी बहुमत प्राप्त हुआ। यहाँ पर यह बताना आवश्यक है कि काग्रेंस की यह स्थिति पाकिस्तान में शामिल होने वाले क्षेत्रों से बाहर के क्षेत्रों में थी। अतः भारतीय संविधान सभा में काग्रेंस का वर्चरूव था। भारत की संविधान सभा में डिप्रेस्ड क्लासेज लीग, अखिल भारतीय अनुसूचित जाति संघ ऑल इंडिया वुमेन्स काफ्रैंस, ऑल इन्डिया लैंड होलडर्स कानफ्रैंस, आल इंडिया लिबरल फडटरेशन फ्रंट जैसे दलों व संगठनों को भी प्रतिनिधित्व मिला था। संविधान सभा में कुछ मार्क्सवादी भी शामिल थे लेकिन भारतीय साम्यवादी दल अथवा सोशलिस्ट पार्टी का कोई प्रतिनिधि इसमें शामिल नहीं था। विभाजन से पहले की संविधान सभा में एक साम्यवादी दल को सदस्य था लेकिन विभाजन के कारण उसे अपनी सीट गवानी पडी। जहाँ तक सोशलिस्ट पार्टी का सम्बन्ध है, आजादी से पहले यह काग्रेंस में काग्रेंस सोशलिस्ट पार्टी समूह के रूप में शामिल थी। लेकिन 1946 में सोशलिस्ट पार्टी ने कैबिनेट मिशन योजना के अनुसार संविधान सभा में शामिल होने से इन्कार कर दिया था। एक साल बाद इस समूह के नेता जयप्रकाश नारायण ने नेहरू को पत्र लिखकर कहा कि बदले हुए हालात में अगर आंमत्रित किया जाये तो सोशलिस्ट सदस्य संविधान सभा में शामिल हो सकते हैं। लेकिन नेहरू का कहना था कि संविधान सभा में स्थान खाली नही थे। परिणाम स्वरूप 1946 में समाजवादी, काग्रेंस से अलग हो गये और उन्होंने सोशलिस्ट पार्टी का गठन किया। इस पार्टी ने संविधान सभा को भंगकर वयस्क मताधिकार के आधार पर फिर से इसके सदस्यों का चुनाव करवाने की मांग की एक महत्त्वपूर्ण तथ्य जिसका यहाँ जिक्र करना आवश्यक है वह यह है कि हालांकि संविधान सभा में अधिकांश सदस्य काग्रेंस के थे लेकिन पार्टी के निचले स्तर के कार्यकत्ताओं को जगह नहीं मिल पायी थी।

जाति के आधार पर देखा जाए तो संविधान सभा में 83 प्रतिशत सदस्य हिन्दु थे। इनमें से 45 प्रतिशत सदस्य ब्राहमण थे जो जमींदार घरानों से सम्बन्ध रखते थे। हिन्दु सदस्यों में से 10 प्रतिशत मारवाडी या बनिया थे। इनमें से 13 प्रतिशत कायस्थ थे। कायस्थ सदस्यों में अधिकांश डाक्टर या वकील थे। इनमें से 6 प्रतिशत राजपूत थे। जिनका सम्बन्ध जमींदार वर्ग से था। कुल मिलाकर संविधान सभा के 74 प्रतिशत सदस्य उच्च वर्ग के थे। मराठा, पटीदार, व दक्षिण भारत की गैर-ब्राह्मण जातियों का अनुपात 18 प्रतिशत था। संविधान सभा में 6 प्रतिशत सदस्य अनुसूचित जातियों व जनजातियों से थे।

संविधान सभा के अधिकांश सदस्य मध्य वर्ग से थे ये लोग अग्रेंजी माध्यम से शिक्षित थे। 20 वीं शताब्दी में यूरोप के अनुभव के आधार पर इस वर्ग में एक क्रांतिकारी सामाजिक द ष्टिकोण उत्पन्न हुआ था। संविधान सभा के प्रमुख 20 सदस्यों के बारे में यह बात बिल्कुल सच थी। इनमें से सभी विश्वविद्यालय के स्नात्तक थे, जबकि चार लोगों ने विदेशी विश्वविद्यालयों से स्नात्तक की डिग्री हासिल की थी। इनमें से 12 लोग ऐसे थे जो वकालत के पेशे से जुडे हुए थे या वकालत की डिग्री ले चुके थे। अन्य लोगों में एक डाक्टर व एक व्यवसायी भी शामिल थे। इनमें से दो मुसलमान, एक क्रिशचियन और शेष हिन्दु थे। इन 20 लोगों में 9 ब्राह्मण थे, डा० अम्बेडकर अनुसूचित जाति से थे। इन 20 सदस्यों के इलावा एक अन्य प्रमुख व्यक्ति बी॰एन॰ राऊ थे, जो संविधान सभा के सदस्य तो नही थे, मगर इसकी आंतरिक परिषद् के साथ सलाहकर के रूप में जुडे हुये थे। श्री राऊ एक कानूनविद, वकील और जज के रूप में प्रसिद्ध थे।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि संविधान सभा भारत की जनता का सही प्रतिनिधित्व नही करती थी। केवल 20-24 प्रतिशत जनता ही इसमें वोट दे पाती थी। संविधान सभा का चुनाव अप्रत्यक्ष रूप से हुआ। इस सभा को कुछ सदस्यों का चुनाव ही नही हुआ था। ये भारतीय रियासतों के मनोनीत सदस्यों के रूप में सविधान सभा में शामिल किये गये थे। संविधान सभा में काग्रेंस का वर्चस्व था। इस सभा में 20 लोगों की प्रमुख भूमिका रही।

वैचारिक प ष्ठभूमि :

काग्रेंस पार्टी का संविधान सभा में दो-तिहाई बहुमत था। इस पार्टी में फैसले लेने का अधिकार पार्टी हाई कमान को था। इस हाई कमान में नेहरू, पटेल और राजेन्द्र प्रसाद का महत्त्वपूर्ण नियन्त्रण था। संविधान सभा देशा की जनता की आशाओं

व आंकाक्षाओं से परिचित थी। स्वतन्त्रता आन्दोलन ने देश के विभिन्न वर्गो व समूहों में काग्रेंस के सामाजिक आधार को मजबूत बनाया था। विशेष तौर पर 1920 के बाद जब गाँधी जी ने काग्रेंस का नेत त्व किया। अब काग्रेंस ने ग्रामीण इलाकों की जनता को इक्कठा करना शुरू किया। काग्रेंस नेत त्व में छोटे शहरों व ग्रामीण इलाकों के कार्यकत्ताओं की भूमिका महत्त्वपूर्ण हो उठी थी।

इसका परिणाम यह हुआ कि काग्रेंस का राष्ट्रीय नेत त्व एक द्वंद में फंस गया। एक तरफ काग्रेंस पर व्यापारियों, वकीलों एंव् जमीदारों का नियन्त्रण था तो दूसरी तरफ यह दल जनता का हिमायती होने का दावा करती थी। काग्रेंस नेत त्व का एक वर्ग इस बदलाव के प्रति काफी सचेत था। नेहरू के शब्दों में "हमारा आर्थिक व सामाजिक ढांचा अब बेकार हो चुका है और यह जरूरी है कि इस ढांचे का पुनर्गठन किया जाए ताकि देश की जनता के भौतिक व आध्यात्मिक उत्थान का माध्यम बन सके। हमें एक ऐसे सामाजिक दर्शन का निर्माण करना है जो इस ढांचे मे मूलभूत बदलाव लाए। हमें एक ऐसे समाज का निर्माण करना है जहाँ निजि लाभ व व्यक्तिगत लालच का कोई स्थान न हो और जहाँ आर्थिक व राजनीतिक अधिकारों का उचित वितरण हो।" इसी संदर्भ में प्रसिद्ध संविधान विशेषज्ञ ग्रेनविल आस्टिन ने कहा था" प्रथम युद्ध की समाप्ति के बाद भारत में दो क्रांतियाँ राष्ट्रीय व सामाजिक साथ-साथ चल रही है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के साथ राष्ट्रीय क्रान्ति पूरी हो जाएगी, लेकिन सामाजिक क्रान्ति जारी रहना चाहिए।" सामाजिक न्यास व बदलाव, एकता व स्थिरता और लोकतंत्र व कानून का शासन शामिल है।

संविधान सभा के सभी सदस्य क्रान्ति के पक्षधर थे। उन्होंने यह आशा व्यक्त की कि इस क्रान्ति के माध्यम से भारतीय समाज के ढांचे में बदलाव आएगा। संविधान सभा के कई सदस्यों ने 'समाजवाद' की अवधारणा को अपनाने पर बल दिया। संविधान सभा में शामिल मार्क्सवादियों, गांधीवादी, समाजवादियों व परम्परागत पूंजीवादियों ने अपनी-अपनी तरह से समाजवाद को परिभाषित किया। लकिन वे सभी एक बात पर सहमत थे कि देश में सामाजिक न्याय की स्थापना करनी है। सामाजिक क्रान्ति की अवधारणा के आधार पर ही भारतीय संविधान में मौलिक अधिकार, राज्यनीति के निर्देशक सिद्धान्तों और कार्यकारिणी विद्यायीका व न्यायपालिका के अधिकारों का निर्धारण हुआ।

संविधान सभा ने राष्ट्रीय एकता व स्थिरिता के उद्देश्यों को हासिल करने का भी महत्वपूर्ण स्थान दिया। भारतीय अभिजात्य वर्ग ने केंद्रीक त राष्ट्रीय सरकार की अवधारणा का सर्मथन किया। जिसके जरिए राष्ट्रीय नेत त्व के अधिकार को मजबूती मिल सके और भारतीय समाज में फैंले विघटनकारी प्रव तियों पर अंकुश लग सके। संविधान सभा के गठन से पूर्व इसके गठन के बाद की घटनाओं ने राष्ट्रीय नेताओं के केंद्रीक त राजनीतिक व्यवस्था के आग्रह को पुष्ट किया। संविधान सभा को विश्वास था कि आर्थिक विकास के लक्ष्यों को हासिल करने के लिए भी केन्द्रीक त सरकार जरूरी है। संविधान में विधायी प्रावधानों का प्रारूप तैयार करते समय संविधान सभा के सदस्यों ने राष्ट्रीय एकता पर सबसे अधिक बल दिया। आन्तरिक स्थिरता की चितांओं ने संघीय ढांचे को प्रभावित किया, विशेषतौर से आपातकाल स्थिति से सम्बन्धित प्रावधान इसी चिंता का परिणाम थे। अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा सक्षम सरकार व प्रशासन और राष्ट्रीय सुरक्षा के लक्ष्यों ने भी संविधान निर्माण को प्रभावित किया।

राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान अधिकांश भारतीय नेता उदारवादी लोकतांत्रिक परम्परा के प्रति बौद्धिक रूप से प्रतिबद्ध थे। इस मामले में इन नेताओं पर औपनिवेशिक शासन की सीमित उदारवादी संस्थाओं और शिक्षा का प्रभाव पड़ा।वास्तव में 1920 के दशक से ही काग्रेंस ने वयस्क मताधिकार की मांग करनी शुरू कर दी थी। बहरहाल, प्रत्यक्ष चुनाव को ही सामाजिक क्रान्ति का आधार बनाया गया। नेहरू का मानना था कि प्रत्यक्ष चुनाव के आधार पर गठित विद्यायिका देश की जनता का प्रतिनिधित्व करेगी तथा जनता के सामाजिक व आर्थिक हितों को आगे बढाएगी। संविधान सभा में यह भी कहा गया कि प्रत्यक्ष चुनाव से ग्रामीण समाज की रक्षा करनी संभव होगी।

देश के सामाजिक व आर्थिक विकास के संदर्भ ने दो विरोधी विचारधाराओं-उदारवादी पूंजीवाद और समाजवादी-साम्यवादी को जन्म दिया। दोनों धाराएं देश को प्रभावित करने की कोशिश में थी। उदारवादी विचारधारा का कहना था कि विकसित देशों से पूंजी के विस्तार के माध्यम से अविकसित देशों का विकास हो सकता है। दूसरी तरफ,

साम्यवादी विचारधारा वाले विकासशील देशों में आर्थिक विकास तेजी से हो रहा था और इन देशों की जनता को सामाजिक न्याय की गारन्टी मिली हुई थी। पर इन देशों में नागरिकों को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता बहुत अधिक नही मिली हुई थी। भारतीय नेताओं के सामने यह चुनौती थी कि या तो वे इन दोनों विरोधी विचारधाराओं में से ही कोई रास्ता निकाले या फिर कोई देशी विचारधारा को जन्म दें। भारत के राष्ट्रीय नेताओं में इस मुद्दे पर काफी मतभेद थे। इस संदर्भ में तीन तरह क विचारधाराओं की चर्चा की जा सकती है।

पहली विचारधारा गांधीवादी थी। गांधी जी, जिन्होंने आधुनिक व परम्परागत विचारधाराओं के बीच अनिश्चित लेकिन प्रभावी सामजंस्य कायम करने में सफलता पायी, चाहते थे की सुधारवादी व क्रान्तिकारी द ष्टिकोण में तालमेल करके आगे बढा जाए। इसलिए गांधी जी के अनुसार स्वराज की स्थापना के साथ-2 स्वतन्त्रता का अर्थ यह भी है कि ग्रामीण जीवन की सादगी व आत्मत्याग के सद्‌गुणों को बनाये रखा जाए। गांधी जी आधुनिक बुर्जुवा सभ्यता के आलोचक थे व बडे-बडे उद्योगों व पूंजीवादी शहरीकरण की बजाय ग्रामीण, व हस्तशिल्प उद्योगों के विस्तार की हिमायत करते थे। गांधीजी के अनुसार ग्रामीण व हस्तशिल्प उद्योगों के विस्तार से अर्थव्यवस्था का विकेन्द्रकीकरण होगा और भविष्य में आत्मनिर्भर ग्रामीण समाज का निर्माण होगा। शासन व्यवस्था के मामले में भी गांधी जी परम्परागत विचारधारा के पक्षधर थे। वे ग्राम पंचायत पर आधारित विकेंद्रीक्रत व्यवस्था स्थापित करना चाहते थे।

परन्तु साम्यवादी विचारक गांधी जी की इस विचारधारा के खिलाफ थे। इनकी नजर में आधुनिकता व परम्पंरा के बीच गांधी जी द्वारा स्थापित सामजंस्य नाजुक और कमजोर है। साम्यवादियों ने गांधी जी की अहिंसा व वर्ग सांमजस्य की धारणा का विरोध किया। लेकिन इस मामले में साम्यवादियों की भी सीमाएँ थी। क्योंकि संविधान सभा में उनकी कोई हैसियत नही थी। पर काग्रेंस में समाजवादी भी शामिल थे। समाजवादियों की आशा का केन्द्र जवाहरलाल नेहरू थे। वे 1920 व 30 के दश में मार्क्सवादी विचारधारा के प्रभाव में थे और जो वर्ग सांमजस्य की अवधारणा का सिद्धांतता विरोध करते थे। लेकिन काग्रेंस समाजवादियों के द ष्टिकोण में बदलाव आ रहा था।

स्वंय नेहरू भारतीय परिस्थितियों में वर्ग संघर्ष के सफल होने के प्रति शंकित थे। उन्होंने समाजवादी आर्दशों और गांधीजी के राजनैतिक दर्शन के बीच समन्वय कायम करने की कोशिश की। इस तरह राष्ट्रीय नेत त्व में दो तरह के वामंपथी थे। पहले जो पूरी तरह से मार्क्सवादी क्रान्ति में विश्वास रखते थे और दूसरे जो सामंती ढांचे को बदलना चाहते थे, समताम आर्थि व्यवस्था के पक्षधर थे और कुछ हद तक निजी सम्पति का भी विरोध करते थे। ये अनावश्यक संघर्ष की बजाय शांतिपूर्ण तरीके से यह सब हासिल करना चाहते थे। संविधान सभा में दूसरे तरह के समाजवादियों को वर्चस्व था।

संविधान सभा में बल्लभभाई पटेल के नेत त्व में एक तीसरा समूह भी था। यह दक्षिणपंथी समूह बुर्जवा व जमीदार वर्ग के हितों का प्रतिनिधित्व करता था। यह समूह चाहता था कि देश में एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था कायम की जाए जिसमें निजी पूंजी को विकास का अवसर मिले, मजदूरों के आन्दोलन दबाये जाऐ और पश्चिमी देशों से सम्बन्ध बनाये जाये। यह समूह काग्रेंस को भी अपने नियन्त्रण में रखना चाहता था।

संक्षेप में देश के वातावरण, जनता की आंकाक्षओं, राजनीतिज्ञों की सामाजिक प ष्ठभूमि और राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान विकसित विचारों के आधार पर संविधान सभा बहु-वैचारिक ढांचे के तहत काम कर रही थी। इसके साथ ही साथ प्रबल नेत त्व के प्रभाव ओर सत्ता हस्तातरण व विभाजन के बाद उपजी प्रशासनिक समस्याओं के कारण देश का नेत त्व संविधान सभा में आम राय कायम करने के प्रति सचेत था।

संविधान सभा में निर्णय लेने की प्रक्रिया

(Process of Decision-making in the Constitent Assembly):

ग्रेनविल आस्टिन (Granville Austin) के अनुसार भारत के संविधान के निर्माण में दो प्रक्रियाओं का महत्त्वपूर्ण योगदान है। ये है : (i) सहमति से निर्णय तथा (ii) समायोजन का सिद्धान्त।

1. **सहमति से निर्णय (Decision making by consensus) :** भारतीय संविधान के निर्माता इस बात को अच्छी

प्रकार से जानते थे कि वे कोई साधारण दस्तावेज नही बना रहे हैं, बल्कि एक संविधान का निर्माण कर रहे हैं, इसलिए उनके द्वारा बहुमत से निर्णय लेने के स्थान पर सहमति से निर्णय के सिद्धान्त को अपनाया गया। सहमति के इस लक्ष्य को पूरा करने के लिए उनके द्वारा उनके तरीके अपनाए गए। प्रथम, काग्रेंस विधानमण्डल दल की बैठक में संविधान की प्रत्येक धारा पर खुलकर वाद-विवाद होता था और उन बैठकों में डा॰ अम्बेडकर, ए॰ के अय्यर और आयंकर जैसे गैर काग्रेंसी नेताओं को भी आमन्त्रित किया जाता था। द्वितीय, संविधान निर्माण से सम्बन्धित सभी महत्त्वपूर्ण समितियों में विभिन्न समुदायों, हितों तथा वर्गो को उचित प्रतिनिधित्व दिया गया था। कई स्थानों पर तो अल्पसंख्यक वर्ग के हितों के प्रतिनिधियों के रूप में उन व्यक्तियों को भी समिति में लिया गया था जो संविधान सभा के सदस्य नही थे। संविधान निर्माण के कार्य की सबसे महत्त्वपूर्ण समिति, प्रारूप समिति (Drafting Committee) के कुल 9 सदस्यों में से केवल एक प्रमुख काग्रेंसी श्री मुंशी थे और समिति के अध्यक्ष डॉ॰ अम्बेडकर एक ऐसे व्यक्ति थे जो सदैव काग्रेंस के आलोचक रहे थे।

संविधान सभा की समितियों की बैठकों में भी बहुमत की जीत के स्थान पर एक दूसरे का समझाने-बुझाने की प्रव ति अपनाई गई। जिन सुझावों अथवा संशोधनों को अस्वीक त किया गया, उन्हें अस्वीकार करने का कारण बताए गए, ताकि कोई सदस्य वह अनुभव न करे कि उनके सुझावों का अनादर किया गया है। इस सम्बन्ध में एम॰वी॰ पायली ने लिखा है "संविधान सभा में वाद-विवाद को पूरा प्रोत्साहन मिला, आलोचना के प्रति सहनशीलता अपनाई गई, लम्बे वाद-विवाद के प्रति असन्तोष नही दिखाया गया, अपने विचार दूसरों पर लादने एवं शीघ्रता से कार्य समाप्त करने का प्रयास नही किया गया। यह एक पूर्ण लोकतांत्रिक प्रक्रिया थी, जिस पर भारतीय लोग गर्व कर सकते है।"

संविधान निर्माण में सहमति की जिस पद्धति को अपनाया गया उसके उदाहरण हैं, संविधान की संघीय व भाषायी प्रावधान और अल्पसंख्यकों से सम्बन्धित व्यवस्थांए।

संविधान निर्माण मं सहमति संघीय ढांचे पर 1947 से ही विचार आरम्भ हुआ और नवम्बर 1949 तक इस पर विचार चलता रहा। इस सम्बन्ध में यह कोशिश की गयी कि सम्बन्धित प्रावधान संघ के प्रतिनिधियों और प्रान्तीय सरकारों के अधिक से अधिक प्रतिनिधियों को सन्तुष्ट कर सकें। ऐसी व्यवस्था करने की कोशिश की गयी कि न तो कोई प्रान्त संघ से अलग हो सके और न ही संघ को किसी पर थोपा जाए। इस सम्बन्ध में उचित व्यवस्था करने के लिए 'संघ शक्ति समिति' (Union Powers committe) में भिन्न-भिन्न प्रान्तों व देशी रियासतों के महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों जैसे पंत, मित्तल टी॰टी॰ क ष्णामचारी और रामास्वामी मुदालियर को शामिल किया गया।

भाषा से सम्बन्धित प्रावधान भी सहमति से निर्णय के महत्त्वपूर्ण उदाहरण हैं। भाषायी विवाद का सर्वसम्मत हल ढूंढने के लिए तीन वर्षो तक प्रयत्न किए गए। संविधान सभा की अन्तिम बैठक में अध्यक्ष डा॰ राजेन्द्र प्रसाद ने कहा था कि वे भाषायी प्रावधानों को मतदान के लिए नही रखेगें, क्योंकि यदि कोई हल समस्त देश को स्वीकार्य नही हैं तो उसे लागू करना बहुत कठिन हो जाएगा। इसके इलावा अल्पसंख्यकों के सम्बन्ध में की गई व्यवस्थांए, संविधान की प्रस्तावना और संसद से सम्बन्धित प्रावधान भी सर्वसम्मति के आधार पर लिए गए निर्णयों के प्रमुख उदाहरण है।

ग्रेनविल आस्टिन के अनुसार तीन तत्वों ने सर्वसम्मति के आधार पर निर्णय लेने में सहायता की। ये थे संविधान सभा में एकता का वातावरण, आदर्शवादिता का वातावरण और राष्ट्रीय उद्देश्य की विद्यमानता।

(i) **समायोजन का सिद्धान्त** (Principal of Accommondation) : समायोजन के सिद्धान्त का अर्थ दो ऐसे तत्वों के बीच समन्वय स्थापित करना है जिन्हें प्रायः परस्पर विरोधी माना जाता है। वास्तव में, भारतीय संविधान सभा ने संविधान निर्माण में सिद्धान्तवादिता के स्थान पर व्यवहारिकता के द ष्टिकोण को अपनाया था और इसके अनूकुल ही समायोजन के सिद्धान्त के कुछ प्रमुख उदाहरण इस प्रकार हैः

(ii) **संघात्मक तथा एकात्मक तत्वों के बीच समन्वयः** साधारणतय संघात्मक और एकात्मक व्यवस्था को परस्पर विरोधी समझते हुए यह माना जाता है कि या तो एकात्मक व्यवस्था को अपनाया जा सकता है या संघात्मक व्यवस्था को। लेकिन भारत की अपनी विशेष परिस्थितियों के अनूकुल संघात्मक और एकात्मक व्यवस्था के बीच समन्वय को अपनाया गया है।

(ii) गणतंत्रीय व्यवस्था के साथ राष्ट्रमण्डल की सदस्यता : सन् 1947 तक यह समझा जाता था कि कोई गणतन्त्रता राज्य राष्ट्रमण्डल का सदस्य नही हो सकता, लेकिन संविधान सभा द्वारा भारत के गणतन्त्रात्मक स्वरूप को राष्ट्रमण्डल की सदस्यता के मार्ग में बाधक नही समझा गया। इस सम्बन्ध में संविधान सभा के द ष्टिकोण को व्यक्त करते हुए श्री बी॰एन॰ राव ने कहा था,"राष्ट्रमण्डल की धारणा का स्पष्टतया विकास होता जा रहा है और वह अब इस स्तर पर पहुँच चुका है कि उसमें गणतन्त्रत्मक संविधान वाले राज्य भी अपना स्थान पा सकते है।"

(iii) केन्द्रीयक त शासन और पंचायत व्यवस्था के बीच समन्वयः समायोजन के सिद्धान्त का एक अन्य उदाहरण केन्द्रीयक त शासन और पंचायत व्यवस्था के दो परस्पर विरोधी सिद्धान्तों के बीच स्थापित किया गया समन्वय हैं संविधान सभा द्वारा इन दोनों सिद्धान्तों को स्वीकार करते हुए उन्हें शासन के अलग-अलग स्तरों पर लागू किया गया। ग्रनवेल आस्टिन के अनुसार "संघ तथा प्रान्तीय सरकारों के सम्बन्ध में केन्द्रीयकरण के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया और प्रत्यक्ष निर्वाचन को अपनाया गया। प्रांतीय सरकारों से नीचे के स्तर पर विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था को स्वीकार किया गया और इस सम्बन्ध में व्यवस्था का कार्य प्रांतीय व्यवस्थापितकाओं के क्षेत्राधिकार में रखा गया। इसके साथ ही राज्य नीति के निर्देशक सिद्धान्तों में भी पंचायत व्यवस्था को स्थान दिया गया।" राष्ट्रपति के निर्वाचन के सम्बन्ध की गई व्यवस्था तथा मौलिक अधिकारों और उनके दुरूपयोग के विरूद्ध की गई प्रतिबन्धों की व्यवस्था आदि भी समायोजना के सिद्धान्त को अपनाने के ही उदाहरण है।

परिवर्तन के साथ चयन की कला (The Art of Selection and Modification): उपरोक्त दो सिद्धान्तों के इलावा संविधान का निर्माण कार्य परिवर्तन के साथ चयन कला के आधार पर भी किया गया। भारतीय संविधान के निर्माताओं का उद्देश्य किसी मौलिक अथवा आर्दश संविधान का निर्माण करना नही था। वे एक अच्छे तथा कामचलाऊ संविधान का निर्माण करना चाहते थे। इसलिए उन्होंने विदेशी संविधानों की उन व्यवस्थाओं को अपने संविधान में शामिल किया जो उन देशों में सफलतापूर्वक काम कर रही थी और भारत की परिस्थितियों के अनुकूल थी। इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय बात यह है कि विदेशी संविधानों से कुछ व्यवस्थाओं को सोच विचार कर ही ग्रहण किया है और जो कुछ ग्रहण किया गया है उसे भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल ढाल लिया गया है।

भारत की भावी राज्य व्यवस्था : भारत की भावी राज्य व्यवस्था के बारे में संविधान सभा कई उद्देश्यों को सामने रख कर चल रही थी। 15 दिसम्बर 1946 को संविधान सभा में जवाहर लाल नेहरू द्वारा रखे गये उद्देश्य प्रस्ताव में इनकी विस्त त चर्चा की गई। यह प्रस्ताव 22 जनवरी 1947 को आम सभा में पारित हो गया। इस प्रस्ताव में कहा गया है कि " . . . . सार्वभौम स्वतन्त्र भारत इसके संघटक अंग और सरकार के अंग अपनी सारी शक्तियाँ तथा अधिकार जनता से प्राप्त करेगें और भारत के सभी लोगों को कानून व लोक नैतिकता का ध्यान रखते हुये, सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक न्याय, अवसरों की समानता, कानून के समक्ष समानता और विचार, संप्रेषण विश्वास व्यवसाय संगठन बनाने की स्वतन्त्रता की गारंटी होगी . . ."। इस प्रस्ताव में दिये गये उद्देश्यों की प्रक ति सामान्य है। इन उद्देश्यों के आधार पर ही संविधान का आधारभूत ढांचा तैयार किया गया और सामाजिक परिवर्तन की राह निकाली। इस उद्देश्य प्रस्ताव का मुख्य जोर भारत को एक स्वतन्त्र सार्वभौम गणराज्य बनाने पर था। देश का संविधान ब्रिटिश भारत व रियासतों के संघ के लिए बनाया जाना था। संविधान के तहत्त भारत के नागरिकों कों विचार, संप्रेषण, विश्वास, व्यवस्था आदि के उदारवादी अधिकारों की गांरटी दी जानी थी। इसके इलावा अल्पसंख्यकों पिछडे वर्गो खासकर अनुसूचित जातियों व जनजातियों के लिए पर्याप्त सुरक्षा और सभी नागरिकों को सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक न्याय प्राप्त करवानें के लिए उपयुक्त माहौल तैयार करने का प्रावधान भी संविधान के तहत किया जाना था। भारत की भावी राज्य व्यवस्था के बारे में देश के नेताओं ने तीन उद्देश्य तय कियेः

(i) देश को ब्रिटिश शासन के प्रभाव से मुक्त करना

(ii) उदारवादी संस्थाओं के आधार पर भारत को इस उपमहाद्वीप में एक शक्तिशाली राष्ट्र-राज्य के रूप में विकसित करना।

(iii) देश की जनता की उत्पादकता में बढोतरी।

लेकिन ये उद्देश्य प्रभु वर्ग व अभिजन की सता और स्वतन्त्रता के समय देश की समस्याओं के परिवेश में ही प्राप्त किये जाने थे। इन उद्देश्यों के आधार पर ही भारत का संविधान बना जिसका दर्शन अस्पष्ट है।

संविधान का दर्शन तथा विचारधारा : भारत के संविधान के आधारभूत सिद्धान्तों तथा संविधान सभा के बोध के विश्लेषण से स्पष्ट है कि विचार धारा के आधार पर व सामाजिक लक्ष्णों के द ष्टिकोण से कुछ हद तक यह अस्पष्ट व स्वप्नदर्शी हैं। भारतीय संविधान की विचारधारा का वर्णन संविधान की प्रस्तावना मौलिक अधिकारों व राज्यनीति के निर्देशक सिद्धान्तों के रूप में किया गया है। भारत में जिन संवैधानिक संस्थाओं का निर्माण किया गया है वे हमारे ऐतिहासिक अनुभव के आधार पर नही किया गया है। इन संस्थाओं की अवधारणा, इनकी संरचना तथा अन्य विशेषताँए देश के पश्चिम के साथ सम्बंधों से पैदा हुई थी। इसलिए कहा जा सकता है हालांकि हमारे संविधान निर्माता सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन के प्रति सचेत थे लेकिन वे मार्क्स व मिल की बजाय लास्की व फैबियन समाजवाद से प्रभावित थे।

इस विचारधारा के अर्न्तगत लोकतन्त्र को सर्वसत्तावादी व एकदलीय सरकार के खिलाफ एक कारगर यन्त्र के रूप में देखा गया। लोकतन्त्र को सामाजिक क्रान्ति के प्रति प्रतिबद्धता के रूप में देखा गया। लोकतन्त्र में इतना अधिक विश्वास था कि संविधान में 'समाजवाद' तथा 'धर्मनिरपेक्ष' शब्द जोडने के लिए संविधान सभा में पेश संशोधनों को रद्ध कर दिया गया। संविधान सभा में यह तर्क दिया गया कि देश का संविधान इन वैचारिक प्रतिबद्धताओं को समाहित कर लेगा।

इसीलिए संविधान में राष्ट्रीय आन्दोलन की सर्ववर्गीय छवि देखी जा सकती है। राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्तों व मौलिक अधिकारों के प्रावधान के रूप में भी इस संस्क ति की झलक देखी जा सकती है। इन वर्ग में उच्चजाति के हिन्दुओं की प्रमुखता थी, लेकिन इसी वर्ग ने अस्प श्यता को दंडनीय अपराध बनाया और इसे समाप्त किया। गरीबों व अनपढों वाले देश में इस वर्ग ने वयस्क मताधिकार व राजनीतिक समानता का अधिकार प्रदान करवाया। इसके साथ ही शोषित तथा कमजोर वर्गो वाले देश में इसी वर्गने शोषण के खिलाफ अधिकार का प्रावधान किया।

इस प्रकार देखा जाए तो संविधान को मुक्ति के साधन के रूप में देखा जा सकता है। इसमें देश की जनता को सामाजिक न्याय का वादा किया गया। गहराई से देखा जाए तो संसदीय प्रजातंत्र की धारणा व्यवहारिक भी थी। इसमें कोई शक नही हैं कि ब्रिटिश शासन की वैचारिक सोच का इस द ष्टि से काफी महत्त्व है। अगर भारत के प्रभु वर्ग के हितों की अनदेखी होती तो वे इस विचारधारा को कभी न अपनाते। संसदीय प्रजातंत्र की धारणा के अर्न्तगत ऐसा लगता था कि आजादी की लडाई के राजनीतिक लाभों का समान वितरण हो रहा है। इसके साथ ही साथ सामाजिक क्रान्ति के अभाव में एक अत्याधिक विषमतामूलक सामाजिक ढांचे में, संसदीय प्रजातंत्र ने प्रभु वर्ग को कमजोर वर्ग पर अपना वर्चस्व बनाये रखने का अवसर प्रदान करवाया। इसमें संपति का अधिकार महत्त्वपूर्ण साधन बना।

सम्पति के मौलिक अधिकार के अर्न्तगत सरकार को किसी व्यक्ति की सम्पति जब्त करने का अधिकार नही था। सम्पति के अधिग्रहण के खिलाफ वह न्यायालय की शरण में भी जा सकता था। इस तरह से सम्पति के मौलिक अधिकार ने श्रम शक्ति पर सम्पति मालिकों की विजय का ठोस आधार प्रदान किया। यह सत्य है कि राज्य नीति के निर्देशक सिद्धान्तों में भारत के सामाजिक व आर्थिक परिवर्तन का दर्शन था, परन्तु सम्पति के मौलिक अधिकार ने नीति निर्देशक सिद्धान्तों की संभावनाओं को कुंद कर दिया। संविधान में खेत जोतने वालों को जमीन का अधिकार व प्रबंधन में श्रमिकों की भागीदारी का प्रावधान नही था।

इस संदर्भ में के॰टी॰ शाह ने संविधान सभा में कहा था कि संविधान के अध्ययन के अनुसार इसका लक्ष्य सामाजिक या आर्थिक परिवर्तन नही बल्कि राजनीतिक परिवर्तन था। डॉ॰ बी॰आर॰ अम्बेडकर के शब्दों में, "26 जनवरी 1950 को हम विरोधाभासों के जीवन में प्रवेश कर रहे हैं। राजनीति के क्षेत्र में हम समानता की बात करते है लेकिन सामाजिक व आर्थिक क्षेत्र में असमानता के जिनती जल्दी हो सके हमें इस विरोधाभास को दूर करना चाहिये।"

स्पष्ट है कि नये समाज के निर्माण के लिए भारत के प्रभु वर्ग ने क्रान्ति की जगह समन्वय का मार्ग चुना। प्रभु वर्ग की रणनीति थी कि निर्धन जनलोकतांत्रिक व्यवस्था को राजनीतिक औजार के रूप में इस्तेमाल कर सामाजिक व आर्थिक न्याय के युग का सूत्रपात करेगें। इस रणनीति के अर्न्तगत असमानता व ग्रामीण विपन्नता को दूर करने का लक्ष्य निर्धारित किया

गया। लेकिन तत्कालिन भूमि सम्बन्धों में मूलभूत बदलाव का जिक्र नही किया गया।

अन्त में हम कह सकते हैं कि भारत के संविधान को आधारभूत विचारधारा उदारवादी-प्रजातान्त्रिक थी। इसमें व्यवहारिकता का त्तत्व शामिल था। इसमें मौजूदा सामाजिक ढांचे में कोई महत्त्वपूर्ण बदलाव लाये बिना, समाज के सभी वर्गो के लिए आश्वासन था। भारत जैसे बहुलतावादी समाज को एकता के सूत्र में बाधने के लिए यह जरूरी भी समझा गया। भारत के राजनीतिक प्रभु वर्ग ने संसदीय प्रजातन्त्र को विभिन्न राजनीतिक शक्तियों के बीच गठबंधन, लोकनीति में निरन्तरता, एकता व अखण्डता, जवाबदेह प्रशासन, विधानमण्डल व कार्यपालिका में समन्वय और व्यापक हितों पर आधारित राजनीतिक व्यवस्था के साधन के रूप में देखा। यह एक ऐसी राजनीति थी। जिसमें व्यक्तिवाद व सामूहिकता के बीच समन्वय कायम किया गया। इस बात में कोई संदेह नही है कि भारत का संविधान उदारवादी परम्परा पर अधारित है। इसका कार्यात्मक रूप लोकतन्त्र के रूप में सामने आता है और इसका सामाजिक-आर्थिक आधार कल्याणकारी राज्य की धारणा के रूप में विकसित हुआ। संक्षेप में, भारत का संविधान पूंजीवाद, उदारवादी, कल्याणकारी प्रजातंत्र का एक मिश्रण है जिसमें आर्थिक शक्तियों को सीमित हाथों में रखा गया है तथा राजनीतिक अधिकारों का उदारता के साथ वितरण किया गया हैं।

अध्याय-5
भारतीय संविधान की प्रस्तावना
(Preamble of Indian Constitution)

आज के युग में संविधान के आरम्भ करने से पहले प्रायः उसकी प्रस्तावना की व्यवस्था की जाती है प्रस्तावना एक प्रकार से संविधान की भूमिका होती है जिसमें संविधान के उदेश्यों और आधारभूत सिंद्धान्तों का उल्लेख होता है। यद्यपि कानूनी द ष्टि से प्रस्तावना संविधान का अंग नहीं होती और इसे न्यायलयों द्वारा लागू नहीं किया जा सकता परन्तु फिर भी इसका सवैंधानिक महत्व कम नही होता। जब संविधान का कोई अंग संदिग्ध हो और उसका अर्थ स्पष्ट न हो तो न्यायालय उसकी व्याख्या करते समय प्रस्तावना संविधान बनाने वालों के मन की भावनाओं को बतलाती है। प्रस्तावना संविधान-निर्माताओं के मन की कुँजी है।

भारतीय संविधान-निर्माताओं ने भारत के संविधान के आरम्भ में प्रस्तावना दी है जिसमें संविधान के उदेश्यों का वर्णन किया गया है। भारतीय संविधान की प्रस्तावना, जिसमें 42 वें संशोधन द्वारा संशोधित किया जा चुका है, इस प्रकार हैः- "हम भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न समाजवादी, धर्म-निरपेक्ष लोकतन्त्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों कोः सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्यायः विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने के लिए तथा उन सब मेंः व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता और अखण्डता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता बढ़ाने के लिए; संकलप होकर अपनी संविधान सभा में आज तिथि २६ नवम्बर १९४९ के दिन इस संविधान को अंगीक त, अधिनियमित और आत्म समर्पित करते है।"

42 वें संशोधन द्वारा मूल प्रस्तावना के वाक्य प्रभूसत्ता सम्पन्न लोकतन्त्रारिक गणराज्य के साथ समाजवादी और धर्म निरपेक्ष दो नए शब्द जोड़े गए हैं। राष्ट्र की एकता के स्थान पर राष्ट्र की एकता और अखण्डता शब्द रखे गए हैं।

संविधान की प्रस्तावना को निम्नलिखित चार भागों में बाटाँ जा सकता हैः-

1. संविधान का स्त्रोत (Source of the constitution)
2. शासन का प्रकार (Type of government)
3. संविधान के लक्ष्य (Objective of the constitution)
4. स्वीक ति एंव क्रियान्वयन की तिथि (Date of adoption and Enactment)

1. संविधान का स्त्रोत (Source of the constitution): प्रस्तावना के प्रारम्भिक शब्द यह इंगित करते है कि भारतीय संविधान का स्त्रोत जनता है। भारतीय शासन की अन्तिम सत्ता जनता में निहित है तथा भारतीय जनता ने ही संविधान को अंगीक त और अधिनियमित किया है। प्रस्तावना का सार बिन्दू यह है कि "हम भारत के लोग भारत के संविधान को अंगीक त और आत्मार्पित करते है। संविधान के किसी भी प्रावधान में प थक से यह इंगित नहीं किया गया है शासन की समूची शक्त्यिां जनता से प्राप्त हुई है। अतः प्रस्तावना द्वारा प्रभुसत्ता के अधिवास की समस्या के विवाद की समाप्ति कर दी गई है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि नया संविधान किसी बाह्य शक्ति ने आरोपित नहीं किया हैं। अमरीका की भांति भारतीय संविधान के निर्माण में राज्य की बजाय भारत की जनता का सर्वोपरि हाथ है। डा॰ अम्बेडकर के अनुसार ; प्रस्तावना यह स्पष्ट कर देती है कि इस संविधान का आधार जनता है एवं इनमें निहित प्राधिकार और प्रभूसत्ता सब जनता से प्राप्त हुई हैं।"

(2) शासन का प्रकार (Type of Government) : प्रस्तावना में भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न समाजवादी धर्म-निरपेक्ष लोकतन्त्रीय गणराज्य घोषित किया गया है जिसका वर्णन निम्न प्रकार से किया गया हैः

(i) **सम्पूर्ण प्रभुत्व -सम्पन्न राज्य (Sovereign State) :** 15 अगस्त 1947 के दिन आजादी मिलने पर भी भारत को कानूनी रूप में अधिराज्य का दर्जा ही प्राप्त था। ऐसा अधिराज्य जिसे अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा करने का अधिकार था। नये संविधान की प्रस्तावना में भारत को एक स्वतन्त्रत तथा प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य बतलाकर अधिराज्य स्तर की समाप्ति बतलाई गई है। वास्तव में भारत 15 अगस्त 1950 को ही पूर्णतः स्वतंत्र प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य बना। 15 अगस्त 1947 से लेकर 26 जनवरी 1950 तक ब्रिटेन का सम्राट भारत का भी सम्राट था तथा भारत का गवर्नर-जनरल उसका प्रतिनिधि था। 26 जनवरी 1950 के दिन नए संविधान के लागू होने से ही यह व्यवस्था समाप्त हुई।

(ii) **समाजवादी राज्य (India is a socialist State):** पहली बार नवम्बर 1976 में संविधान की प्रस्तावना में समाजवाद के शब्द को जोड़ा गया जिसका समर्थन सभी वर्ग के लोगों ने किया। कांग्रेस पहले से ही भारत में प्रजातन्त्रीय समाजवाद की स्थापना करना अपनो लक्ष्य घोषित कर चुकी थी। इसके साथ-ही-साथ संविधान में अंकित किए गए राज्य के निति निर्देशक सिद्धान्त समाजवाद का समर्थन करते हैं। समाजवाद का अर्थ है कि भारत में शासन व्यवस्था इस प्रकार चलाई जाए जिससे आर्थिक असमानता कम हो तथा इस प्रकार का वातारण उत्पन्न किया जाए जिसके द्वारा समाज के सभी वर्गो को अपना विकास करने के लिए समान अवसर प्रदान हों। देश के विकास का फल थोड़े से लोगों के होथों में न रह कर, समाज के सभी वर्गो को बिना भेद-भाव के प्राप्त हो। इसके साथ-साथ देश में जो आर्थिक असमानता पाई जाती है, उसे दूर करने के लिए उचित कदम उठाए जाए।

समाजवाद के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ही 42 वें संशोधन के अर्न्तगत राज्य नीति निर्देशक सिद्धान्तों को मौलिक अधिकारों से श्रेष्ठ घोषित किया गया। इसी संशोधन के द्वारा राज्य नीति के निर्देशक सिद्धान्तों में कुछ उन्य समाजवादी सिद्धान्त शामिल किए गए।

(iii) **भारत एक धर्म-निरपेक्ष राज्य है (India is a Secular State):** 42 वें संशोधन द्वारा संविधान की प्रस्तावना में धर्म-निरपेक्ष शब्द जोड़ा गया। भारतीय संविधान में ऐसी व्यवस्था की गई हैं जो भारत को निः सन्देह धर्म-निरपेक्ष राज्य बनाती है। धर्म-निरपेक्ष का अभिप्रायः यह है कि भारत में सभी वर्गो को बिना किसी भेदभाव के अपनी इच्छा अनुसार अपने धर्म में विश्वास करने एवं उसका प्रचार करने का अधिकार होगा। लेकिन इसके साथ-साथ व्यक्ति कोई ऐसा कार्य न करेगा जिससे कि दूसरे व्यक्ति के धर्म में बाधा पड़े। इसी संदर्भ में राज्य किसी के धर्म में हस्तक्षेप नहीं करेगा राज्य किसी विशेष धर्म की किसी प्रकार की सहायता नही करेगा। वस्तुतः राज्य का अपना कोई भी धर्म नहीं होगा।

(iv) **भारत एक लोकतन्त्रीय राज्य है (India is a Democratic State):** संविधान की प्रस्तावना में भारत की लोकतन्त्रीय राज्य घोषित किया गया है। देश में जनता के द्वारा राजशक्ति का प्रयोग किया जाएगा। राजशक्ति पर किसी एक वर्ण विशेष का एकाधिकार नहीं होगा। शासन का संचालन बहुमत के सिद्धान्त के आधार पर होगा। उन्हीं कानूनों को लागू किया जाएगा जिन्हें जनता का समर्थन प्राप्त होगा। राज्य में कोई विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग नहीं होगा और राज्य की सीमा में निवास करने वाले समस्त स्त्री-पुरूषों को समानता प्राप्त होगी। भारत ऐसा लोकतन्त्र होगा जिसमें अल्पसंख्यकों को सुरक्षा प्राप्त होगी तथा समाज में आर्थिक शक्ति का समतायुक्त वितरण होगा ताकि किसी भी वर्ग का शोषण न हो। भारत में राजनैतिक लोकतन्त्र के साथ-साथ सामाजिक और आर्थिक लोकतन्त्र की भी व्यवस्था की गई है।

(v) **भारत एक गणराज्य है (India is a Republic):** भारत एक गणराज्य है। गणराज्य वह राज्य होता है जिसका अघ्यक्ष लोगों द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित हो। उसका पद वंशानुगत या पैत क नहीं होता। इंग्लैंड, नेपाल तथा जापान गणराजय नहीं है क्योंकि इन राज्यों के अध्यक्ष लोगों द्वारा नहीं चुने जाते। अमेरिका का अध्यक्ष भारत की भांति जनता द्वारा निर्वाचित होता है। भारत में राज्य का अध्यक्ष राष्ट्रपति है जो अप्रत्यक्ष रूप से लोगों द्वारा निर्वाचित होता है। उसका चुनाव एक ऐसे निर्वाचक मण्डल द्वारा होता हैं जिसमें संसद के दोनों सदनों के चुने हुए सदस्य और राज्य विधान सभाओं के सदस्य शामिल होते है। वे सदस्य लोगों के निर्वाचित प्रतिनिधि होते है। राष्ट्रपति को संसद में जनता के प्रतिनिधियों द्वारा महाभियोग की कार्यवाही करके हटया भी जा सकता है।

(3) **संविधान के उद्धेश्य (Objectives of the Constitution):** प्रस्तावना में भारतीय गणराज्य के उद्धेश्य बतलाए गए है जोकि इस प्रकार हैः-

(i) **न्याय (Justice):-** हमारे संविधान की प्रस्तावना में न्याय के उल्लेख का विशेष महत्व है। संविधान निर्माता इस बात से भली भांति परिचित थे कि सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना में स्वतन्त्रता और समानता के इलावा न्याय अनिवार्य है। सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय की स्थापना में प्रयास करना राज्य का कर्तव्य माना गया है। सामाजिक न्याय से अभिप्रायः है कि मानव-मानव के बीच में जाति, वर्ण के आधार पर भेद न माना जाए और प्रत्येक नागरिक के उन्नति के समुचित अवसर सुलभ हो। राज्य का यह दायित्व हो जाता है कि दुर्बल वर्गो का शोषण रोके और उनके विकास के लिए कार्य करें। आर्थिक न्याय से अभिप्रायः है कि उत्पादन एवं वितरण के साधनों का न्यायोचित वितरण हो और धन सम्पदा का केवल कुछ ही हाथों में केन्द्रीकरण न हो जाए। आर्थिक न्याय की प्राप्ति के लिए समुदाय की भौतिक सम्पति का स्वामित्व और नियन्त्रण इस प्रकार बांटा हो कि जिससे सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप से साधन हो। राजनीतिक न्याय का अभिप्रायः है कि राज्य के अर्न्तगत समस्त नागरिकों को समान रूप से नागरिक और राजनीतिक अधिकार प्राप्त हो। इस प्रकार प्रस्तावना में उपबन्धित न्याय के विचार से लोक-कल्याणकारी राज्य का विचार द ष्टिगोचर होता है और नागरिकों को जीवन के अन्य क्षेत्रों में न्याय का आश्वासन दिया जाता है।

(ii) **स्वतन्त्रता (Liberty):** प्रस्तावना में इस बात पर जोर दिया गया है कि राज्य समस्त नागरिकों को स्वतन्त्रता प्रदान करेगा। यहाँ स्वतन्त्रता से तात्पर्य नागरिक स्वतन्त्रता ओर राजनीतिक स्वतन्त्रता से है। विचार, अभिव्यक्ति, भाषण, संघ बनाना, सम्पत्ति रखना, आदि नागरिक स्वतन्त्रताएं हैं। मतदान में भाग लेना, प्रतिनिधियों को चुनना निर्वाचन में खड़ा होना, सार्वजनिक पद पर नियुक्ति का अधिकार, सरकारी नीतियों की आलोचना करना, आदि राजनीतिक स्वतन्त्रताएं हैं। प्रस्तावना में नागरिको के व्यक्तित्व के विकास हेतु स्वतन्त्रता का आश्वासन दिया गया है।

(iii) **समानाता (Equality):** समानता से अभिप्रायः है कि अपने व्यक्ति के समुचित विकास के लिए प्रत्येक मनुष्य-मनुष्य में अन्तर नहीं होना चाहिए। सभी नागरिकों को देश के शासन विधान में समान भाग मिलना चाहिए। लिंग, नस्ल अथवा सम्पति के आधार पर राजनीतिक अधिकारों का निषेध नहीं होना चाहिए। समान योग्यता ओर समान श्रम के लिए वेतन भी समान होना चाहिए। एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य का अथवा एक वर्ग को दूसरे वर्ग का आर्थिक शोषण करने का कोई अधिकार नहीं होना चाहिए।

(iv) **भ्रात -भाव (Fraternity):** प्रस्तावना में यह भी कहा गया है कि राज्य नागरिकों में आपसी भ्रात -भाव बढ़ाने का प्रयत्न करेगा ताकि भारत में मनुष्य मनुष्य होने के नाते प्रतिष्ठा हो तथा भारतीय राष्ट्र में एकता की भावना बढ़े। भारतीय संविधान की प्रस्तावना में भ्रात -भाव शब्द का होना अत्यन्त महत्वपूर्ण है। भारतीयों की सांसक तिक विभिन्नताओं को देखते हुए ऐसा उद्धेश्य भारतीय संविधान की प्रस्तावना मे दिया जाना स्वाभाविक ही था। एम॰ वी॰ पायली के शब्दों में, 'न्याय, स्वतन्त्रता और समानता के आधार पर निर्मित नए राष्ट्र का उद्धेश्य यह है कि सभी यह अनुभव करें कि वे एक ही धरती के बच्चे हैं, उनकी मात भूमि एक हैं तथा उनका एक ही भ्रात -भाव है।

(v) **व्यक्तिगत गौरव को स्थापित करने का विश्वास (Assuring the dignity of Individuals):** प्रस्तावना में व्यक्ति के गौरव को बनाए रखने के लिए व्यवस्था की गई है। स्वतन्त्रता से पहले अंग्रेजों ने भारतीयो के गौरव को मान्यता प्रदान नहीं की। भारतीयों के साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया जाता था। आजादी के बाद भारतीयों में गौरव को बनाए रखने के लिए प्रस्तावना में इस बात को अंकित किया गया कि बिना गौरव अनुभव किए कोई भी राष्ट्र उन्नति नही कर सकता। इस तरह से संविधान की प्रस्तावना के द्वारा भारत में व्यक्तिगत गौरव को स्थापित रखा जाएगा। इस उद्धेश्य को ध्यान में रखते हुए सभी व्यक्तियों को मौलिक अधिकार समान रूप से दिए गए हैं।

(vi) **राष्ट्र की एकता तथा अखण्डता की स्थापना (Estability of the Unity and Integrity of the motion):** अंग्रेंजो की फूट डालों राज करों शासन की नीति के कारण भारत का विभाजन हुआ था, इसलिए संविधान -निर्माता भारत की एकता को बनाए रखने के बड़े इच्छुक थे। वस्तुतः संविधान की प्रस्तावना में राष्ट्र की एकता को बनाए रखने की घोषणा की गई। इस लक्ष्य को प्राप्त केरने के लिए भारत को धर्म-निरपेक्ष राज्य बनाया गया, सभी नागरिको को भारत की नागरिकता प्रदान की गई तथा सारे देश के लिए एक ही संविधान को अपनायागया। 42 वें संशोधन के द्वारा

प्रस्तावना में राष्ट्र की एकता के साथ अखण्डता शब्द जोड़ा गया है।

(4) संविधान को अंगीक त करने की तिथि(Date of adoption of the constitution):- संविधान की प्रस्तावना से हमें इस बात का भी पत्ता चलता है कि हमारा संविधान कब तैयार हुआ तथा हमने इसे कब अपनाया। संविधान सभा ने जो कार्य 9 दिसम्बर, 1946 को आरम्भ किया था, वह 26 नवम्बर 1949, को सम्पन्न हुआ तथा उस दिन संविधान सभा ने भारतीय लोगों के नाम पर संविधान को अंगीक त, अधिनियमित और आत्म-अर्पित किया। परन्तु यह संविधान पूर्ण रूप से दो महीने के बाद 26 जनवरी 1950, को लागू हुआ।

अध्याय-6
मौलिक अधिकार
(Fundamental Rights)

भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन की माँग यह थी कि भारत के हर व्यक्ति को मौलिक अधिकार प्राप्त होने चाहिए। 1918 में भारतीय राष्ट्रीय काग्रेंस ने यह माँग की थी कि मोटफॉर्ड रिर्पोट में भारत के लोगों के अधिकारों की घोषणा होनी चाहिए। 1928 में एक सर्वदलीय समिति बनी। श्री मोती लाल नेहरू उस समिति के प्रधान थे। उन्होंने एक रिर्पोट पेश की जिसमें स्पष्ट तौर पर कहा गया कि सबसे जरूरी काम यह है कि मौलिक अधिकारो की गारन्टी दी जाए और उनको संविधान में इस प्रकार जोड़ दिया जाये कि किसी भी हालात में उनकों वापिस न लिया जा सके। 1931 में कांग्रेस पार्टी का एक अधिवेशन करांची में हुआ। इस अधिवेशन में मौलिक अधिकारों की एक घोषणा को स्वीकार किया गया। इस घोषणा में राजनीतिक और नागरिक अधिकारों का जिक्र तो था ही लेकिन सामाजिक व आर्थिक अधिकारों को भी शामिल किया गया था। 1945 में सप्रू कमेटी ने भी सुझाव दिए थे। इस कमेटी का कहना था कि भविष्य में भारत का जो संविधान बने उसमें दो प्रकार के अधिकार जरूर होने चाहिए। एक तो वे अधिकार जो न्याय संगत (Justiciable) हो ओर दूसरे वे जो न्याय संगत न (Non-Justiciable) हो।

हमारी संविधान सभा में इस बात पर एक मत था कि हमारे संविधान में मौलिक अधिकार का पूरी तरह से वर्णन किया जाए और सारे मौलिक अधिकार का पूरी तरह से वर्णन किया जाए और सारे मौलिक अधिकार पूरी तरह से उसमें शामिल किए जाये। जो मौलिक अधिकारो का अध्याय था उसमें राजनीतिक और नागरिक अधिकारो को शामिल किया गया।

मौलिक अधिकारो को संविधान में क्यों रखा गया (Why Fundamental Rights were incorporated in Indian Constitution) :-

जब संविधान सभा में मौलिक अधिकारों के विषय पर विचार हुआ तो किसी सदस्य ने भी मौलिक अधिकारों के संबंध में विरोध नहीं किया। मौलिक अधिकारों की सूचि तैयार करने के लिए सरदार पटेल की अध्यक्षता मे एक विशेष समिति बनाई गई थी जिसमें विभिन्न अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधि भी शामिल थे। इस समिति की सिफारिशों के आधार पर प्रारूप समिति ने मौलिक अधिकारों का एक अलग अध्याय तैयार किया और उसे संविधान में स्थान दिया। संविधान में मौलिक अधिकारों को शामिल करने के निम्नलिखित कारण थेः-

1. यह बात आधुनिक राजनैतिक विचारधारा के अनुरूप थीः-

हमारे संविधान निर्मात्ताओं ने मौलिक अधिकारों को संविधान में इसलिए शामिल किया क्योंकि बहुत से अन्य देशों में ऐसी परम्परा स्थापित हो चुकी थी। अमेरिका के संविधान में मौलिक अधिकारो को स्थान दिया गया था। पहले महायुद्ध के बाद जर्मनी के 1919 के वाईयर संविधान, 1922 के आयरलैंड के संविधान, 1936 के रूस के संविधान में मौलिक अधिकारों की व्यवस्था की जा चुकी थी। भारतीय संविधान निर्माता इस आधुनिक राजनैतिक विचार धारा से प्रभावित हुए बिना न रह सके तथा उन्होंने मौलिक अधिकारों को संविधान में स्थान दिया।

2. यह भारतीय राजनीतिज्ञों की पुरानी माँग थीः-

भारतीय राजनीतिज्ञों ने स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौरान भारतीयों के लिए मौलिक अधिकारों की माँग की थी। 1927 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशन में मौलिक अधिकारों की व्यवस्था करने की माँग की थी। 1928 में नेहरू समिति की रिर्पोट मे इस माँग का फिर दुहराया गया। 1930 में कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन में इस सम्बन्ध में एक प्रस्ताव पास किया गया। 1945 में सप्रू कमेटी ने अपनी रिर्पोट में मौलिक अधिकारो को संविधान में शामिल करने पर विशेष बल दिया। अतः यह स्वाभाविक था कि जब स्वतन्त्र भारत का नया संविधान तैयार किया जाता तो उसमें मौलिक अधिकारों को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया।

बहुंसख्यकों के अत्याचार रोकने के लिए; मौलिक अधिकारों को संविधान में शामिल किए जाने का एक कारण यह था कि नागरिकों के अधिकारों की बहुसंख्यकों के अन्यायपूर्ण और अत्याचारी व्यवहार से रक्षा की जा सके। बहुसख्यक साधारण कानून की प्रक्रिया द्वारा नागरिकों के मौलिक अधिकारों में अनुचित हस्ताक्षेप न करें। यदि मौलिक अधिकारों को संविधान में रखा जाए तो बहुसंख्यक उसे आसानी से बदल नही सकते तथा जनता उनके अत्याचार से बची रहती है।

अल्पसंख्यकों मैं विश्वास उत्पन्न करने के लिए: मौलिक अधिकारों को संविधान में शामिल करने का एक अन्य कारण भारतीय अल्पसंख्को में विश्वास पैदा करना था। भारत के विभाजन के समय देश मे जो रकतपात हुआ था, उससे अल्पसंख्यक भयभीत हो चुके थे। इसलिए उनका भय दूर करने और उनका पुनः विश्वास प्राप्त करने के लिए संविधान में मौलिक अधिकारों की व्यवस्था करना अत्यन्तः आवश्यक था। श्री के॰एस॰ मुन्शी ने ठीक ही कहा है कि मौलिक अधिकार अल्पसंख्यकों की समस्याओं का समाधान करने में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं उनके राज्य के अन्दर राज्य बनाने के खतरे को दूर करते है और उन्हें विदेशी राज्यों में सुरक्षा प्राप्त करने की ओर देखने से रोकते है।

प्रजातन्त्रीय शासन का आधार: मौलिक अधिकारों को इसलिए भी संविधान मे शामिल किया गया क्योंकि वह लोकतन्त्रीय शासन को प्रभावशाली ढंग से चलाने के लिए अत्यावश्यक है। लोकतन्त्र का मूलभूत सिद्यान्त यह है कि शासन लोगों की भलाई के लिए लोगों की इच्छानुसार चलाया जाए। राज्य की सबसे बड़ी समस्या यह होती हैं कि लोगों की इच्छा को कैसे जाना जाए और इस इच्छा के अनुसार शासन कैसे चलाया जाए। इसके लिए लोगों को सार्वजनिक मामलो पर अपने विचार प्रकट करने, सभा करने, जलूस निकालने, सरकार को प्रार्थना-पत्र देने, संघ और संगठन बनाने देश के किसी भाग में घूमने-फिरने आदि की स्वतन्त्रताएँ प्रदान की जाती हैं। उन्हें जीवन, निजी स्वतन्त्रता का अधिकार प्राप्त होता है। भारत के संविधान में इन सभी मौलिक अधिकारों की व्यवस्था की गई है।
मनोवैज्ञानिक कारण: संविधान में मौलिक अधिकारो का समावेश मनोवैज्ञानिक कारणों से भी किया गया है। इससे नागरिकों में यह भावना पैदा होती है। कि उन्हें अपने व्यक्तित्व के विकास के अवसर प्रदान किए गए है। इससे नागरिकों में एक नैतिकता का विकास होता है अतः उनमे साहस की, अन्यायों के विरूद्ध संघर्ष करने की तथा अपना विकास करने की भावना पैदा होती है।

मौलिक अधिकारों की विशेषताएँ : भारतीय संविधान में दिए गए मौलिक अधिकारो की विशेषताएँ इस प्रकार हैः

विस्त त अधिकार-पत्र: भारतीय अधिकार-पत्र की प्रथम विशेषता यह है कि यह एक विस्त त अधिकार-पत्र है। 2-3 अनुच्छेदों में जिनकी आगे जाकर कई धाराएँ, नागरिकों के अधिकारों का विस्त त वर्णन किया गया है। उदाहरणतः अनुच्छेद 19 द्वारा नागरिकों को स्वतन्त्रता का अधिकार दिया गया हैं तथा इसके 6 भाग है जिनमें नागरिकों की 6 विभिन्न स्वतन्त्रताओं, उनके अपवादों आदि का विस्त त वर्णन है ऐसा ही विस्त त वर्णन उन्य अनुच्छेदों में किया गया है।

सभी नागरिकों के समान अधिकार: मौलिक अधिकार जाति, धर्म, नस्ल, रंग, लिंग आदि के भेदभाव के बिना सभी नागरिकों को प्राप्त है। बहुसंख्यक और अल्पसंख्यको में कोई भेद नही। यह सभी पर समान रूप से लागु होते है और कानुनी द ष्टि से सभी नागरिकों के लिए सुरक्षित हैं सरकार इन पर उचित प्रतिबन्ध लगाते समय नागरिकों में भेदभाव नही कर सकती।

अधिकार पूर्ण और असीमित नही है: कोई भी अधिकार असीमित नही हो सकता । उसका प्रयोग दूसरो के हित को ध्यान में रख कर ही किया जा सकता है। अधिकार सापेक्ष होते है तथा उनका प्रयोग सामाजिक प्रसंग में ही किया जा सकता है। इसलिए हमारे संविधान में सरकार को राज्य की सुरक्षा, सार्वजनिक व्यवस्था, सार्वजनिक नैतिकता तथा लोक कल्याण की द ष्टि से मौलिक अधिकारो पर समय की आवश्यकता अनुसार उचित प्रतिबन्ध लगाने का अधिकार दिया गया है।

अधिकतर नकारात्मक अधिकार: भारतीय अधिकार -पत्र में लिखित अधिकार अधिकतर नाकारात्मक अधिकार है। दूसरे शब्दों में इन अधिकारों द्वारा राज्य पर प्रतिबन्ध तथा सीमाएँ लगाई गई हैं, उदाहरणतः राज्य पर यह सीमा लगाई गई है कि राज्य जाति, धर्म , रंग, लिंग आदि के आधार पर कोई भेदभाव नही करेगा तथा न ही सरकारी पद पर

नियुक्ति करते समय ऐसा कोई भेदभाव करेगा। परन्तु इसके साथ ही कुछ अधिकार साकारात्मक रूप से मे भी दिए गए हैं। उदाहरणतः स्वतन्त्रता का अधिकार जिस द्वारा नागरिकों को भाषण तथा विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता समुदाय निर्माण करने की स्वतन्त्रता किसी जगह रहने तथा कोई भी पेशा अपनाने की स्वतन्त्रता आदि प्रदान की गई है।

अधिकार संघ, राज्यों तथा अन्य सरकारी संस्थाओं पर समान रूप से लागू है: मौलिक अधिकारों के भाग में ही संविधान राज्य शब्द की व्याख्या की गई है तथा यह कहा गया है कि राज्य शब्द के अर्थ है:- संघ, प्रान्त एवं स्थानीय संस्थाएँ। इस तरह अधिकार-पत्र द्वारा लगाई गई सीमाएँ संघ, प्रान्त एवं स्थानीय संस्थाओं-नगरपालिका तथा पंचायतों पर भी लागू है। इन सभी संस्थाओं को मौलिक अधिकारों द्वारा निर्धारित सीमाओं के अन्दर कार्य करना होता है।

भारतीय नागरिकों और विदेशियों में अन्तर: भारतीय संविधान में मौलिक अधिकारों के सम्बन्ध में नागरिकों तथा विदेशीयों में भेद किया गया है। कुछ मौलिक अधिकार ऐसे है जो नागरिकों तथा विदेशियों को समान रूप से प्राप्त है जैसे कानूनी समानता, धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार ऐसे है जो नागरिको को तो प्राप्त है परन्तु विदेशियों को नहीं जैसे-भाषण देने और विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता, घूमने फिरने और देश के किसी भी भाग में रहने की स्वतन्त्रता।

अधिकार स्थगित किये जा सकते है: हमारे संविधान में अधिकारों को संकटकाल में स्थगित किये जाने की व्यवस्था की गई है। बाहरी आक्रमण की सम्भावना से उत्पन्न होने वाले संकट का सामना करने के लिए राष्ट्रपति सम्पूर्ण भाग अथवा भारत के किसी भाग में सकंटकालीन घोषणा कर सकता है तथा ऐसी व्यवस्था में नागरिक के अधिकारो को स्थगित कर सकता है।

मौलिक अधिकार न्यायसंगत है: मौलिक अधिकार न्यायालयों द्वारा लागू किए जाते हैं मौलिक अधिकारें को लागू करवाने के लिए संविधान में विशेष व्यवस्थाएँ की गई हैं। संवैधानिक उपायों का अधिकार मौलिक अधिकारों में विशेष रूप से शामिल है। इसका अर्थ यह है कि कोई भी नागरिक जिसके मौलिक अधिकारों का उल्लंघन हो, हाई कोर्ट अथवा सुप्रीम कोर्ट से अपने अधिकारों की रक्षा के लिए अपील कर सकता है। हाईकोर्ट और सुप्रीम कोर्ट नागरिकों के अधिकारो की रक्षा के लिए कई प्रकार के लेख जारी करते हैं। यदि मौलिक अधिकारों का उल्लघंन सिद्ध हो जाए तो वे किसी व्यक्ति, संस्था अथवा सरकार द्वारा की गई गलत कारवाई को अवैध घोषित कर सकते है।

संसद अधिकारों को कम कर सकती है: संविधान के द्वारा संसद मौलिक अधिकारों वाले अध्याय सहित समूचे संविधान में संशोधन कर सकती है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि संसद साधारण कानूनों द्वारा मौलिक अधिकारों मे किसी प्रकार का संशोधन नही कर सकती। यदि संसद कोई ऐसा कानून बनाती है तो वह सर्वोच्च न्यायालय द्वारा रदद कर दिया जाएगा। अभिप्रायः यह है कि संवैधानिक संशोधन द्वारा ही संसद मौलिक अधिकारों मे संशोधन कर सकती हैं। राज्य विधान मण्डलों को मौलिक अधिकारों मे कमी करने की शक्ति प्रदान नहीं की गई है। धारा 368 में दी गई कार्यवाही से मौलिक अधिकारो का संशोधन किया जा सकता है। इसके लिए संसद की कुल सदस्या संख्या के बहुमत तथा दोनों सदनों में से प्रत्येक मे उपस्थित व मत देने वाले सदस्यों के 2/3 बहुमत का होना अनिवार्य है। लेकिन 1967 में गोलकनाथ मुकद्धमें में सर्वोच्च न्यायलय ने यह निर्णय दिया था कि संसद को मौलिक अधिकारों मे संशोधन करने की शक्ति नहीं हैं। 24 वें संशोधन द्वारा संसद की इस शक्ति को मान्यता दे दी गई तथा 24 अप्रैल 1973 को केशवनन्द भारती के केस में सर्वोच्च न्यायलय ने यह निर्देश दिया कि संसद मौलिक अधिकारों में संशोधन कर सकती है।

संविधान के अतिरिक्त और अधिकारों का न होना:

अमेरिका संविधान में यह व्यवस्था है कि नागरिकों को न केवल वे अधिकार प्राप्त है जो कि संविधान में दिए गए है अपितु उनके अतिरिक्त वे सब अधिकार भी नागरिकों को प्राप्त हैं जो कि नागरिकों के पास प्राचीन समय से हैं। दूसरे शब्दों में, अमेरिका के संविधान द्वारा प्राक तिक अधिकारों के सिद्धान्त को अप्रत्यक्ष रूप से मान्यता प्रदान की गई है। भारतीय संविधान में ऐसे सिद्धान्त का स्पष्ट रूप से खण्डन किया गया है। यह स्पष्ट कहा गया है कि

नागरिकों को केवल वे ही अधिकार प्राप्त है जो कि संविधान मे दिए गये है। संविधान मे दिए अधिकारों के अतिरिक्त किसी भी अधिकार को मान्यता नहीं दी गई है।

मौलिक अधिकारो को लागू करने के लिए विशेष संवैधानिक व्यवस्थाः

भारतीय संविधान की धारा 32 में लिखा है कि भारत में किसी भी अधिकारी द्वारा यदि किसी व्यक्ति के मौलिक अधिकारों को छिनने का प्रयत्न किया जाता है, तो वह व्यक्ति अपने अधिकारों को लागू कराने के लिए उचित विधि द्वारा सर्वोच्च न्यायालय मे जा सकता है। सर्वोच्च न्यायालय को नागरिकों के अधिकारो की रक्षा के लिए विभिन्न प्रकार के लेख (Writs) जैसे हैबियस कारपस (Habeas Corps), मण्डामस (Mandmus), प्रतिषेध (Prohibition), अधिकार प्रच्छा (Quowarrants) तथा उत्प्रेषण आदेश (writ of certiorari) आदि जारी करने का अधिकार है।

सामाजिक एवं आर्थिक अधिकारों का अभावः-

भारतीय अधिकार पत्र में सामाजिक एवं आर्थिक अधिकारों, उदाहरणतया काम करने का अधिकार आराम का अधिकार, सामाजिक सुरक्षा का अधिकार आदि शामिल नही किए गये हैं। यह व्यवस्था साम्यवादी, संविधानों के अनुरूप नही है। हाँ, इन अधिकारों को निर्देशक सिधान्तों के आधीन रखा गया है।

शस्त्रधारी सेनाओं के अधिकार सीमित किए जा सकते हैः-

संविधान के अनुच्छेद 33 के अनुसार संसद सेनाओं में अनुशासन को बनाए रखने के लिए मौलिक अधिकारों में संशोधन कर सकती है। संसद पुलिस, सीमा सुरक्षा आदि के विषण में उचित व्यवस्था कर सकती है।

भारतीय संविधान में अंकित मौलिक अधिकार (Fundamentals Rights enshrined in the Indian Constitution):

भारतीय संविधान के अध्याय 3 में धारा 12 से 35 तक 7 प्रकार के मौलिक अधिकार दिये गये थे। लेकिन 44वें संवैधानिक सेशोधन (1979) द्वारा सम्पति का अधिकार मौलिक अधिकारों से निकाल कर एक साधारण अधिकार मान लिया गया है। इस प्रकार अब भारतीय नागरिकों को निम्न 6 अधिकार प्राप्त है :-

(1) समानता का अधिकार (अनुच्छेद 14 से 18 तक)

(2) स्वतन्त्रता का अधिकार (अनुच्छेद 19 से 22 तक)

;(3) शोषण के विरूद्ध अधिकार (अनुच्छेद 23 से 24 तक)

(4) धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार (अनुच्छेद 25 से 28 तक)

(5) सांस्क तिक तथा शिक्षा के सम्बन्धी अधिकार (अनुच्छेद 29 से 30 तक)

(6) संवैधानिक उपचारों का अधिकार (अनुच्छेद 32)

अनुच्छेद 12 में शब्द 'राज्य' की परिभाषा की गई है जिसका अर्थ है कि केन्द्रीय कार्यपालिका, संसद राज्य की सरकारें और विधान सभाओं के अतिरिक्त, भारत के संविधान में स्थित सभी स्थानीय सरकारें तथा अन्य विभाग सम्मिलित हैं, जिन पर भारत सरकार का नियन्त्रण स्थापितहै। अनुच्छेद 13 के दो अर्थ है, एक तो इसके अर्न्तगत संविधान लागू होने के समय से पहले प्रचलित वे सब कानून रदद् कर दिये गये है जो संविधान द्वारा दिए गए मौलिक अधिकारों के विरोधी थे। दूसरे इसी धारा के अर्न्तगत राज्य पर संविधान द्वारा प्रदान किए गये मौलिक अधिकारों पर प्रतिबंध लगाने तथा उन्हें छीनें जाने वाला कानून बनाने पर प्रतिबन्ध लगाना है। लेकिन इस धारा को ऐसे अधिकारों का उल्लघंन करने वाले कानून को गैर-कानूनी घोषित करने का अधिकार नहीं हैं, जिसका उल्लेख संविधान के तीसरे अध्याय में नहीं किया गया है।

अनुच्छेद 12, 13 के अतिरिक्त 33, 34 तथा 35 धाराएँ भी मौलिक अधिकारों में सम्मलित है। धारा 33 के द्वारा संसद को यह शक्ति प्रदान की गयी है कि वह सेनाओं में अनुशासन आदि बनाये रखने के लिए नियम बनाते समय इन अधिकारों

में संशोधन कर सकती है। धारा 34 के अनुसार मार्शल लॉ की स्थिति में अधिकारों पर प्रतिबन्ध लगाए जाने की व्यवस्था की गई है। ऐसी स्थिति में लोगों के जीवन, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता आदि के अधिकार छीने जा सकते है। धारा 35 का सम्बध ऐसे कानूनो से है, जिनका उद्धेश्यों मौलिक अधिकारों को लागू करना है।

समानता का अधिकार (Right to Equality) अनुच्छेद 14 से 18 तक: समानता का अधिकार एक महत्वपूर्ण मौलिक अधिकार है। यह प्रजातन्त्रीय शासन की आधारशीला है। विश्व की कई क्रान्तियाँ समानता और स्वतन्त्रता की भावना से प्ररित हुई है। यद्यपि राज्य के लिए मनुष्यों के जीवन के प्रत्येक पहलु में समानता स्थापित करना सम्भव नही हैं परन्तु फिर भी राज्य समानता के लिए कुछ परिस्थितियाँ अवश्य उत्पन्न कर सकता है। प्रथम, एक समाज में विशेषाधिकारों को समाप्त कर सकता है। दूसरे यह प्रत्येक नागरिक को अपने जीवन के विकास के लिए समान अवसर प्रदान कर सकता है। भारतीय संविधान में नागरिकों को निम्नलिखित प्रकार की समानता प्रदान की गई है:-

कानून के समक्ष समानता (अनुच्छेद 14) (Equality before law):- अनुच्छेद 14 के अनुसार भारत के राज्य-क्षेत्र में राज्य किसी भी व्यक्ति को कानून के समक्ष समानता या कानून के समान संरक्षण से वंचित नही करेगा। अनुच्छेद के प्रथम भाग के शब्द 'कानून के समक्ष समानता बिट्रिश सामान्य विधि की देन हैं और इसके द्वारा राज्य पर यह बन्धन लगाया गया है कि वह सभी व्यक्तियों के लिए एक सा कानून बनाएगा तथा उन्हें एक समान लागू करेगा। सर आइवर जैनिंग्ज के अनुसार इसका अर्थ है कि "समान परिस्थितियों में सभी व्यक्तियों के साथ कानून का व्यवहार एक-सा होना चाहिए।" कानून का समान सरक्षण शब्द अमेरिका के संविधान से लिया गया है। इसका अर्थ है कि अपने अधिकारों की रक्षा के लिए प्रत्येक व्यक्ति समान रूप से न्यायलय की शरण ले सकता है।

कानून के समक्ष समानता का अर्थ यह नहीं है कि औचित्वपूर्ण आधार पर और कानून द्वारा मान्य किसी भेदभाव की भी व्यवस्था नहीं की जा सकती है। यदि कानून कर लगाने के सम्बन्ध में धनी और गरीब में तथा सुविधाएँ प्रदान करने में स्त्रियों और पुरूषों में भेद करता है तो इसे कानून के समक्ष समानता का उल्लंघन नही कहा जा सकता।

धर्म, नस्ल, जाति, लिंग या जन्म-स्थान के आधार पर भेदभाव का निषेध (अनुच्छेद 15)
(Prohibition of discrimination on grounds of Religion, Race, Caste, Sex or Place of Birth)

कानून के समक्ष समानता के साथ-साथ अनुच्छेद 15 में कहा गया है कि "राज्य के द्वारा धर्म, मूल-वंश, जाति, लिंग, जन्मस्थान आदि के आधार पर नागरिको के प्रति जीवन के किसी क्षेत्र में भेदभाव नहीं किया जाएगा।" कानून के द्वारा निश्चित किया गया है कि सब नागरिकों के साथ दुकानो, होटलों तथा सार्वजनिक स्थानों जैसे कुओं, तालाबों, स्नानग हों, सड़को आदि पर किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाएगा।

सार्वजनिक सेवाओं में अवसर की समानता, (अनुच्छेद16)
(Equality of Opportunity in Matters of Public Employment):

अनुच्छेद 16 के अनुसार "सब नागरिकों को सरकारी पद पर नियुक्ति के समान अवसर प्राप्त होगें और इस सम्बन्ध में केवल धर्म, मूल-वंश, जाति, लिंग या जन्म स्थान या इनमें से किसी के आधार पर सरकारी नौकरी या पद प्रदान करने में भेदभाव नहीं किया जाएगा।" इसके अर्न्तगत राज्य को यह अधिकार है कि वह राजकीय सेवाओं के लिए आवश्यक योग्यताएँ निर्धारित कर दे। संसद कानून द्वारा संघ में शामिल राज्यों को अधिकार दें सकती है कि वे उस पद के उम्मीद्वार के लिए उस राज्य का निवासी होना आवश्यक ठहरा दे। इसी प्रकार सेवाओं में पिछड़े हुए वर्गो के लिए स्थान सुरक्षित रखे जा सकते हैं।

छुआछात की समाप्ति-अनुच्छेद 17 (Abolition of untouchbility): सामाजिक समानता को और अधिक पूर्णता देने के लिए अस्प श्यता का निषेध किया गया है। अनुच्छेद 17 में कहा जगया हे कि "अस्प श्यता से उत्पन्न किसी अयोग्यता का लागू करना एक दण्डनीय अपराध होगां हिन्दू समाज से अस्प श्यता के विष को समाप्त करने के लिए संसद के द्वारा 1955 में अस्प श्यता अपराध अधिनियम (Untouchability effences Act) पारित किया गया है जो पूरे भारत पर लागू होता है। इस कानून के अनुसार अस्प श्यता एक दण्डनीय अपराध घोषित किया गया है।

उपाधियों की समाप्ति-अनुच्छेद 18 (Abolition of Titles) ब्रिट्रिश काल में सम्पति आदि के आधार पर उपाधियाँ प्रदान की जाती

थी जो सामाजिक जीवन में भेद उत्पन्न करती थी। अतः वर्तमान संविधान में इनका निषेध कर दिया गया है। अनुच्छेद 18 में यह दिया गया है कि "सेना अथवा विद्या सम्बन्धी उपाधियों के इलावा राज्य अन्य कोई उपाधियाँ प्रदान नहीं कर सकता।" इसके साथ ही भारत का कोई नागरिक बिना राष्ट्रपति की आज्ञा के विदेशी राज्य से भी कोई उपाधि स्वीकार नहीं कर सकता।

अनुच्छेद 18 की उपर्युक्त व्यवस्था के बावजूद भारत 1950 में से ही भारत रत्न, पदम् भूषण और पद्म श्री आदि उपाधियाँ भारत सरकार द्वारा प्रदान की जाती थी। मार्च 1977 में जनता पार्टी की सरकार के गठन के बाद महान्यायवादी ने परार्मश दिया कि ये उपाधियाँ अनुच्छेद 18 की धारा 1,2 और 3 के शब्दों तथा भावना के अनुरूप नही है। अतः जुलाई 1977 में संसद द्वारा एक विधेयक पारित कर इन उपाधियों को समाप्त कर दिया गया। 1980 में राजनीतिक स्थिति में फिर से परिवर्तन के साथ संसद के द्वारा एक प्रस्ताव पारित कर पुनः इस प्रकार की उपाधियां प्रदान करना शुरू कर दिया गया है।

स्वतन्त्रता अधिकार- अनुच्छेद 19 से 22 तक (Right to Freedom) मौलिक अधिकारों में स्वतन्त्रता का अधिकार बड़ा महत्वपूर्ण अधिकार है। हमारे संविधान में अनुच्छेद 19 से 22 तक में नागरिकों को जो स्वतन्त्रताएं दी गई है, उन्हें सामूहिक रूप में स्वतन्त्रता का अधिकार कहा गया है। इन स्वतन्त्रताओं को 'संविधान का प्राण व आत्म' कहा गया है। इस क्षेत्र में हमारे संविधान -निर्माताओं ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और सार्वजनिक सत्ता के बीच समझौता कराने का प्रयास किया है। यदि एक और व्यक्ति की स्वतन्त्रताओं की गणना की गई तो दूसरी और सामाजिक हित को ध्यान में रखते हुए राज्य द्वारा लगाए जाने वाले प्रतिबन्धों का वर्णन है।

धारा 19 के द्वारा भारतीय नागरिकों को 7 स्वतन्त्रताएँ दी गई थी जिसमें छठी स्वतन्त्रता, सम्पति प्राप्त करने तथा उसे बेचने की स्वतन्त्रता थी। परन्तु 44वें संशोधन द्वारा सम्पति के अधिकार मके साथ-साथ सम्पति की स्वतन्त्रता भी समाप्त कर दी गई। अब धारा 19 के अर्न्तगत नागरिकों को छः स्वतन्त्रताएँ प्राप्त है जो इस प्रकार हैः

भाषण देने तथा विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता (Right to freedom of Speech and Expression) : भारत के सभी नागरिको को विचार प्रकट करने, भाषण देने और अपने तथा अन्य व्यक्तियों के विचारों को प्रकट करने की स्वतन्त्रता प्राप्त है। प्रेस भी विचारों के प्रचार का एक साधन होने के कारण इसी में प्रेस की स्वतंत्रता भी शामिल है। मूल संविधान में भाषण देने तथा विचार प्रकट करने की स्वतंत्रता का क्षेत्र बहुत व्यापक था और अपमान लेख तथा वचन, न्यायालय अवमान, शिष्टाचार या सदाचार पर आद्यात और राज्य की सुरक्षा के हित में ही इसे सीमित किया जा सकता था। रमेश थापर बनाम मद्रास राज्य विवाद में सर्वोच्च न्यायालय ने अपनी व्याख्या भंग करने के कामों को उपयुर्क्त व्यवस्था के अन्तर्गत प्रतिबन्धित नही किया जा सकता। इसलिए संविधान के प्रथम संशोधन अधिनियम 1951 द्वारा विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता को और सीमित कर दिया गया और अब राज्य जिन आधारों पर विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर युक्ति-युक्त प्रतिबन्ध लगा सकता हैं, वे इस प्रकार हैः- राज्यों की सूरक्षा, विदेशी राज्यों से मित्रतापूर्ण सम्बन्ध, सार्वजनिक व्यवस्था, शिष्टाचार, न्यायालय अवमान, मानहानि या अपराध के लिए उतेजित करना। 1963 के 16 वें संशोधन द्वारा स्वतन्त्रता पर एक और प्रतिबन्ध लगा दिया गया है। अब यदि कोई व्यक्ति भारत से उसके किसी भाग को अलग करवान का प्रचार करे, तो राज्य के द्वारा उसकी विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता को सीमित किया जा सकता है। संक्षेप में, अनुच्छेद 19(2) में निम्नलिखित आधारों पर उल्लेख है। जिसके आधार पर नागरिकों की भाषण देने तथा विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता पर र्निबन्धन लगाए जा सकते हैं।

(i) राज्य की सुरक्षा (ii) विदेशी राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों के हित में (iii) लोक व्यवस्था (iv) शिष्टाचार या सदाचार के हित में (v) न्यायालय अवमान (vi) मानहानि (vii) अपराध के लिए उत्तेजित करना (viii) भारत की प्रभुता एवं अखण्डता।

प्रेस भी विचार और अभिव्यक्ति का ही एक साधन है। आपातकाल में प्रेस पर संसद और राज्य विधान मण्डलों की कार्यवाहियों के प्रकाशन पर रोक लगा दी गई थी। अब 44 वें संशोधन द्वारा संविधान में व्यवस्था की गई हैं कि प्रेस संसद तथा विधान मण्डलों की कार्यवाही को प्रकाशन के सम्बन्ध में पूर्ण स्वतन्त्र है। राज्य के द्वारा इस सम्बन्ध में प्रेस पर प्रतिबन्ध नही लगाया जा सकेगा।

हड़ताल करने का अधिकार अनुच्छेद 19(i) (क) के अर्न्तगत कोई मूल अधिकार नही है। अतएव किसी भी व्यक्ति को

हड़ताल करने से रोका जा सकता है। प्रदर्शन जब हड़ताल का रूप धारण कर लेता है तो वह विचारो की अभिव्यक्त करने का साधन मात्र नही रह जाता है।

शान्तिपूर्ण तथा बिना शस्त्रों के सम्मेलन करने की स्वतन्त्रता (Freedom to Ass emble Peacefully and Without Arms): - व्यक्तियों द्वारा अपने विचारो के प्रचार के लिए शान्तिपूर्वक और बिना शास्त्रों के सभा या सम्मेलन किया जा सकता है। उनके द्वारा जुलूस या प्रदर्शन का आयोजन भी किया जा सकता है। यह स्वतन्त्रता भी असीमित नही हैं। राज्यों के द्वारा सार्वजनिक सुरक्षा के हित में इस स्वतन्त्रता को सीमित किया जा सकता है।

संस्था तथा संघ बनाने की स्वतन्त्रता (Freedom to form associations and Unions): संविधान के द्वारा सभी नागरिको को संस्थाओं और संघ के निर्माण की स्वतन्त्रता दी गई है। लेकिन यह स्वतंत्रता भी उन प्रतिबन्धों के आधीन हैं, जिन्हें राज्य साधारण जनता के हितों को ध्यान में रखते हुए लगा सकता है। इस स्वतन्त्रता की आड़ में व्यक्ति ऐसे समुदायों या संस्थाओं का निर्माण नही कर सकता जो षडयन्त्र करे अथवा शान्ति और व्यवस्था को भंग करे।

भारत राज्य क्षेत्र में अबोध भ्रमण की स्वतन्त्रता (Freedom to Move Freely Throughout the territory of India): भारत के सभी नागरिक बिना किसी प्रतिबन्ध या विशेष अधिकार-पत्र के सम्पर्ण भारत के क्षेत्र में धूम सकते हैं। इस अधिकार पर राज्य सामान्य जनता के हित और अनुसूचित जातियों के हित में इस पर उचित प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है।

भारत के किसी भाग में रहने तथा बसने की स्वतन्त्रता (Freedom to Reside and Settle in any part of the Terriotory of India): भारत के सभी नागरिक अपनी इच्छानुसार स्थाई या अस्थाई रूप से भारत के किसी भी स्थान पर बस सकते हैं। निवास के सम्बन्ध में संविधान द्वारा की गई यह व्यवस्था इकहरी नागरिकता के नितान्त अनुरूप है। लेकिन राज्य के द्वारा सामान्य जनता के हित और अनुसूचित जातियों के हित में इस पर उचित प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है।

कोई भी व्यापार पेशा करने एवं व्यवसाय करने की स्वतंत्रता : (Freedom to Practice any Profession or to carry on any occupation, Trade or Business) : संविधान ने सभी नागरिकों को व्यापार, पेशा करने एवं व्यवसाय करने की स्वतंत्रता दी है। लेकिन राज्य जनता के हित में इन स्वतंत्रताओं पर उचित प्रतिबन्ध लगा सकता है। राज्य किन्ही व्यवसायों के करने के लिए आवश्यक योग्ताएँ निर्धारित कर सकता है अथवा किसी करोबार या उद्योग को पूर्ण अथवा आंशिक रूप से स्वंय अपने हाि में ले सकता है।

इस प्रकार संविधान द्वारा प्रदान की गई उपर्युक्त स्वतन्त्रताएं असीमित नही है और इन में से प्रत्येक पर प्रतिबन्ध लगा दिए गए है। संविधान सभा के कुछ सदस्यों द्वारा इन प्रतिबन्धों की आलोचना की गई थी। प्रो॰ के॰टी॰ शाह ने कहा था, "वास्तव में, 19 वें अनुच्छेद द्वारा प्रदान की गई ये स्वतन्त्रताएं इतनी सन्देहपूर्ण हो गई है कि इन स्वतन्त्रताओं की खोज करने के लिए दूरबीन का प्रयोग आवश्यक हो जाता है।" सरदार हुकम सिंह और कुछ अन्य सदस्यों ने भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये थे। लेकिन विद्वान व्यक्तियों ने इन तर्को के बाबजूद असीमित स्वतन्त्रता की बात को स्वीकार नही किया। वास्तव में, एक सभ्य समाज के अनतर्गत किसी भी व्यक्ति को असीमित रूप से कोई अधिकार या स्वतन्त्रता प्राप्त नही हो सकती है। इन प्रतिबन्धों के होंते हुए भी ये स्वतन्त्रताएं इस द ष्टि से सुरक्षित है कि इन स्वतन्त्रताओं पर केवल युक्तियुक्ता प्रतिबन्ध ही लगाए जा सकेंगे और प्रतिबन्ध की युक्तियुक्ता औचित्यता का निर्णय न्यायलय ही करेगा।

42 वें संवैधानिक संशोधन (1976) द्वारा संसद को अधिकार दिया गया था कि उसके द्वारा राष्ट्र विरोधी समुदायों ओर गतिविधियों पर प्रतिबनध लगाया जा सकता है। शासक दल के प्रभाव में संसद के द्वारा इस शक्ति का दुरूपयोग किया जा सकता है। अतः 43 वें संवैधानिक संशोधन (1977) द्वारा संसद की इस शक्ति को समाप्त कर दिया गया है। अपराध के दोषसिद्धि के विषय में संरक्षण अनुच्छेद 20 (Protection in respect of Conviction for Offences): अनुच्छेद 20 में कहा गया है कि "किसी व्यक्ति को उस समय तक अपराधी नही ठहराया जा सकता जब तक कि उसने अपराध के समय लागू किसी कानून का उल्लंघन न किया हो।" इसके साथ ही एक अपराध के लिए व्यक्ति को एक ही बार दण्ड दिया जा सकता है और किसी अपराध में अभियुक्त व्यक्ति का स्वयं अपने विरूद्ध गवाही देने के लिए बाध्य नही किया जा सकता।

जीवन और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की सुरक्षा- अनुच्छेद 21(Protection of Life and Personal Librety): अनुच्छेद 21में

जीवन के अधिकार को मान्यता दी गई है। इसमें कहा गया है कि "किसी व्यक्ति को उसके प्राण तथा दैहिक स्वाधीनता से विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया को छोड़कर अन्य किसी प्रकार से वंचित नही किया जा सकता। 44 वें संवैधानिक संशोधन (1979) द्वारा जीवन और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के अधिकार को और अधिक महत्व प्रदान किया गया है। अब आपातकाल में भी जीवन और स्वतन्त्रता के अधिकार को समाप्त या सीमित नहीं किया जा सकता।

गिरफतारी एवं नजरबन्दी के विरूद्ध रक्षा-अनुच्छेद 22 (Protection against Arrest and detention in Certain cases): अनुच्छेद 22 के द्वारा बन्दी बनाए जाने वाले व्यक्ति को कुछ अधिकार प्रदान किए गए है। इसमें कहा गया है कि उसके अपराध के बारे में अथवा बन्दी बनाने के कारणों को बतलाए बिना किसी व्यक्ति को अधिक समय तक बन्दीग्रह में नही रखा जाएगा। उसे वकील से परामर्श करने और अपने बचाव के लिए प्रबन्ध करने का अधिकार होगाा तथा बन्दी बनाए जाने के बाद 24 घन्टे के अन्दर-अन्दर उसे निकटतम न्यायाधीश के सामने उपस्थित किया जाएगा। अनुच्छेद 22 के द्वारा बन्दी बनाए जाने वाले व्यक्तियों को जो अधिकार प्रदान किए गए हैं वे दो प्रकार के अपराधियों पर लागू नहीं होगें। प्रथम, शत्रु देश के निवासियों पर और द्वितीय निवारक, नजरबन्दी अधिनियम के अन्तर्गत गिरफतार व्यक्त्यिों पर।

शोषण के विरूद्ध अधिकारः अनुच्छेद 23 तथा 24 (Right Against Exploitation): अनुच्छेद 23 तथा 24 के अन्तर्गत नागरिकों को शोषण के विरूद्ध अधिकार दिया गया हैं इसके परिणामस्वरूप भारत का कोई नागरिक किसी दूसरे नागरिक का शोषण नही कर सकता।

अनुच्छेद 23 द्वारा मानव के क्रय-विक्रय (Traffic in Human Beings) तथा बेगार की मनाही कर दी गई है और इस व्यवस्था का किसी प्रकार से कोई उल्लघंन कानून के अनुसार दंडनीय अपराध माना जाएगा। भारत के अनेक शताब्दियों से किसी न किसी रूप में दासता की प्रथा विद्यमान थी जिसके अनुसार हरिजनों मजदूरों तथा स्त्रियों आदि पर विभिन्न प्रकार के अत्याचार किए जाते थे नए संविधान के अन्तर्गत शोषण के इन सभी रूपों की कानून के अनुसार दण्डनीय घोषित कर दिया गया है।

लेकिन इस अधिकार का एक अपवाद है। सार्वजनिक कार्यो के लिए सरकार अनिवार्य श्रम की योजना लागू कर सकती है तथा संकट अथवा युद्ध के समय प्रत्येके योग्य व्यक्ति को सेना में भर्ती होने के लिये विवश कर सकती है। लेकिन ऐसा करने में सरकार व्यक्तियों में धर्म, जाति, नस्ल तथा वर्ग आदि के आधार पर कोई भेदभाव नही करेगी।

अनुच्छेद 24 में यह कहा गया है कि 14 वर्ष से कम आयु वाले किसी बच्चे को किसी कारखाने, खान या अन्य किसी ऐसे जोखिम वाले काम पर नहीं लगाया जा सकता। भारत के विभिन्न भागों में शोषण का एक यप बन्धक मजदूरों के रूप में प्रचलित था जिसे समाप्त करने के लिए सरकार के द्वारा कुछ कदम उठाए गए है। इस प्रकार शोषण के विरूद्ध अधिकार का उद्धेश्य एक वास्तविक सामाजिक लोकतन्त्र की स्थापना करना है।

धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकारः अनुच्छेद 25 से 28 तक (Right to Freedom of Religion): भारतीय संविधान के अनुच्छेद 25 से 28 तक में धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार दिया गया हैं इन धाराओं के अन्तर्गत स्वतन्त्रताओं का उल्लेख बहुत अधिक व्यापक शब्दों में और धार्मिक अल्पसंख्यकों की पूर्ण सन्तुष्टि को ध्यान में रखकर किया गया है।

अन्तःकरण की स्वतन्त्रताः 25 धारा में कहा गया है कि सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य तथा इस भाग के अन्य उपबन्धों के अधीन रहते हुये सभी व्यक्तियों को अन्तःकरण की स्वतन्त्रता तथा कोई भी धर्म अंगीकार करने उसका अनुसरण एवं प्रचार करने का अधिकार प्राप्त होगा। सिखो द्वारा क पाण धारण करना और लेकर चलना धार्मिक स्वतन्त्रता का अंग माना गया है।

धार्मिक मामलो का प्रबन्ध करने का अधिकारः- धारा 26 प्रत्येक धर्म के अनुयायिओं को निम्न अधिकार प्रदान करती है।

i) धार्मिक संस्थाओं तथा दान से स्थापित सार्वजनिक सेवा संस्थाओं की स्थापना और उनके पोषण का अधिकार।

ii) धर्म सम्बन्धी निजी मामलों का स्वयं प्रबन्ध करने का अधिकार।

iii) चल तथ अचल सम्पति के अर्जन और स्वामित्व का अधिकार।

iv) उत्तम सम्पति का विधि के अनुसार संचालन करने का अधिकार।

धार्मिक व्यय के लिए निश्चित धन पर कर की अदायगी से छूटः धारा 27 में कहा गया है कि राज्य किसी भी व्यक्ति को ऐसे कर देने के लिए बाध्य नहीं कर सकता है, जिसकी आय किसी विशेष धर्म अथवा धार्मिक सम्प्रदाय की उन्नति या पोषण के व्यय करने के लिए विशेष रूप से निश्चित कर दी गई है।

राजकीय शिक्षण संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा निषिदः भारत राज्य का स्वरूप धर्म निरपेक्ष राज्य का है, जिसे धार्मिक क्षेत्र में निष्पक्ष रहना है। अतः अनुच्छेद 28 में कहा गया है कि राजकीय विधि से संचालित किसी भी शिक्षण संस्था में किसी प्रकार की धार्मिक शिक्षा प्रदान नही की जाएगी। इसके साथ ही राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त या आर्थिक सहायता प्राप्त शिक्षण संस्था में किसी व्यकित को किसी धर्म विशेष की शिक्षा ग्रहण करने के लिए बाध्य नही किया जा सकेगा। अन्य अधिकारों की भाँति ही धार्मिक स्वतन्त्रता के अधिकार पर भी प्रतिबन्ध लगाए गए है। राज्य सार्वजनिक व्यवस्था, नैतिकता एवं स्वास्थ आदि के हित में इसके प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगा सकता है। इसी प्रकार आर्थिक, राजनीतिक या किसी प्रकार के सार्वजनिक हित की द ष्टि से राज्य धार्मिक क्षेत्र में हस्तक्षेप कर सकता है। राज्य सामाजिक हित और सुधार सम्बन्धी कार्य भी कर सकता है, चाहें ऐसा करते हुए धार्मिक क्षेत्र में हस्ताक्षेप ही क्यों न करना पडे।

सांस्क तिक और शैक्षिक अधिकारः अनुच्छेद 29 और 30 (Cultural and Educational Rights) हमारे संविधान के द्वारा भारत के सभी नागरिकों को संस्क ति और शिक्षा सम्बन्धी स्वतन्त्रता का अधिकार भी दिया गया है। धारा 29 के अनुसार, नागरिकों के प्रत्येक वर्ग को अपनी भाषा, लिपि या संस्क ति सुरक्षित रखने का पूर्ण अधिकार प्राप्त है। यह भी कह दिया गया हैं कि किसी राजकीय या राजकीय सहायता से संचालित शिक्षण संस्था में प्रवेश के सम्बन्ध में मूलवंश जाति, धर्म और भाषा या इनमें से किसी के आधार पर भेदभाव नही किया जाएगा।

धारा 30 के अनुसार धर्म या भाषा पर आधारित सभी अल्पसंख्यक वर्गो को अपनी रूचि की शैक्षषिक संस्थाओं की स्थापना तथा उनके प्रशासन का अधिकार होगा। यह भी व्यवस्था की गई है कि शिक्षण संस्थाओं को अनुदान देने में राज्य इस आधार पर भेदभाव नही करेगा कि वे धर्म या भाषा पर आधारित किसी अल्पसंख्यक वर्ग के अधीन है। 44 वें संवैधानिक संशोधन द्वारा सम्पति के मौलिक अधिकार को समाप्त करने का जो काम किया है उसके सम्बन्ध मे यह स्पष्ट कर दिया गया है कि इससे अल्पसंख्यकों के अपनी रूचि की शिक्षण संस्थाओं की स्थापना तथा इन संस्थाओं के प्रशासन के अधिकार पर कोई आघात नही पहुंचेगा।

संवैधानिक उपचारों का अधिकारः अनुच्छेद 32 (Right to Constitutional Remedies) संविधान में मौलिक अधिकारों के उल्लेख से अधिक महत्वपूर्ण बात उन्हें क्रियान्वित करने की व्यवस्था है, जिसके बिना मौलिक अधिकार अर्थहीन सिद्ध होंगे। संविधान निर्मात्ताओं ने इस उद्धेश्य से संवैधानिक उपचारों के अधिकार को भी संविधान में स्थान दिया है, जिसका अर्थ है कि नागरिक अधिकारों को लागू करने के लिए उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों की शरण ले सकता है। इन न्यायालयों के द्वारा विधानपालिका द्वारा निर्मित उन सभी कानूनों और कार्यपालिका के कार्यो को असंवैधानिक घोषित कर दिया जाएगा। जो मौलिक अधिकारों के विरूद्ध है। संवैधानिक उपचारों के अधिकार की व्यवस्था के महत्व को द ष्टि में रखते हुए डॉ॰ अम्बेंडकर ने कहा था, "यदि कोई मुझ से पूछे कि संविधान का वह कौन-सा अनुच्छेद है जिसके बिना संविधान शून्य प्राय हो जाएगा तो इस अनुच्छेद (32) को छोड़कर मैं और किसी अनुच्छेद की और संकेत नही कर सकता। यह तो संविधान का ह द्य तथा आत्मा है।" भूतपूर्व प्रधान न्यायाधीश गजेन्द्र गडकर ने 'इसे भारतीय संविधान का सबसे प्रमुख लक्षण' और संविधान द्वारा स्थापित 'प्रजातान्त्रिक भवन की आधारशिला कहा है।

उच्चतम न्यायालय को मौलिक अधिकारों को प्रवर्तित कराने के लिए समुचित निर्देश आदेश या रिट जिनके अर्न्तगत बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, अधिकार प च्छा, उत्प्रषण और समान प्रकार की रिट शमिल हैं, जारी करने की शक्ति प्राप्त है। अनुच्छेद 32 उच्चतम न्यायालय को नागरिकों के मौलिक अधिकारों के संरक्षण के पवित्र कार्य का पालन करने वाले सजग प्रहरी के समान है।" संक्षेप में, उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के द्वारा नागरिकों के मौलिक अधिकारों की रक्षाके

लिए निम्न पांच प्रकार के लेख जारी किए जा सकते है-

(i) **बन्दी प्रत्यक्षीकरण** (Habeas Corpus): व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के लिए यह ले ख सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। यह उस व्यक्ति की प्रार्थना पर जारी किया जाता है यह समझा जाता है कि उसे अवैध रूप से बन्दी बनाया गया है। इसके द्वारा न्यायालय, बन्दीकरण करने वाले अधिकारी को आदेश देता है कि वह बन्दी बनाए गए व्यक्ति को निश्चित समय और स्थान पर उपस्थित करे, जिससे न्यायलय बन्दी बनाये जाने के कारणों पर विचार कर सके। दोनों पक्षों की बात सुनकर न्यायालय इस बात का निर्णय करता है कि नजरबन्दी वैद्य है या अवैद्य, और यदि अवैद्य है तो न्यायालय बन्दी को फौरन मुक्त करने की आज्ञा दे देता है। इस प्रकार अनुचित एवं गैर-कानूनी रूप से बन्दी बनाए गए व्यक्ति बन्दी प्रत्यक्षीकरण के लेख के आधार पर स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकते है।

(ii) **पदमादेश** (Mandamus): यह लेख उस समय जारी किया जाता है जब कोई पदाधिकारी अपने सार्वजनिक कर्त्तव्य का निर्वाह नही करता। इस प्रकार के आज्ञापत्र के आधार पर पदाधिकारी को उसके कर्त्तत्व का पालन करने का आदेश जारी किया जाता है।

(iii) **प्रतिषेध** (Prohibition): यह आज्ञापत्र उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों द्वारा निम्न न्यायालयों तथा अर्द्ध न्यायिक न्यायाधिकरणों को जारी करते हुए आदेश दिया जाता है कि इस मामले मे अपने यहां कार्यवाही स्थगित कर दें, क्योंकि यह मामला उनके अधिकार क्षेत्र के बाहर है।

(iv) **उत्प्रेषण** (Certiorari): यह लेख अधिकतर किसी विवाद को निम्न न्यायालय से उच्च न्यायालय में भेजने के लिए जारी किया जाता है। जिससे वह अपनी शक्ति से अधिक अधिकारों का उपयोग न करें या अपनी शक्ति का दुरूपयोग करते हुये न्याय के प्राक तिक सिद्धान्तों को भंग न करे। इस लेख के आधार पर उच्च न्यायालय निम्न न्यायाधीशों से किन्ही विवादों के सम्बन्ध में सूचना प्राप्त कर सकते है।

अधिकार -प च्छा (Quo-warrants): जब कोई व्यक्ति ऐसे पदाधिकारी के रूप में कार्य करने लगता है, जिसके रूप में कार्य करने का उसे वैधानिक रूप से अधिकार नहीं है तो न्यायालय अधिकार-प च्छा के आदेश द्वारा उस व्यक्ति से पूछता है कि वह किस आधार पर इस पद पर कार्य कर रहा हैं और जब तक वह इस प्रश्न का सन्तोषजनक उत्तर नहीं देता, वह कार्य नहीं कर सकता।

व्यक्तियों द्वारा साधारण परिस्थितियों में भी न्यायालयों की शरण लेकर अपने मौलिक अधिकारो की रक्षा की जा सकती है, लेकिन युद्ध, बाहरी आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह जैसी परिस्थितियों में, जबकि राष्ट्रपति के द्वारा संकट काल की घोषणा कर दी गई हो, मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए कोई व्यक्ति किसी न्यायालय से प्रार्थना नही कर सकेगा। इस प्रकार संविधान के द्वारा संकट काल में नागरिकों के मौलिक अधिकारों (जीवन और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के अधिकार को छोड़ कर) को स्थापित करने की व्यवस्था की गई है।

मौलिक अधिकारों का मूल्याकंन (Evaluation of fundamental Rights):

भारतीय संविधान में वर्णित मौलिक अधिकारों की मुख्य रूप से निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की जाती है:-

i) मौलिक अधिकारो की इस आधार पर आलोचना की गई है कि इसमें कुछ ऐसी बातों को छोड़ दिया गया है जिन्हें मौलिक अधिकार घोषित किया जाना चाहिए था। इस श्रेणी के काम करने का अधिकार कुछ परिस्थितियों में राज्य से सहायता प्राप्त करने का अधिकार और निशुल्कः शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार, आदि में रखा जा सकता है।

लेकिन उपयुर्क्त आलोचना करने वाले व्यक्ति भूल जाते है कि किसी भी देश के संविधान द्वारा देश में विद्यामान साधनों के आधार पर ही अधिकार दिए जा सकते हैं और भारतवर्ष के पास इतने आर्थिक साधन नही है कि अब तक भी इन अधिकारों को लागू किया जा सके। इतना होने पर भी भारतीय संविधान के निर्माता इन अधिकारों की और से उदासीन नही थे, इसीलिए उन्होनें इन अधिकारों को उन नीति निर्देशक सिद्यान्तों में स्थान दिया, जिन्हें लागू करना शासकों का परम कर्त्तव्य समझा गया है।

ii) आलोचकों का कथन है कि भारतीय संविधान में दिए गए मौलिक अधिकारों के साथ इतने अधिक प्रतिबन्ध लगा दिए गए है कि यह समझना भी कठिन है कि व्यक्ति को मौलिक अधिकारो से क्या मिला। संविधान सभा में ही सरदार हुक्मसिंह ने कहा था कि 'यदि हम सवतन्त्रताओं को व्यवस्थापिका की इच्छा पर ही छोड़ देते है जो कि एक राजनीतिक दल के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हैं, तो इन स्वतन्त्रताओं के असित्त्व में भी सन्देह हो जाएगा।" इस समूह के आलोचक कहते है कि संविधान एक हाथ से मौलिक अधिकार देता है औद दूसरे हाथ से प्रतिबन्धों के माध्यम से उन्हें ले लेता है।

लेकिन इन श्रेणी के आलोचक भूल जाते है कि असीमित स्वत्न्त्रता और अधिकार प्रदान करना न तो सम्भव है और न ही हितकर। मौलिक अधिकारों पर जो प्रतिबन्ध लगाए जांएगें उनका औचित्यपूर्ण होना आवश्यक है और प्रतिबन्धों के औचित्य के निर्णय की शक्ति विधानपालिका या कार्यपालिका को नही, वरन् न्यायपालिका को प्रदान की गई है। इस सम्बन्ध में भूतपूर्व न्यायाधीश छागला अपनी पुस्तक 'Law, Liberty and Life' में लिखते है कि "यह कहा जाता हे कि हमारा संविधान एक हाथ से अधिकार प्रदान करता है और दूसरे से असंख्य अपवादों और प्रतिबन्धों के माध्यम से अधिकारो को सीमित कर इन्हे वापस ले लेता है मेरे विचार से यह आलोचना उचित नहीं। भारतीय सविधान के द्वारा असंख्य अपवादों और प्रतिबन्द्धों के माध्यम से मौलिक अधिकारों को सीमित कर दिया हैं, परन्तु संविधान के द्वारा इस प्रकार के प्रतिबन्धों से औचित्य के निर्णय की शक्ति व्यवस्थापिका या कार्यपालिका को नहीं वरन् न्यायपालिका को सौंपी गई है और न्यायपालिका स्वतन्त्र होने के कारण नागरिक अपने अधिकारों की रक्षा के लिए न्यायापालिका पर भरोसा कर सकते हैं।"

(iii) संविधान के द्वारा संकटकालीन परिस्थितियों में कार्यपालिका को मौलिक अधिकारों के स्थगन का जो अधिकार दिया गया है ओर संकट काल के अतिरिक्त सामान्य परिस्थितियों मे भी रिवारक निरोध की जो व्यवस्था की गई है वह आलोचना का विषय रही है। श्री हरिविष्णु कामथ ने इन व्यवस्थाओं का विरोध करते हुए संविधान सभा में कहा था, "इस व्यवस्था द्वारा हम तनाशाही राज्य की और पुलिस राज्य की स्थापना कर रहे है।" इसी प्रकार संविधान सभा के सदस्य श्री सोमनाथ लाहिडि ने कहा था कि "भारतीय संविधान में मौलिक अधिकारों की व्यवस्था पुलिस के सिपाही के द ष्टिकोण से की गई है, न कि एक स्वतन्त्र तथा संघर्षशील राष्ट्र ही द ष्टि से।"

लेकिन संविधान की व्यवस्थाओं का अध्ययन करते हुए यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि राष्ट्र की सुरक्षा व्यक्ति की स्वतन्त्रता से कहीं अधिक मूल्यवान है। शासन को मौलिक अधिकारों के अतिक्रमण का अधिकार केवल आकस्मिक परिस्थितियों में ही प्राप्त है और ऐसी परिस्थिति अल्पकालिक ही होती है। इस द ष्टि से मौलिक अधिकारों के अस्तिव को बनाए रखने के लिए ही आवश्यक है। श्री अल्लादि क ष्णास्वामी अययर ने मौलिक अधिकारों के स्थगन की व्यवस्था के सम्बन्ध में संविधान सभा मे कहा था, "यह व्यवस्था अत्यन्त ही आवश्यक है। यहि व्यवस्था संविधान का जीवन होगी। इससे प्रजातन्त्र की हत्या नही वरन् रक्षा होगी।

मौलिक संविधान के अन्तर्गत संकटकालीन परिस्थितियों मे मौलिक अधिकारों के स्थगन की जो व्यवस्था की गई, उसके सम्बन्ध में यह आशा की गई थी कि शासन के द्वारा अत्यन्त विशेष परिस्थितियों में ही कम समय के लिए ही इस शक्ति का प्रयोग किया जाएगा लेकिन जून 1975 में लागू किए गए और 19 माह तक जारी रहने वाले आपातकाल में इस शक्ति का निश्चित रूप से दुरूपयोग किया गया। इस दुरूपयोग ने यह आंशका उत्पन्न की कि भविष्य में भी ऐसा किया जा सकता हैं अतः 44 वें संवैधानिक संशोधन के आधार पर ऐसी कुछ व्यवस्थाएं की गई है जिससे शासन द्वारा अपनी शक्तियों का दुरूपयोग करते हुए नागरिक अधिकार और स्वतन्त्रताओं पर अनावश्यक ओर अनुचित प्रतिबन्ध न लगाए जा सकें।

मौलिक अधिकारों के स्थगन की व्यवस्थाएं कुछ सीमा तक राष्ट्रीय सुरक्षा के हित मे आवश्यक होने पर भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि भारतीय संविधान में राष्ट्रीय सुरक्षा की द ष्टि से आवश्यकता से अधिक सावधानी बरती गई है। ऐसी स्थिति मे मानवीय स्वतन्त्रता और अधिकारों की रक्षा के लिए स्वयं व्यक्तियों और न्यायालयों द्वारा पर्याप्त सजगता का परिचय दिया जाना चाहिए।

अध्याय-7
राज्य नीति के निर्देशक सिद्धान्त
(Directive Principles of State Policy and Fundamental Duties)

संविधान के भाग IV में राज्य-नीति के निर्देशक सिद्धान्तों का वर्णन हैं। निर्देशक सिद्धान्तों की विचारधारा को आयरलैण्ड के 1937 के संविधान से ग्रहण किया गया है। आयरलैण्ड के संविधान में इसी प्रकार के प्रावधान है।

संविधान के इस भाग में 16 अनुच्छेदों (36 से 51) के समूह में संविधान -निर्माताओं ने उन आदर्शो, अधिकारों तथा सिद्धान्तों को लिखा जो कि वे भारत तथा भारतीयों के आर्थिक एवं सामाजिक विकास के लिए आवश्यक समझते थे। संविधान के भाग III में उन्होंने भारत के लिए राजनैतिक लोकतन्त्र का आधार, स्थापित किया तथा भाग IV में उन्होंने भारत में आर्थिक तथा सामाजिक लोकतन्त्र लाने के लिए राज्य के सम्मुख कुछ आर्दश रखे जिन्हें कि राज्य-नीति के निर्देशक सिद्धान्तों का नाम दिया गया।

राज्य-नीति के निर्देशक सिद्धान्त वह सिद्धान्त है जिन्हें व्यवहार में अपनाने के उद्धेश्य को सामने रखकर ही राज्यों की अपनी नीति का निर्माण करना होता है। यह वह सिद्धान्त है जिन पर चलकर ही भारत में एक पूर्ण कल्याणकारी राज्य की स्थापना की जा सकती है।

लोकतन्त्र की सफलता के लिए यह आवश्यक होता है कि राज्य में राजनैतिक लोकतन्त्र की स्थापना के साथ-साथ आर्थिक एवं सामाजिक लोकतन्त्र की स्थापना की जाए। राजनैतिक लोकतन्त्र आर्थिक तथा सामाजिक लोकतन्त्र की आधार-शीाला पर ही स्थायी रह सकता है। संविधान द्वारा भारत में राजनैतिक लोकतन्त्र की व्यवस्था कर संविधान-निर्माताओं ने भारत में आर्थिक एवं सामाजिक लोकतन्त्र की स्थापना के लिए इस भाग में राज्य के लिए विशेष निर्देश लिखे। डा॰ अम्बेडकर के शब्दों में, "निर्देशक सिद्धान्त देश में आर्थिक तथा सामाजिक लोकतन्त्र की स्थापना के उद्धेश्य से विशेषतः बनाए गए है। " संविधान की प्रस्तावना में वर्णित न्याय, स्वतन्त्रता, समानता तथा भ्रात -भाव के उद्धेश्यों की प्राप्ति के लिए तथा भारत में कल्याणकारी राज्य की स्थापना के लिए इन सिद्धान्तों को संविधान में दिया गया।

संविधान-निर्माण सभा के लगभग सभी सदस्यों ने संविधान में इस सिद्धान्त को शामिल करने का समर्थन किया। कुछ सदस्यों ने तो यहाँ तक कहा कि इन सिद्धान्तों को संविधान की प्रस्तावना के एक दम बाद दिया जाना चाहिए। कुछ सदस्यों के मत में इन सिद्धान्तों का नाम बदलकर इन्हें 'राज्य के मौलिक सिद्धान्तों (Fundamental Principles of State) का नाम देना चाहिए। कहने का अर्थ है कि संविधान सभा में इन सिद्धान्तों के महत्व पर काफी अधिक बल दिया गया। मौलिक अधिकारों से सम्बन्धित सलाहकार समिति ने भी अपनी रिपोर्ट में इन सिद्धान्तों क शामिल किये जाने का सुझाव दिया।

राज्य-नीति के निर्देशक सिद्धान्त न्यायालय द्वारा कानूनी रूप से पर्वतनीय नही है। राज्य को इन्हें लागू करने के लिए बाध्य नही किया जा सकता। फिर भी संविधान में स्पष्ट किया गया है कि देश की शासन व्यवस्था को चलाने में ये तत्व मौलिक हैं और कानून बनाने में इन सिद्धान्तों को लागू करना राज्य का कर्त्तव्य है (अनुच्छेद 37)। मौलिकता के इस द ष्टि कोण को देखते हुए जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि कुछ निश्चित उद्धेश्यों को प्राप्त करनें में ये सिद्धान्त महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते है। ग्रेनवेल ऑस्टिन ने इस सिद्धान्तों को सामाजिक क्रान्ति के लक्ष्य प्राप्त करने में सहायक बताया है। उनके शब्दों में, "राज्य की इन सकारातमक बाध्यताओं को स्थापित कर संविधान सभा ने आम जनता के हित के लिए व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और जन-कल्याण के बीच माध्यम मार्ग बनाने, कुछ व्यक्तियों को विशेषाधिकार प्रदान न करने और सभी नागरिकों को समान रूप से सत्ता में सहभागिता प्रदान करने का उत्तरदायित्व भारत की आगामी सरकारों को सौंफा।

इस प्रकार निर्देशक सिद्धान्त सरकार के विभिन्न अंगों के लिए कार्य-नीति निर्धारित करते है। इन्होनें देश के प्रशासन के लिए एक आर्दश स्थापित किया है और लोगों को आशन्वित किया हैं कि भारत में राज्य की भूमिका सामाजिक और आर्थिक लोकतन्त्र स्थापित करना है।

निर्देशक सिद्धान्तों का स्वरूपः

राज्य की नीति के निर्देशक सिद्धान्तों से सम्बन्धित अध्याय में कुल 19 उद्धेश्यों का उल्लेख हैं, जिनके अंतर्गत राज्य को अनेक कल्याणकारी उपाय करने हैं। इनका उद्धेश्य नागरिकों को आजीविका के पर्याप्त साधन उपलब्ध कराना, जीवन-स्तर में सुधार करना, जन-स्वास्थय में सुधार करना, निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा उपलब्ध कराना और यह सुनिश्चित करना है कि आर्थिक प्रणाली के क्रार्यान्वयन से सम्पति एवम् उत्पादन के साधनों का केन्द्रीकरण न होने पाए।

निर्देशक सिद्धान्तों का लक्ष्य राज्य के कुछ कर्त्तव्य निर्धारित कर आम जनता को वास्तविक स्वतन्त्रता प्रदान कराना है। यह निर्देशक सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :-

1. राज्य के विकास के अनुरूप एक सामाजिक व्यवस्था सुनिश्चित करना (अनुच्छेद 38)
2. निम्नलिखित उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए राज्य की नीति को निर्देशित करना :
   - (i) सभी नागरिकों, महिलाओं और पुरूषों को समान रूप से आजीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त हो सकें,
   - (ii) समुदाय के भौतिक संसाधनों का निंयन्त्रण और स्वामित्व इस प्रकार वितरित किया जाए जिससे जन-हित का अधिकतम लाभ हो सकें,
   - (iii) आर्थिक प्रणाली के संचालन से सम्पति और उत्पादन के साधनों का इस प्रकार से केन्द्रीकरण न होने पाए जो आम जनता के लिए हानिकारक हो,
   - (iv) महिलाओं और पुरूष दोनों के लिए समान कार्य के लिए समान वेतन हो,
   - (v) कामगारों महिलाओं और पुरूषों तथा कम उम्र के बच्चों के स्वास्थ्य और कार्यशक्ति का दुरूपयोग न हो और आर्थिक परेशानी के कारण नागरिकों को ऐसे व्यवसाय न करने पड़े जो उनकी आयु और स्वास्थ्य के प्रतिकूल हों,
   - (vi) बच्चों को स्वतन्त्र और गरिमामय वातावरण के स्वस्थ विकास करने के अवसर और सुविधाएँ दी जाएँ और बच्चों व युवाओं की शोषण तथा नैतिक और भौतिक परिणाम से रक्षा की जाए (अनुच्छेद-39)
3. समान न्याय और निःशुल्क कानूनी सहायता उपलब्ध कराना (अनुच्छेद-39 क)
4. ग्राम पंचायतों की स्थापना करना (अनुच्छेद-40)
5. काम के अधिकार, शिक्षा का अधिकार, तथा बेरोजगारी की अवस्था में सार्वजनिक सहायता, व द्धावस्था, बिमारी एवं अवस्था और अन्य अंवाछनीय मामलों में सहायता करने को सुनिश्चित करने के लिए प्रभावी प्रावधान करना,(अनुच्छेद-41.)
6. कार्य करने की न्यायसंगत और मानवोचित दशाओं और महिलाओं को गर्भावस्था के समय आराम करने का अधिकार उपलब्ध कराना, (अनुच्छेद-42)
7. कामगारों को दैनिक जीवन भत्ते इत्यादि उपलब्ध करान, (अनुच्छेद-43)
8. सरकारी उपक्रमों के प्रबन्ध में कर्मचारियों की सहभागिता सुनिश्चित करने के लिए उचित वैधानिक अथवा अन्य व्यवस्था करना (अनुच्छेद 43क)
9. समस्त भारत के नागरिकों के लिए एक समान संहिता सुनिश्चित करना (अनुच्छेद-44)
10. 14 वर्ष के बालकों के निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा उपलब्ध कराने का प्रावधान (अनुच्छेद-45)
11. अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों और कमजोर वर्गो के लिए शैक्षिक और आर्थिक रूचि विकसित करना

(अनुच्छेद-46)

12. पोषण की मात्रा तथा जीवन स्तर में व द्धि करना और जन-कल्याण में सुधार करना (अनुच्छेद-47)

13. क षि और पशु-पालन का विकास (अनुच्छेद-48)

14. पर्यावरण का संरक्षण एवं उसमें सुधार करना और देश की जन सम्पदा एवं वन्य जीवन की सुरक्षा करना (अनुच्छेद-48 क)

15. राष्ट्रीय महत्व के स्मारकों, ऐतिहासिक स्थलों एवं वस्तुओं की सुरक्षा करना (अनुच्छेद-48 क)

16. न्यायपालिका को कार्यपालिका से अलग करने के लिए समुचित कार्यवाही करना (अनुच्छेद-50)

17. (i) अर्न्तराष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा को बढ़ावा देना।

(ii) राष्ट्रों के बीच न्यायसंगत एवं सम्मानजनक सम्बन्ध बनाए रखना।

(iii) अन्य संगठित संगठनों के साथ कार्य-व्यापार में अर्न्तराष्ट्रीय कानूनों एवं सन्धियों को पूरा सम्मान करना।

(iv) अर्न्तराष्ट्रीय विवादों का समाधान मध्यस्थता द्वारा करने के लिए प्ररित करना (अनुच्छेद-51)

निर्देशन सिद्धान्तों के उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि, इन सिद्धान्तों द्वारा राज्य को यह निर्देश दिए गए है कि वह अपनी नीति इस प्रकार बनाए जिससे जन कल्याण के लिए बड़े पैमाने पर उपाय किए जा सके। जरूरी नहीं है कि ये एक समान हों। कुछ उपाय पहले से मौलिक अधिकारों मे दी गई व्यवस्थाओं में विस्तार कर सकते है। संविधान में 14 वर्ष से कम आयु के सभी बच्चों के लिए निशुल्क और अनिवार्य शिक्षा जैसी महत्वपूर्ण व्यवस्था भी की गई है। अन्य निर्देशक सिद्धान्तों से भिन्न इसके लिए संविधान लागू होने की तारीख से 10 वर्ष का समय दिया गया है जिससे इस वास्तविकता का पता चलता है कि बड़े पैमाने पर लोगों को साक्षर करना लोकतन्त्र का मुख्य आधार रखा गया था।

मौलिक अधिकारों तथा निर्देशक सिद्धान्तों के बीच सम्बन्ध (Relation Between Fundamental Rights and Directive Principles); मौलिक अधिकार तथा निर्देशक सिद्धान्तों के बीच गहरा सम्बन्ध है तथा सम्बन्ध समय परिस्थिति एवं शासक वर्ग की मंशा के अनुसार बदलता रहा है।

1950 से 1966 के काल में नीति निर्देशक सिद्धान्तों के क्रियान्वयन के लिए मौलिक अधिकारों में संशोधन किया गया। इस समय के दौरान इस द ष्टिकोण का विकास हुआ कि नीति निर्देशक सिद्धान्त मौलिक अधिकारों की तुलना में निम्न स्थिति रखते है। फिर भी इस मान्यता का विकास हुआ कि निर्देशक सिद्धान्तों के क्रियान्वयन के लिए मौलिक अधिकारों को संशोधित किया जा सकता है। मद्रास राज्य बनाम चम्पाव्यम दोराइराजन के मामले में उच्चतम न्यायालय के सामने यह प्रश्न विचारार्थ आया कि मौलिक अधिकार और राज्य नीति के निर्देशक सिद्धान्तों के विरोध की स्थिति में किसको प्राथमिकता दी जाए। न्यायालय ने निर्णय दिया कि ऐसी स्थिति में मौलिक अधिकार निर्देशक सिद्धान्तों पर अभिभावी (Overide) होगें। न्यायालय ने कहा कि "नीति निर्देशक सिद्धान्त जिन्हें अनुच्छेद 37 द्वारा स्पष्ट तौर से न्यायालयों द्वारा अपव्रर्तनीय घोषित किया गया है, भाग तीन में दिए गए उपबन्धों पर अभिव्यक्ति नही हो सकते जिन्हे धारा 32 के अर्न्तगत अनुचित लेखों या निर्देशों के द्वारा स्पष्ट तौर पर प्रर्वतनीय बनाया गया है। मौलिक अधिकारों वाला अध्याय पवित्रतम अध्याय है.....निर्देशक सिद्धान्त मौलिक अधिकारों के अनुरूप और उनके सहायक के रूप में रहेगें। हमारे विचार से भाग तीन और चार के उपबन्धों को इसी द ष्टिकोण से समझना चाहिए। लेकिन यदि किसी मौलिक अधिकार का अतिक्रमण नहीं हुआ है तो राज्य उस सीमा तक नीति निर्देशक सिद्धान्तों को कार्यान्वित कर सकता है।

मौलिक संविधान में अनुच्छेद 31(4) और 31(6) के द्वारा विभिन्न राज्यों मे बनाए गए जमींदारी उन्मूलन अधिनियमों को न्यायालय की परिधि से इस आधार पर बाहर रखने की कोशिश की गई थी कि इन अधिनियमों को अनुच्छेद-31(2) के आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती कि प्रतिकार अथवा मुआवजा कम दिया गया है, लेकिन संविधान -निर्माताओं ने यह नहीं सोचा था कि इन अधिनियमों को किसी अन्य आधार पर भी अवैध घोषित किया जा सकता है। वास्तव में यह हुआ कि

जमींदारों न जमींदारी उन्मूलन विधेयक को अनुच्छेद-14 के द्वारा पदत्त विधि के समक्ष समानता के विरूद्ध बताया। कामेश्वर सिंह बनाम बिहार राज्य के मुकदमें में पटना उच्च न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि न्यायालय 'प्रतिकर' के प्रश्न की जांच इसलिए कर सकते हैं ताकि वे यह देख सकें कि उस कानून से अन्य मौलिक अधिकारों से सम्बन्धित प्रावधानों (उदाहरण के लिए, धारा 14) का उल्लघंन तो नही होता है। इस प्रकार 14 वें अनुच्छेद के आधार पर पटना के उच्च न्यायालय ने बिहार भूमि सुधार कानून, 1950 को अवैध घोषित कर दिया। कुछ अन्य राज्यों के जमींदारो ने उच्चतम न्यायालय में भी अपील की। लेकिन उच्चतम न्यायालय ने भी पटना उच्च न्यायालय क निर्णय का समर्थन किया।

भूमि सुधार कानूनों का उद्धेश्य निर्देशक सिद्धान्तों का क्रियान्वयन था किन्तु वे न्यायिक वाद विवाद के विषय बन गए, जिसके कारण संविधान का प्रथम संशोधन करने का निश्चय किया गया।

प्रथम संविधान संशोधनः संविधान के प्रथम संशोधन द्वारा मुख्यतौर से तीन संशोधन किए गएः (i) संविधान में एक नवीं अनुसूची जोड़ी गई। मूल संविधान में केवल आठ अनुसूचियाँ थी। नवीं अनुसूची मे वे सभी भूमि सुधार अधिनियम शामिल कर दिए गए जो उस समय तक अलग-अलग राज्यों द्वारा पारित किए गए थे। इस प्रकार प्रथम संविधान संशोधन ने नवीं अनुसूची जोड़कर संविधान में ऐसा भाग बना दिया जिसमें किसी कानून को रख देने से उसे न्यायिक पुनरावलोकन के बाहर निकाला जा सकता है। (ii) एक नया अनुच्छेद 31-ए जोड़ा गया, जिसका अभिप्रायः यह है कि राज्य द्वारा भूसम्पति अधिग्रहण अथवा जागीरदारी अधिकारों की समाप्ति या अत्यीकरण को इसलिए अवैध घोषित नहीं किया जा सकता कि उसके द्वारा मौलिक अधिकारों को अतिक्रमण होता है। एक और नया अनुच्छेद-31बी जोड़ा गया जिसमें यह उल्लेख किया गया कि नवीं अनुसूची मे उल्लिखित भूमि सुधार अधिनियमों की संवैधानिकता को इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती कि वे मौलिक अधिकारों का हनन करते हैं अथवा उनको सीमित करते है।

चतुर्थ संविधान संशोधनः सम्पति के मौलिक अधिकार में फिर से 1955 में संशोधन की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि न्यायालयों ने विधानपालिका के अधिकार में हस्तक्षेप करने की कोशिश की। श्रीमति बेंला बनर्जी बनाम पश्चिमी बंगाल राज्य के मुकदमें मे उच्चतम न्यायालय ने निर्णय देते हुए यह मत व्यक्त किया कि 'मुआवजा' तभी न्यायोचित माना जा सकता है जबकि अधिग्रहण की गई सम्पति के मूल्य के बराबर हो। सम्पति का, यथार्थ मूल्य चुकाया जाना चाहिए तथा मुआवजा पर्याप्त होना चाहिए।

इसी संदर्भ में 'द्वारिकादास श्रीनिवास बनाम शोलापुर स्पिनिंग एण्ड बीविंग कम्पनी' नामक मुकदमें का उल्लेख किया जा सकता है। इस मिल के प्रबन्ध मण्डल ने बिना किसी पूर्व सूचना के मिल को एकाएक बन्द कर दिया। सरकार ने इस मिल का प्रबन्ध एक अध्यादेश द्वारा अपने हाथों मे ले लिया। न्यायालय ने इस अध्यादेश को इसलिए अवैध घोषित कर दिया क्योकि उसमें कम्पनी को पर्याप्त मुआवजा नहीं दिया गया था। सरकार का कहना था कि उसने सम्पति को अपने हाथों मे नहीं लिया है, केवल उसका -प्रबन्ध करने का दायित्व ग्रहण किया है। न्यायालय द्वारा दिए गए उपर्युक्त निर्णयों ने सरकार को सम्पति के अधिकार में संशोधन के लिए बाध्य किया। फलस्वरूप 1955 में संविधान के चर्तुथ और सम्पति के मौलिक अधिकार में दूसरा संशोधन करना पड़ा। चौथे संशोधन द्वारा यह व्यवस्था कि गईः (i) अनुच्छेद 31(2) में परिवर्तन करके प्रतिकार की राशि की पर्याप्तता या अर्प्याप्तता के प्रश्न को न्यायालयों के क्षेत्र से बाहर रख दिया गया। इसके अनुसार किसी भूमि अथवा सम्पति का अधिग्रहण करने से सम्बन्धित कानून बनाते समय संसद को उसके बदले दिए जाने वाले प्रतिकार सम्बन्धि सिद्धान्त अथवा उसकी राशी निश्चित करने का पूर्ण अधिकार होगा और न्यायालयों में अब उसे इस आधार पर चुनौती नही दी जा सकेंगी कि उसके अर्न्तगत दिया जाने वाल मुआवजा पर्याप्त नहीं है। (2) नया अनुच्छेद 31 (2-ए) भी जोड़ा गया जिसके द्वारा सम्पति के अनिवार्य अर्जन अथवा अधिग्रहण की सुनिश्चित व्याख्या कर दी गई। (3) अनुच्छेद 31-ए में परिवर्तन करके अनुच्छेद 31-ए (i) के अनुसार यह भी स्पष्ट किया गया कि कुछ विशेष प्रकार के कानूनों को अनुच्छेद 14, 19 तथा 31 का उल्लघंन करने वाला नही माना जाएगा। (4) नवीं अनुसूची में कुछ और अधिनियम जोड़ दिए गए।

सत्रहवां संविधान संशोधनः चौथे संशोधन के बाद भी कुछ इस प्रकार के निर्णय न्यायालयों द्वारा दिए गए जिनके कारण सन् 1965 में 17 वें संशोधन की जरूरत पड़ी। 1961 में उच्चतम न्यायालय ने रैयतवाड़ी भूमि को मद्रास राज्य से केरल राज्य में

हस्तान्तरण के सम्बन्ध मे लागू किए गए 'केरल क षि भू-सम्बंधि अधिनियम 1961' को इस आधार पर अवैध घोषित कर दिया कि 'रेयतवाड़ी भूमि' शब्द अनुच्छेद 31-ए (2) के अर्न्तगत विवाधित सम्पदा अथवा जागीर (Estate) शब्द की परिणाम में नहीं आता है। अतः उत्म कानून को अनुच्छेद 31ए (i) के अधीन अनुच्छेद 13, 19 और 31 पर अतिक्रमण करने से मुक्त नहीं माना जा सकता।

17 वें संशोधन द्वारा निम्नलिखित व्यवस्था की गई:

(i) अनुच्छेद 31-ए (I) (B) में 'सम्पदा' अथवा 'जागीर' की विवेचना को अधिक विस्त त करके रैयतबाड़ी प्रथा के अधीन जमीन भी इसी शब्द के अर्न्तगत आ गई (2) नवीं अनुसूची में कुछ भूमि सुधार सम्बन्धी अधिनियमों को और शामिल किया गया।

1967 से 1971 के समय के दौरान इस विचारधारा का प्रचलन हुआ कि मौलिक अधिकार अपरिवर्तनीय (Unamendable) हैं। सन् 1967 में गोलकनाथ के मामले मे उच्चतम न्यायालय में अपने बहुमत के निर्णय में यह कहा कि संसद मौलिक अधिकारों में संशोधन नही कर सकती। इस निर्णय से उच्चतम न्यायालय द्वारा 1951 में 'शंकरी प्रसाद केस' तथा 1965 में 'सज्जनसिंह केस' मे अपने ही द्वारा दिए गए निर्णयों को उलट दिया। 10 फरवरी 1970 को उच्चतम न्यायालय ने अपने निर्णय में बैकों के राष्ट्रीयकरण से समबन्धित अध्यादेश तथा कानून को निम्न आधारों पर अवैध घोषित कर दिया:-

उच्चतम न्यायालक ने अपने निर्णय में कहा कि 'मुआवजा' अथवा 'प्रतिकार' की राशि इतनी कम नही होनी चाहिए कि वह न्यायोचित प्रतित न हो। 'प्रतिकार' वास्तव में 'प्रतिकर' होना चाहिए, उसके नाम पर दिया गया धोखा या भुलावा मात्र नहीं।' उच्चतम न्यायालय ने अध्यादेश तथा कानून को इसलिए अवैध घोषित किया था कि उसमें मुआवजा अथवा प्रतिकर निर्धारित करने वाले सिद्धान्त अप्रासगिंक एवं असंगत थे और मुआवजे की राशि इतनी कम थी कि उसे मुआवजा या प्रतिकार की संज्ञा नहीं दी जा सकती। (2) बैंक राष्ट्रीयकरण अधिनियम अनुच्छेद 19 (1) (एफ) पर भी अतिक्रमण करता है अर्थात सम्पति के अर्जन, धारण और व्ययन की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाता है। इसी प्रकार वज्रेवेलू और मेटल कॉरपोरेशन (1969) मामलों में 'प्रतिकर' का अर्थ बाजार भाव से लगाया।

संक्षेप में इस समय के दौरान न्यायालयों ने राज्य की नीति के निर्देशक सिद्धान्तो तथा मौलिक अधिकारों के बीच के सम्भावित विरोधाभास या असंगति की स्थितियों में समन्वय के सिद्धान्त का प्रयोग करने की अपेक्षा व्यापक रूप से मौलिक अधिकारों को अभिभावी घोषित करने की भूल की।

1972 से 1975 के समय के दौरान यह धारणा प्रचलित हुई कि मौलिक अधिकारों में परिवर्तन संशोधन सम्भव हैं और कतिपय मौलिक अधिकार तो निर्देशक सिद्धान्तों के अधीनिस्थ है।

गोलकनाथ केस के बाद नीति निर्देशक सिद्धान्तों की स्थिति निम्न तथा अधनिस्थ बन गई थी। अब सरकार तथा संसद के द ष्टिकोण में क्रांतिकारी मोड़ आया। सन् 1971 के लोकसभा चुनावों मे श्रीमति इन्दिरा गांधी और उसके दल को अभूतपूर्व विजय मिली। श्रीमति इन्दिरा गांधी ने स्पष्ट कहा कि "हम निर्देशक सिद्धान्तों की क्रियान्विति हेतु क तसंकल्प है और इस हेतु मौलिक अधिकारों को भी संशोधित करना पड़ा ता हम करेंगें।" शासक वर्ग द्वारा अपनाए गए इसी द ष्टिकोण के अनुरूप संविधान में 24 वें 25 वें संशोधन किए गए। मौलिक अधिकारों और निर्देशक सिद्धान्तों के आपसी सम्बन्धों की द ष्टि से ये दोनों संविधान संशोधन अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय हैं।

24 वें संविधान संशोधन (1971) द्वारा यह व्यवस्था की गई कि संसद को संविधान के किसी भी धारा (जिनमें मौलिक अधिकार शामिल हैं) में संशोधन करने का अधिकार है। 25 वें संविधान संशोधन (1971) द्वारा धारा 31में प्रतिकर या क्षतिपूर्ति शब्द को हटाकर 'धनराशि (Amount) शब्द रखा गया। इस संशोधन द्वारा धारा 31 में एक नया खण्ड 31 सी जोडा गया जिसमें कहा गया कि निर्देशक सिद्धान्तों के अर्न्तगबत धारा 39 की भौतिक सम्पति के स्वामित्व और नियन्त्रण तथा धन के उत्पादन के साधनों के केन्द्रण से सम्बन्ध धाराओं को प्रभावी बनाने के लिए पारित किया गया कोई भी कानून इस आधार पर अवैध नहीं ठहराया जा सकेगा कि वह धारा 14, 19 या 31 में दिए गए मौलिक अधिकारों का अतिक्रमण करता है।

सन् 1973 में केशवानन्द भारती केस मे इस संविधान संशोधन को उच्चतम न्यायालय मे चुनौती दी गई। न्यायालय ने अपने 1973 के निर्णय में इस बात को तो स्वीकार किया कि निर्देशक सिद्धान्तों की क्रियान्विति के लिए मौलिक अधिकारों को संशोधित किया जा सकता है। लेकिन 25 वें संवैधानिक संशोधन के इस प्रावधान को अवैध घोषित कर दिया कि निर्देशक सिद्धान्तों की क्रियान्विति के लिए निर्मित कानूनों को न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकेगी। इस निर्णय में उच्चतम न्यायालय ने बुनियादी ढांचे की अवधारणा (Basic Structure Concept) का प्रतिपादन किया और कहा कि संसद संविधान के बुनियादी ढांचे में परिवर्तन नही कर सकती।

1976 से 1980 के समय के दौरान यद्यपि केशवानन्द भारती केस में उच्चतम न्यायालय ने इस बात को मान लिया कि मौलिक अधिकारों में संशोधन-परिवर्तन सम्भव हैं तथापि संसद और सरकार इस निर्णय से सन्तुष्ट नही थे क्योकि इस निर्णय ने इस धारणा का प्रतिपादन किया कि संविधान एक बुनियादी ढांचे का निर्माण करता है जिसे संसद अपनी संविधान संशोधन शक्ति से बदल नहीं सकती। इसी कारण से आपातकाल के दिनों (1976) में 42वां संविधान संशोधन पारित किया गया। इस संविधान संशोधन के खण्ड 4 मे कहा गया है कि "निर्देशक सिद्धान्तों को लागू करने के लिए संसद जिन किन्हीं कानूनो का निर्माण करें उन्हें इस आधार पर चुनौती नही दी जा सकेगी कि ये कानून संविधान में दिए गए किसी अधिकार को सीमित या समाप्त करते है।"

इस प्रकार संविधान संशोधन को न्यायिक पुर्ननिरीक्षण से बचा लिया। इस तरह यह संशोधन संविधान की बुनियादी धारण मे आमूलचूल परिवर्तन कर देता है और मौलिक अधिकारों की स्थिति गौण बन जाती है।

1980 तथा उसके बाद के समय में मिनर्वा मिल केस (1979) में 42 वें संविधान संशोधन के कतिपय अंशो को उच्चतम न्यायालय में चुनौती दी गई। उच्चतम न्यायालय ने 42 वें संशोधन के दो प्रावधानो-खण्ड 4 व खण्ड 55 को अवैध घोषित कर दिया क्योंकि इनसे संविधान के बुनियादी ढांचें को आघात पंहुचता है और ये केशवानन्द भारती विवाद में उच्चतम नयायालय द्वारा दिए गए निर्णय का उल्लघंन करते हैं।

इस निर्णय (मिनर्षा मिल केस-1980) के बाद वर्तमान समय में स्थिति यह है कि संविधान के अनुच्छेद 39 के भाग 'ब' और 'स' (आर्थिक एवं सामाजिक न्याय से सम्बद्ध निर्देशक सिद्धान्त) की क्रियान्विति के लिए तो मौलिक अधिकारों को सीमित किया जा सकेगा लेकिन अन्य निर्देशक सिद्धान्तों की क्रियान्विति के लिए ऐसे किसी कानून का निर्माण नही किया जा सकेगा। जो मौलिक अधिकारों को सीमित या संशोधित करता हो। इस प्रकार वैधानिक अर्थो में पुनः मौलिक अधिकारों को निर्देशक सिद्धान्तों पर वरियताकी स्थिति प्राप्त हो गई।

मौलिक अधिकारों तथा निर्देशक सिद्धान्तों में अन्तर (Distenction between the Fundamental Rights and Directive Principles): भारतीय संविधान के तीसरे अध्याय मे धारा 12 से 35 तक छः प्रकार के मौलिक अधिकारों की धोषणा की गई है, जिनका प्रयोग करके नागरिक अपने जीवन का पूर्ण विकास कर सकते है जबकि संविधान को चौथे भाग में धारा 35 से 51 में, निर्देशक सिद्धान्तों की घोषणा की गई है, जिनका उद्धेश्य भारतीय नागरिकों का आर्थिक, सामाजिक तथा नैतिक विकास करना तथा भारत में कल्याणकारी राज्य की स्थापना करना है। दोनों के ही उद्धेश्य समान प्रतीत होते है। लेकिन दोनों में अन्तर हैं जेा कि निम्नलिखित हैः

1. **मौलिक अधिकार नकारात्मक है जबकि निर्देशक सिद्धान्त सकारात्मक हैः**- निर्देशक सिद्धान्त राज्य को दिए गये निश्चित आदेश है जो कि हमें य बतलाते हैं कि राज्य ने क्या करना हैं जैसे निर्देशक सिद्धान्तों के द्वारा राज्यों को यह निर्देश दिया गया है कि राज्य में पंचायत प्रणाली का गठन किया जाए, बेकारी को दूर करने की योजनाएँ बनाई जाए, गो हत्या को रोक जाए आदि। इसके विपरीत मौलिक अधिकारों द्वारा राजय का अधिकतर नकारात्मक आदेश दिए गये हैं। दूसरे शब्दों में, राज्य शांति पर पर प्रतिबन्ध लगाए गए है। उदाहरण के तौर पर, राज्य धर्म, जाति, रंग, लिंग आदि के आधार पर कोई भेदभाव नहीं करेगा। ग्लैडहिल के शब्दों में, "मौलिक अधिकार राज्य के लिए कुछ निषेध आज्ञाएँ है। इनके द्वारा राज्य को कुछ निश्चित कार्य न करने को कहा गया है, निर्देशक सिद्धान्त सरकार को दिए गए सकारात्मक निर्देश हैं जो कि बतलाते हैं कि सरकार ने क्या करना है।"

2. **मौलिक अधिकार न्याय-संगत है, निर्देशक सिद्धान्त नहीः**-संविधान में यह स्पष्ट किया गया है कि मौलिक अधिकार न्याय-संगत हैं। इन्हें न्यायपालिका द्वारा सुरक्षित करवाया जा सकता है। संवैधानिक उपचारों का अधिकार नागरिकों का मौलिक अधिकार है। इसके विपरीत निर्देशक सिद्धान्त न्यायसंगत नहीं। संविधान की धारा 37 में यह स्पष्ट कहा गया है कि निर्देशक सिद्धान्त न्यायपालिका द्वारा लागू नहीं करवाये जा सकते हैं। दूसरे शब्दों में, निर्देशक सिद्धान्त केवल मात्र निर्देश है, कानूनी आदेश नहीं।

3. **मौलिक अधिकारों का उद्धेश्य राजनैतिक स्वतन्त्रता है तो निर्देशक सिद्धान्तों का उद्धेश्य आर्थिक स्वतन्त्रताः**-जहाँ कि मौलिक अधिकारों द्वारा राजनैतिक लोकतन्त्र की व्यवस्था की गई है। वहीं निर्देशक सिद्धान्तों द्वारा आर्थिक तथा सामाजिक लोकतंत्र की स्थापना की गई है। सफल लोकतन्त्रीय व्यवस्था के लिए यह एक महत्वपूर्ण आवश्यकता होती है कि राजनैतिक लोकतन्त्र आर्थिक और सामाजिक लोकतन्त्र पर आधारित हो। भारत में इस तत्व को अपनाने के लिए संविधान के दो भागों में क्रमशः राजनैतिक तथा आर्थिक लोकतन्त्र की व्यवस्था की गई है।

4. **मौलिक अधिकार प्राप्त किए जा चुके हैं परन्तु निर्देशक सिद्धान्तों को प्राप्त करना अभी बाकी हैः**- मौलिक अधिकार लोगों को प्राप्त हो चुके हैं जबकि निर्दशक सिद्धान्त अभी तक लोगों को प्राप्त नहीं हुए। सरकार इन सिद्धान्तों को व्यवहारिक रूप देने का प्रयोग कर रही है।

5. **मौलिक अधिकारों का सम्बन्ध व्यक्तियों से है, निर्देशक सिद्धान्तों का राज्य से हैं**: मौलिक अधिकारों का मुख्य उद्धेश्य व्यक्ति का विकास करना तथा उसके जीवन को सुखी व समय बनाना है। वे ऐसी परिस्थितियों की स्थापना करते है। जिसमें व्यक्ति अपने में निहित गगुणों का उचित रूप से विकास कर सके। इसके विपरीत, निर्देशक सिद्धान्त समाज के विकास पर बल देते है। निर्देशक सिद्धान्तों के अध्याय में धारा 38 में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि राज्य ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करेगा जिसमें सभी को सामाजिक व आर्थिक न्याय मिल सके।

6. **मौलिक अधिकारों को (धारा 20 तथा 21 में वर्णित अधिकारों को छोड़कर)**:- अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत घोषित आपातकालीन स्थिति के प्रवर्तन काल में स्थगित किया जा सकता है। जबकि निर्देशक सिद्धान्तों को जब तक क्रियान्वयन नहीं होता अवस्था में ही बने रहते है।

7. **मौलिक अधिकार सार्वभौम** (Absolute) **नहीं है**, उन पर कुछ प्रतिबन्ध हैं। जबकि निर्देशक सिद्धान्तों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है।

नीति निर्देशक सिद्धान्तों की आलोचना

(Criticism of Directive Principles)

जिस समय संविधान का निर्माण हो रहा था उस समय संविधान सभा में और बाहर भी राज्य की नीति के निर्देशक सिद्धान्तों सम्बन्धी उपबन्धों की बहुत आलोचना हुई थी। संविधान के स्वीक त होने बाद भी अनेक विद्वानों ने कई आधारों पर इन उपबन्धों की आलोचना की निर्देशक सिद्धान्तों के विरूद्ध की जाने वाली आलोचना के मुख्य आधार निम्नलिखित हैः-

1. **वैधानिक शक्ति का अभाव** (Lack of Legal Sanctions): संविधान द्वारा राज्य की नीति के निर्देशक सिद्धान्तों को एक ओर तो देश के शासन में मूलभूत माना है, किन्तु साथ ही वे वैधानिक शक्ति प्राप्त अथवा न्याय योग्य नही हैं। न्यायालय उपयुर्क्त सिद्धान्त को क्रियान्वित नही करा सकते। अतः आलोचकों की राय में ये निर्देशक सिद्धान्त शुभ इच्छाएँ (Pious Wishes) या नैतिक उपदेश (Moral Principles) के समान है जिनका कोई संवैधानिक महत्व नहीं है।

2. **अस्पष्ट तथा अनिवार्य रूप से सग्रहीत** (Vague and Illogically arranged): नीति निर्देशक सिद्धान्तों के विरूद्ध यह भी आलोचना की जाती हैं कि वे किसी निश्चित या संगतपूर्ण दर्शन पर आधारित नहीं है। वे अस्पष्ट हैं, उनमें क्रमबद्धता का अभाव है और इनमें एक ही बात को बार बार दोहराया गया है। उदाहरण के लिए, इन सिद्धान्तों में पुराने स्मारकों की रक्षा जैसे महत्वहीन प्रशन अपेक्षाक त अत्यन्त महत्वपूर्ण आर्थिक तथा सामाजिक प्रश्नों को साथ

मिला दिए गए है।

3. **अव्यावहारिक (Impracticable):** भाग IV में वर्णित कुछ निर्देशक सिद्धान्त अव्यावहारिक हैं। उदाहरण के लिए, राज्य को नशाबन्दी के निर्देश दिये गये हैं। सरकार कानून द्वारा नशाबंदी लागू करने में असर्मथ है। इसका प्रमाण पिछले वर्षो का इतिहास है। भारत के जिन राज्यों मे भी पहले नशाबंदी लागू थी उनकों अपनी नीति बदलनी पड़ी है। तमिलनाडु ने अब शराब के प्रयोग को फिर कानूनी रूप दे दिया है। हरियाणा में 1966 मे स्थापित बंसीलाल जी की सरकार ने राज्य में पूर्ण शराब बंदी लागू की थी, परन्तु इसके असफल होने पर अप्रैल 1998 से इसे समाप्त कर दिया गया।

4. **एक प्रभुसत्ता राज्य मे अस्वाभाविक (Unnatural in a Sovereign State):** एक प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य में इस प्रकार के सिद्धान्तों की व्यवस्था करना अस्वाभाविक भी लगता है। एक उच्च सत्ता अधीन सत्ता को आदेश दे सकती है जैसा कि 1935 के भारतीय शासन अधिनियम में ब्रिटिश संसद द्वारा गवर्नर जनरल तथा गवर्नरों को दिए गए थे। परन्तु यह बड़ा अस्वाभाविक लगता है कि एक प्रभुसता सम्पन्न राष्ट्र अपने आपको कुछ आदेश दे। विधिवेत्ताओं की द ष्टि में एक प्रभुसता सम्पन्न राज्य के लिए इस प्रकार के आदेशों का कोई औचित्व नहीं है।

5. **निर्देशक सिद्धान्त कोरे आश्वासन ही हैं (Directive Principles are mere Promises):-** संविधान मे यह नहीं दिया गया कि राज्य कब तक इन सिद्धान्तों में वर्णन किए गए आदेशों को व्यवहार मे लाएगा और अगर सरकार इन सिद्धान्तों को व्यवहार में नहीं लागू करेगी तो जनता न्यायिक सरक्षंण के अभाव में, क्या करेगी? यह कहना कि निर्देशक सिद्धान्तों के पीछे जनता की मान्यता है, केवल सैद्धान्तिक रूप में ही ठीक है। सरकार प्रत्येक समय जनता को यह कहकर टाल सकती है कि वह प्रयत्न कर रही है। अतः ऐसी स्थिति में निर्देशक सिद्धान्त केवल कोरे आश्वासन ही रह जाते है।

6. **संवैधानिक द्वन्द्व (Constitutional Conflict):** आलोचकों का कहना हैं कि राष्ट्रपति जो अपने पद को ग्रहण करते हुए संविधान के सरंक्षण की शपथ लेते है, किसी बिल को इस आधार पर स्वीक ति देने से इनकार कर दे कि वह बिल निर्देशक सिद्धान्तों का उलंलघन करता है, तो क्या होगा? इस सम्बन्ध में के॰सन्थानम (K.Santhanam) ने संविधान सभा में कहा था कि इन निर्देशक सिद्धान्तों के कारण राष्ट्रपति तथा प्रधानमन्त्री अथवा राज्यपाल और मुख्यमन्त्री के बीच मतभेद उत्पन्न हो सकता है। यदि प्रधानमंत्री इन सिद्धान्तों का उलंलघन करता है तो क्या परिणाम होगा?

7. **मौलिक अधिकारों तथा निर्देशक सिद्धान्तों में द्वन्द्व की संभावना (Possibility of Conflict between Fundamental Rights and Directive Principles):** मौलिक अधिकारों तथा निर्देशक सिद्धान्तों में द्वन्द्व की संभावना बनी रहती है। इसका मूल कारण यह है कि एक और निर्देशक सिद्धान्तों को देश के शासन में आधारभूत माना गया है तथा दूसरी और उन्हें न्यायालयों के सरंक्षण से परे रखा गया है। नौकरशाही को निर्देशक सिद्धान्तों को भी लागू करना पड़ता है और मौलिक अधिकारों की भी रक्षा उन्हें करनी होती है।

सक्षेंप में, उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि निर्देशक सिद्धान्तों का संविधान मे समावेश करना कई कारणों से अनुचित है।

राज्यनीति के निर्देशक सिद्धान्तों का महत्व (Importance of Directive Principles of State Policy) -

राज्यनीति के निर्देशक सिद्धान्तों की जो आलोचना की गई है उसका यह अर्थ नहीं लिया जाना चाहिए कि वे बिल्कुल व्यर्थ और महत्वहीन है। वास्तव में संवैधानिक और व्यावहारिक द ष्टिकोण से राजनीति के निर्देशक सिद्धान्तों का बहुत अधिक महत्व है। डॉ॰ पायली के अनुसार, "इन निर्देशक सिद्धान्तों का महत्व इस बात में है कि ये नागरिकों के प्रति राज्य के सकारात्मक दायित्व है।" इन सिद्धान्तों के महत्व का अध्ययन निम्नलिखित रूपों में किया जा सकता हैः

1. **सरकार के लिए निर्देश : (Directives for government):** ये सिद्धान्त सरकार के लिए मार्ग-दर्शन का

काम करते हैं। संविधान की धारा 37 में इन सिद्धान्तों को शासन के सर्वोच्च आदेश घोषित किया गया है। सरकार का यह परम कर्तव्य है कि नीति -निर्माण करते समय इन सिद्धान्तों को पालन करे तथा यथा-सम्भव इनको लागू करे।

2. **नैतिक आदर्शो के रूप में (As moral Ideas):** यह ठीक है कि राजनीति तथा नैतिकता दो अलग-अलग विषय हैं। परन्तु इस बात से कोई भी इन्कार नही कर सकता कि राजनीति का आधार नैतिकता होनी चाहिए। हमारे संविधान के निर्देशक सिद्धान्त वे सिद्धान्त है जिनके आधार पर सरकार को चाहे वह किसी भी दल द्वारा निर्मित सरकार क्यों न हो, अपने कार्य करने होते है। इतिहास इस बात का गवाह हैं कि नैतिक आदर्शो ने बहुत बार राज्य की नीति को महत्वपूर्ण रूप से बदलता है।

3. **संविधान की व्याख्या के लिए सहायक (Helpful for the Interpretation of Constitution):** भारतीय संविधान की व्याख्या करने का अधिकार न्यायपालिका को है। न्यायपालिका ने संविधान की व्याख्या करते समय सदैव नीति निर्देशक सिद्धान्तों को द ष्टि में रखा। न्यायपालिका ने सदैव इन सिद्धान्तों को संविधान -निर्माताओं की इच्छा तथा सम्पूर्ण राष्ट्र की इच्छा का प्रतीक माना है। गोपालन बनाम मद्रास राज्य (Gopalan Vs The State of Madras) नामक केश में उच्चतम न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश श्री केनिया ने स्पष्ट शब्दों में इस तथ्य को स्वीकार किया। उनके शब्दों में, "राज्य नीति के निर्देशक सिद्धान्त संविधान के भाग है इस कारण वह समस्त राष्ट्र के विवेक के प्रतीक हैं, न कि बहुमत दल की इच्छा के प्रतीक, जिन्हें संविधान सभा द्वारा प्रकट किया गया, जिसको समस्त देश के लिए सर्वोच्च तथा स्थायी कानून बनाने का उत्तरदायित्व सौंपा गया था।"

4. **राज्य के कार्यो को जाँचने की कसौटी: (A Standard for measuring the work of state):** राज्य के कार्यो को जाँचने के लिए निर्देशक सिद्धान्त लोगों के हाथ में एक माप-दण्ड है। लोग सरकार के कार्यो की परख इस आधार पर करते हैं कि कहाँ तक सरकार ने निर्देशक सिद्धान्तों को व्यवहार में लाया है। अगर लोग यह समझे कि एक दल की सरकार ने इन सिद्धान्तों को व्यवहार में लाने के लिए ठोस तथा द ढ़ कदम नहीं उठाए तो उस दल की सरकार के स्थान पर चुनाव में किसी अन्य दल की स्थापना कर लेते है।

5. **निर्देशक सिद्धान्तों के पीछे जनमत की शक्ति (Power of Public opinion behind the Principles):** इसमे सन्देह नहीं कि निर्देशक सिद्धान्तों के पीछे कानून की शक्ति नहीं है परन्तु इनके पीछे कानून की शक्ति से बढ़कर एक अन्य शक्ति, जनमत की शक्ति है। लोकतन्त्रीय शासन प्रणाली में जनमत की शक्ति से अधिक और कोई शक्ति नहीं होती। चूँकि ये सिद्धान्त एक कल्याणकारी राज्य की स्थापना में सहायता करते है, इसलिए जनता सरकार से यह आशा करती हैं कि वह इन्हें लागू करे। यदि कोई सरकार जनता की इच्छाओं की अवहेलना करती है, तो वह जनता का विश्वास खो बैठगी और उसे अधिकार समय तक अपने पद पर बने रहना असम्भव हो जाएगा। प्रो॰ एम ॰ वी॰ पायली के अनुसार, "ये निर्देशक सिद्धान्त राष्ट्रीय चेतना के आधारभूत स्तर का निमार्ण करते है और जिनके द्वारा इन सिद्धान्तों का अल्लघंन किया जाता है, वे ऐसा कार्य उत्तदायित्व की स्थिति से अलग होने की जोखिम पर ही करते है।"

6. **चरम सीमाओं से सुरक्षा (An Insurance Against Extremes)** हमारे संविधान निर्माता इस तथ्य से पूर्णतया परिचित थे कि प्रजातान्त्रिक राज्य में परिवर्तनशील जनमत के परिणाम स्वरूप विभिन्न समयों में विभिन्न राजनीतिक दल सत्तारूढ़ हो सकते हैं। कभी दक्षिणपल्वी दल शासन सता पर अधिकार कर सकता हैं और कभी कोई वामपंथी दल। निर्देशक सिद्धान्त दोनों प्रकार की सरकारों के मार्यादिल रखेंगे तथा उन्हें किसी प्रकार का एक तरफ झूकाव रखने से रोंकेगे।

7. **कार्यपालिका प्रधान इनका दुरूपयोग नही कर सकते हैं (Executive Head can not exploit Provision):** कुछ संविधान नेताओं ने यह भय प्रकट किया कि राष्ट्रपति या राज्यपाल इस आधर पर किसी विधेयक पर अपनी सहमति देने से इन्कार कर सकते है कि वह निर्देशक सिद्धान्तों के प्रतिकूल है। लेकिन व्यवहार में ऐसी घटना की सम्भावना कम है क्योंकि संसदात्मक शासन प्रणाली में नाममात्र का कार्यपालिका प्रधान लोकप्रिय मन्त्रिपरिषद द्वारा पारित विधि को अस्वीकार करने का दुस्साहस नहीं कर सकता। डा॰ अम्बेडकर के शब्दों में, "विधायिका द्वारा पारित विधि को अस्वीक त करने के लिए राष्ट्रपति या राज्यपाल निर्देशक तत्वों का प्रयोग नहीं कर सकते।"

वास्तव में निर्देशक सिद्धान्त भारतीय शासन के सर्वोच्च सिद्धान्त हैं। इन सिद्धान्तों को व्यवहार मे अपनाने पर ही भारत में सफल लोकतन्त्र की स्थापना की जा सकती है। संक्षेप में हम कह सकते है कि अगर इन निर्देशक सिद्धान्तों को अच्छी प्रकार व्यवहारिक रूप दिया जाए तो हमारा देश प थ्वी पर स्वर्ग बन जाएगा।

निर्देशक सिद्धान्तों का क्रियान्वयन और उपलब्धियां (Implementation and Achievement with Regnard to Directive Principles):- राज्यनीति के निर्देशक सिद्धान्तों के क्रियान्वयन की समस्या पुलिस राज्य को कल्याणकारी राज्य और संविध ाान द्वारा स्थापित राजनीतिक लोकतन्त्र को आर्थिक लोकतन्त्र में परिवर्तन करने की समस्या है। इस कठिन कार्य को पुरा करना आसान नहीं है। इसे पूरा करने के लिए दीर्घकालीन प्रयत्न प्रचुर धनराशी तथा तीव्र गति से आर्थिक, सामाजिक और शैक्षणिक विकास आवश्यक है।

लेकिन राज्य ने यह कार्य शुरू कर दिया है और इस दिशा में कई महत्वपूर्ण कदम उठाए है। पहला, पंचवर्षीय योजनाओं के आधार पर क षि और उद्योगो की उन्नति, शिक्षा और स्वास्थ्य की सुविधाओं का प्रसार, नौकरी व कार्य के साध ानों में व द्धि, राष्ट्रीय आय, व लोगों के रहन सहन के स्तर को ऊँचा उठाने के प्रयत्न किए गए है। दूसरा, युवक वर्ग व बालको की शोषण से रक्षा करने के लिए अनेक कानून पास किए है। बीमारी और दुर्घटना के विरूद्ध सुरक्षा के लिए कुछ सीमा तक मजदूर वर्ग में बीमा योजना लागू की गई है व बेरोजगारी बीमा योजनाओं को लागू करने और रोजगार की सुविधाएँ बढ़ाने के प्रयास किए जा रहे है। राज्य सामाजिक कल्याण की दिशा में तेजी से आगे बढ़ रही है। तीसरा हिन्दू कोड बिल के कई अंशों जैसे हिन्दू विवाह अधिनियम 1955, हिन्दू उतराधिकार अधिनियम 1956, आदि को पारित करके देश के सभी वर्गो के लिए समान विधि संहिता प्राप्त करने के प्रयत्न किए जा रहे है। चौथा, अस्प श्यता निवारण के लिए और अनुसूचित तथा पिछड़ी हुई जातियां के बालकों को उदारतापूर्वक छात्रव ति और अन्य सुविधाएं द्वारा शिक्षित करने का कार्य भी हुआ है। पाचंवा, यद्यपि अब भी निशुल्क और अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा और सबके लिए पर्याप्त स्वास्थ्य सेवा का प्रबन्ध जैसे विषयों में भी महत्वपूर्ण प्रगति हुई है। अन्तिम स्थान में लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण और सामुदायिक विकास योजनाओं द्वारा ग्राम पंचायतो को अधिक सशक्त बनाने का प्रयास किया जा रहा है। गरीबों को 'मुफत कानूनी सहायता' प्रदान करने के लिए न्यायमूर्ति पी.एन. भगवती की अध्यक्षता में एक समिति गठित की गई। कई राज्यों में व द्ध और असहाय लोगों के लिए पेंशन की व्यवस्था की है। सामाजिक सुरक्षा पेंशन के लिए सातवें वित आयोग ने राज्यों को 264.08 करोड़ रूपए दिए जाने का प्रावधान किया। बाल श्रमिकों के हितों के संरक्षण हेतू केन्द्रीकरण बाल श्रामिक बोर्डो का गठन किया गया है तथा राज्यों से कहा गया कि वे जिला स्तर पर ऐसे ही बोर्डो का गठन करे।

1969 के शब्द की राजनीति में तत्कालीन शासक वर्ग द्वारा निरन्तर संकल्प व्यक्त किया गया कि निर्देशक सिद्धान्तों को तेजी के साथ लागू किया जाएगा। 1970 से 1976 के वर्षो में इस द ष्टि से कुछ कार्य भी किए गए, जैसे 14 प्रमुख बैंको का राष्ट्रीयकरण राजाओं के प्रिवीयर्स की समाप्ति, सम्पति के मौलिक अधिकार को सीमित करने हेतू संविधान में 24 वां, 25 वां, 29 वां, और 44 वां संशोधन और तस्कर व्यापार विरोधी कार्यवाहियाँ आदि। 1972 में बन्धक मजदूरी की समाप्ति और स्त्री पुरूष को समान वेतन दिलाने का अध्यादेश भी जारी किया गया। 1976 में ही संसद के द्वारा शहरी भूमि सीमाकरण कानून पारित किया गया। जिसके अनुसार चार श्रेणी के शहरों में शहरी भूमि की सीमा 500 वर्गमीटर से 2000 वर्गमीटर निश्चित की गई। 1971 के लोकसभा चुनावों से ही गरीबी, बेरोजगारी और असमानता दूर करने का नारा भी जोर शोर से लगाया गया, लेकिन इस सम्बन्ध मे जैसे ठोस कार्य अपेक्षित था, वैसा नहीं किया गया।

1977 से भारत की राजनीतिक स्थिति में परिवर्तन हुआ हैं। 1977 में सत्तारूढ़ जनता दल द्वारा अपने चुनाव घोषणा -पत्र में 'सम्पति के मूल अधिकार' को समाप्त करने और समस्त जनता को 'रोजी-रोटी का अधिकार' प्रदान करने की बात कही गई थी। 'सम्पति के मूल अधिकार' को सामाजिक-आर्थिक समानता के मार्ग में बाधक मानकर 44वें संवैधानिक संशोधन द्वारा 'सम्पति के मूल अधिकार' को समाप्त कर दिया गया।

निर्देशक सिद्धान्तों को लागू करने पर जब हम विचार करे, तब हमारे द्वारा इस तथ्य को द ष्टि में रखा जाना चाहिए कि सर्वाधिक प्रमुख निर्देशक सिद्धान्तों का उल्लेख संविधान के अनुच्छेद 39 मे किया गया है और ये निर्देशक सिद्धान्त 'आर्थिक

तथा सामाजिक न्याय' से सम्बन्धित है। संविधान सभा वाद विवाद' के अध्ययन से भी स्पष्ट है कि 'निर्देशक सिद्धान्तों का उद्धेश्य ' आर्थिक तथा सामाजिक असमानता एवं अन्याय को दूर कर आर्थिक -सामाजिक न्याय की स्थापना करना है। जब हम इस द ष्टि से आज की स्थिति पर विचार करते हैं तो पाते हैं कि निर्देशक सिद्धान्तों की क्रियान्विति के सम्बन्ध में स्थिति सन्तोषजनक नहीं है। सामाजिक समानता सीापित करने की दिशा में थोड़ा कार्य भले ही हुआ हो, लेकिन आर्थिक समानता स्थापित करने की दिशा में कोई प्रगति नहीं हुइ है। आर्थिक असमानता का जो अनुपात संविधान लागू किए जाने के समय था, आज उसमें थोड़ी भी कमी होने के बजाय व द्धि हुई है। एक तरफ गरीबी और दूसरी तरफ अन्तहीन विलासिता, लगातार बढ़ती हुई बेरोजगारी और अशिक्षा की जो स्थिति देखी जाति है वह इस प्रश्न को जन्म देती हैं कि क्या शासक वर्ग की निर्देशक सिद्धान्तो में कोई आस्था है।

देश में आर्थिक विषमता बढ़ रही है क्योंकि मात्र 10% लोग राष्ट्रीय उत्पादन का अधिकांश हिस्सा हजम कर जाते है। इसी कारण से देश में कुछ परिवारों का राष्ट्रीय उत्पादन पर एकाधिकार बढ़ता गया है। आज भी देश की जनसंख्या का काफी बड़ा भाग गरीबी की रेखा के नीचे जीवन यापन कर रहा है। देश में आवास कमानों की कमी है। लाखों बच्चे जोखिम भरे स्थानों पर श्रम करते है। साक्षरता का प्रतिशत भी कम हैं।

दिसम्बर 1997 में जारी यूनीसेफ की रिपोर्ट दूनिया भर में बच्चों की स्थिति बताती है कि दुनिया में कुपोषण के शिकार बच्चों में आधे भारतीय हैं; यह भी कि जहां दुनिया भर में पांच वर्ष से कम आयु के कुपोषित बच्चों का प्रतिशत 37 है, वहीं भारत मे यह 52 है। इसी तरह, दुनिया भर में इस आयु वर्ग के बच्चों की म त्यु दर 88 है, भारत में 111 है, भारत मे 13 करोड़ लोग सुरक्षित पेयजल और 72 करोड़ लोग स्वास्थ्य सुविधाओं से वंचित है।

जून 1999 में जारी विश्व बैंक रिर्पाट के अनुसार भारत में 1980 के दशक के अन्तिम वर्षो में गरीबों की संख्या 30 करोड़ थी जो 1997 में बढ़कर 34 करोड़ हो गई। 172 राष्ट्रों के लिए मानव विकास सूंचकांक का आकलंन संयुक्त राष्ट्र कार्यक्रम की वर्ष 1999 की 'मानव विकास रिपोर्ट में किया गया हे। इनमें सबसे प्रमुख मानव विकास सूचकांक है जो जीवन प्रत्याशा, शैक्षणिक उपलब्धि तथा वास्तविक प्रति व्यक्ति आय पर आधारित है। इसमें भारत का 132 वां स्थान है।

इन आकड़ों से यह प्रकट होता है कि पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से निर्देश सिद्धान्तों के क्रियान्वयन हेतु अभी बहुत कुछ करना शेष है।

मौलिक कर्तव्य (Fundamental Duties)

भारत का संविधान संविधान सभा द्वारा निर्मित करके 26 जनवरी, 1950 को कार्यान्वित किया गया था, उसमें मौलिक कत्तव्यों का उल्लेख नहीं था। भारत जैसे नये लोकतन्त्र के लिए यह आवश्यक था कि जहाँ संविधान द्वारा नागरिकों को मौलिक अधिकार दिये गए है। वहाँ नागरिकों के मौलिक कर्त्तव्य भी निश्चित किए जाऐं। इसी उद्धेश्य की पूर्ति संविधान के 42 वें संशोधन द्वारा 1976 में की गई। संविधान में नागरिकों के मौलिक कर्तव्यों से सम्बन्धित अनुच्छेद 51 क और भाग चार (क) जोड़े गए। ये मौलिक कर्तव्य इस प्रकार हैः-

भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य होगा किः

i) वह संविधान का पालन करे और राष्ट्रीय ध्वज एवं राष्ट्रीय गान का आदर करें।

ii) स्वतंत्रता संग्राम के दौर में जिन आदर्शो को अपनाकर काम लिया गया था, जिनसे प्ररेणा मिली थी, उन पर चलना।

iii) भारत की प्रभुता, एकता और अखण्डता का समर्थन तथा सुरक्षा करना।

iv) देश की सुरक्षा तथा समय आने पर राष्ट्रीय सेवा के लिए तैयार रहना।

v) धार्मिक, भाषायी और प्रादेशिक या वर्गीय विभिन्नताओं को त्याग कर भारत के सारे लोगों में मेल-मिलाप तथा बन्धुता की भावना को विकसित करना तथा स्त्रियों को हानि करने वाली प्रथाओं का त्याग करना।

vi) अपनी मिली-जुली संस्क ति की सम्पन्न परम्परा का सम्मान करना और उसे सुरक्षित रखना।

vii) वनों, झीलों, नदियों और वन्य जीवन जैसे प्राक तिक वातावरण को उन्नत करना और उनकी रक्षा करना तथा जीव-जन्तुओं के प्रति दया रखना।

viii) वैज्ञानिक प्रव ति, मानवता तथा अन्वेषण और सुधार की भावना को विकसित करना।

ix) सार्वजनिक सम्पति की रक्षा करना और हिंसा को त्यागने का प्रण करना।

x) व्यक्तिगत तथा सामाजिक कार्य-कलापों के क्षेत्र में कुशलता का प्रयत्न करना जिससे कि राष्ट्र उच्चतम उपलब्धियों के शिखर पर पहुँच सके।

मौलिक कर्त्तव्यों का महत्व (Significance of Fundamental Duties): भारतीय संविधान में शामिल किए गए मौलिक कर्तव्यों का सपना ही महत्व है। इनकी महता निम्नलिखित हैः-

1. **वे भारतीय संविधान में रह गई कमी को दूर करते हैं (They remove lacuna from Indian constitutions):**

मूल भारतीय संविधान में नागरिकों के मौलिक अधिकारों का वर्णन तो किया गया था परन्तु उनसे सम्बन्धित मौलिक कर्तव्यों का उल्लेख नही किया गया था। फलस्वरूप भारतीय नागरिक अपने अधिकारों के प्रति तो जाग त रहे परन्तु वे अपने कर्तव्यों को भूला बैठे। उनमें दूसरे नागरिकों तथा देश के प्रति जिम्मेदारियों की भावना का विकास न हो पाया। इस कारण राष्ट्र उन्नति के उच्च शिखर पर न पहुँच सका। मौलिक कर्तव्यों का संविधान में शामिल किया जाना इस कमी को दूर करता है। ये कर्तव्य भारतवासियों को यह बात सदा याद दिलाते रहेगें कि उनका देश, दूसरे कर्तव्यों और अपने प्रति कुछ जिम्मेदारियाँ है तथा उन्होंने उन्हें पूरा करना है।

2. **कर्तव्यों की आधुनिक धारणा के अनुकूल हैं (They are in confirmily units the modern concept of duties):**

मौलिक कर्तव्यों का संविधान में शामिल किया जाना आधुनिक विचारधारा के अनुकूल है। आधुनिक विचारधारा के अनुकूल है। आधुनिक विचारधारा के अनुसार अधिकार और कर्तव्य साथ-साथ चलते है। वे एक ही चीज के दो पहलू है। जो एक के अधिकार है वे ही दूसरे के कर्तव्य है। और जो दूसरों के अधिकार है वे पहले के कर्तव्य है। कर्तव्यों के संसार में ही अधिकांश का महत्व है।

3. **वे अविवादास्पद सिद्धान्त हैं (They are non-Contravresial Principles):** भारतीय संविधान में शामिल किए गए मौलिक कर्त्तव्य अविवादास्पद हैं। वे ऐसे सिद्धान्त हैं जिनके बारे में राजनीति के विद्वानों मे कोई मतभेद नही और जिन्हें कोई भी नागरिक अपनी राजनैतिक सम्बद्धता को एक तरफ रखते हुए बिना हिचकिचाहट के अपना सकता है। ये कर्त्तव्य भारतीय संस्क ति के अनुकूल है। वे भारतवासियों के लिए प्रकाश स्तम्भ और मार्ग-दर्शक का कार्य करेगें और उन्हें उच्च आदर्शो की प्राप्ति के लिए प्ररित करते रहेगें।

4. **उनका मनोवैज्ञानिक महत्त्व है (They have psychological significance):** मौलिक कर्त्तव्यो का संविधान में शामिल किया जाना नागरिकों के लिए मनोवैज्ञानिक महत्त्व रखता है। ये कर्त्तव्य लोगों के मन में राष्ट्रीय दायित्वों के प्रति जाग ति पैदा करेंगे।

अन्त में यह कहा जा सकता हैं कि भारत के संविधान में मौलिक कर्त्तव्यों को अंकित करना पूरी तरह से उचित है। भारत में लोकतन्त्र की स्थापना एकदम दासता के बाद हुई है। इसलिए यह उचित है कि भारत के नागरिको

को उनके कर्त्तव्यों का ज्ञान कराया जाए। भारतीय जनता इन कर्त्तव्यों केा निश्चित रूप से अपनाएगी, जिससे की भारतीय लोकतन्त्र की जड़े और मजबूत होगी।

मौलिक कर्त्तव्यों की आलोचना (Criticism of Fundamental Duties): भारतीय विद्वानों ने मौलिक कर्त्तव्यों की आलोचना निम्नलिखित आधार पर की हैः-

1. मौलिक कर्त्तव्य केवल पवित्र इच्छाएँ हैं (Fundamental Duties are mere pious wishes): आलोचको का कहना है कि भारतीय संविधान में शामिल किए गए मौलिक कर्त्तव्य केवल पवित्र इच्छाएँ है। इन्हें लागू करने के बारे में कोई व्यवस्था नहीं की गई। वे नागरिकों को कुछ कार्य करने और कुछ न करने का आदेश देते हैं, लेकिन इन निर्देशों को लागू करने के लिए कोई उपाय नहीं किए गए। सरदार स्वर्ण सिंह कमेटी ने मौलिक कर्त्तव्यों को लागू करने के लिए संसद द्वारा उचित कानून बनाने की सिफारिश की थी, परन्तु 42 वें संशोधन मे सरकार ने मौलिक कर्त्तव्यों को व्यवहारिक रूप देने के लिए कोई व्यवस्था नहीं की है।

2. वे अस्पष्ट हैं (They are Vague): मौलिक कर्त्तव्यों में कुछ कर्त्तव्य ही अस्पष्ट हैं जिसके कारण साधारण लोग उनको नहीं समझ सकते। उदाहरण के लिए, संविधान में आदर्शो के प्रति आदर करना एक कर्त्तव्य है। परन्तु संविधान के क्या आदर्श हैं और किस प्रकार उनका आदर किया जाए-यह स्पष्ट नहीं किया गया। इसी प्रकार द ष्टि कोण में वैज्ञानिकता, सुधार की भावना का विकास करना आदि ऐसे कर्त्तव्य हैं जिनका अर्थ लोग भिन्न-भिन्न लगा सकते है। इससे कर्त्तव्यों की अस्पष्टता ज्ञात होती है।

3. कुछ एक महत्वपूर्ण कर्त्तव्य छोड़ दिए गए हैं (Some of the important duties have been left out): मौलिक कर्त्तव्यों वाले अध्याय में कुछ एक महत्वपूर्ण कर्त्तव्यों का अभाव है। संसद के सदनों में जब 42 वें संशाधनों के मौलिक कर्त्तव्यों के अनुच्छेद के विषय मे वाद-विवाद हा रहा था तो संसद सदस्यों ने सुझाव दिया था कि अनिवार्य मत अनिवार्य शिक्षा, परिवार नियोजन आदि विषयों को भी मूल कर्त्तव्यों में शामिल किया जाए। लेकिन इन कर्त्तव्यों को छोड़ दिया गया। इस प्रकार मौलिक कर्त्तव्य अपूर्ण दिखाई देते है।

4. कानून द्वारा सुरक्षित न होना (Non-Justiciable): नागरिकों के मौलिक कर्त्तव्य कानून द्वारा सुरक्षित नहीं रखे गए, यद्यपि इसके लिए स्वर्ण सिंह कमेटी ने सुझाव दिया था और लोक सभा के कई सदस्यों ने इसका समर्थन भी किया था। कानून द्वारा सुरक्षित न होने के कारण वे मौलिक कर्त्तव्य अव्यवहारिक प्रतीत होते है।

5. मौलिक कर्त्तव्यों का संविधान मे देरी से शामिल किया जाना (Delayed inclusion of Fundamental Duties in the Constitutions): आलोचकों ने मौलिक कर्त्तव्यों की इस आधार पर आलोचना की है कि इनको संविधान में बहुत देरी के बाद रखा गया हैं। यदि इनको मूल संविधान में रखा जाता तो लोगों में अधिक कर्त्तव्य-परायणता की भावना पैदा होती।

भाग-II

अध्याय-8
राष्ट्रपति
(President)

भारतीय संघ की कार्यपालिका के प्रधान को राष्ट्रपति कहा जाता है। संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित है। भारत में संसदात्मक शासन प्रणाली प्रचलित है, इसलिए राष्ट्रपति कार्यपालिका के औपचारिक प्रधान है और मत्रिमण्डल वास्तविक कार्यकारी है। औपचारिक प्रधान होने के कारण हमने अपने राष्ट्रपति को वास्तविक शक्तियाँ नहीं दी हैं, तथापि उसके पद को सत्ता और गरिमा से युक्त बनाया है। वे राज्य के शक्तिशाली शासक होने की अपेक्षा भारतीय राज्य की एकता के प्रतीक है। उनकी स्थिति वैधानिक अध्यक्ष की है, फिर भी शासन में उनका पद एक धुरी के समान है जो संकट के समय संवैधानिक यन्त्र को सन्तुलित कर सकता है। सही मायने में उनका पद गौरव, गरिमा और प्रतिष्ठा का है। शान-शक्ति और गौरव की द ष्टि से तो राष्ट्रपति राष्ट्र के प्रथम व्यक्ति हैं ही। हमारी संवैधानिक व्यवस्था में भी राष्ट्रपति का प्रतिष्ठित पद राज्य श्रेष्ठ सामाजिक संस्था और वैधानिक आवश्यकता है। समुचित संवैधानिक प्रावधानों के उपरान्त भी भारतीय राष्ट् पति का पद, उनके संवैधानिक और राजनीतिज्ञ दायित्व और राजनीतिक संस्था के रूप में उनकी भूमिका अभी भी वाद-विवाद का विषय बना हुआ है।

राष्ट्रपति का निवार्चन
(Elections of the President)

राष्ट्रपति पद के लिए योग्यताएं :-

(1) वह भारत का नागरिक हो।

(2) उसकी आयु 35 वर्ष से कम न हो।

(3) उसमें वे सभी योग्यताएं होनी चाहिए जो लोकसभा के सदस्य बनने के लिए आवश्यक है।

(4) वह किसी लाभ पद पर न हो, लेकिन इस नियम के कुछ अपवाद कर दिए गए हैं।

- (a) संघीय अथ्वा राज्य सरकार में मन्त्री होना।
- (b) राज्य का गर्वनर होना।
- (c) संघ का उप-राष्ट्रपति होना।
- (d) संघ का राष्ट्रपति यदि पुनः निर्वाचन में खड़ा हो।
- (e) संसद या विधानमण्डल का सदस्य चुनाव तो लड़ सकता है, लेकिन चुने जाने के बाद वह संसद या विधानमण्डल का सदस्य नहीं रह सकता। 1 फरवरी 1974 में संसद ने एक कानून पारित करके जिसके द्वारा राष्ट्रपति के लिए चुनाव लड़ने वाले उम्मीद्वार को 2500 रू० जमानत के रूप मे जमा करवाने आवश्यक थे। इसके अलावा इस कानून के अर्न्तगत राष्ट्रपति का चुनाव लड़ने वाले उम्मीद्वार का नाम निर्वाचक मण्डल के 10 सदस्यों द्वारा प्रस्तावित और 10 सदस्यों द्वारा अनुभोदित होना जरूरी था। 5 जून 1997 में राष्ट्रपति द्वारा जारी किए गए

अध्यादेश के अनुसार राष्ट्रपति के चुनाव के लिए जमानत की राशि 2500 से बढ़ाकर 15000 रू० कर दी गई। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति पद के उम्मीद्वार का नाम कम से कम 50 सदस्यों द्वारा प्रस्तावित तथा 50 सदस्यों द्वारा अनुभोदित होना आवश्यक कर दिया गया।

कार्यकाल :-

राष्ट्रपति का कार्यकाल 5 वर्ष है। वह पुनः भी चुना जा सकता है। संविधान के अर्न्तगत राष्ट्रपति बार-बार निर्वाचित हो सकता है। इसके विपरीत अमेरिका के संविधान में राष्ट्रपति केवल दो बार ही इस पद पर रह सकता है। भारत के राष्ट्रपति का पद केवल तीन कारणों से रिक्त हो सकता है।

(1) यदि वह स्वयं त्याग पत्र दे दे।

(2) दुर्भाग्यवश उसका देहान्त हो जाए।

(3) उसे महाभियोग के द्वारा पद से हटा दिया जाए ऐसी स्थिति में उपराष्ट्रपति इस पद को ग्रहण कर लेता है। लेकिन छहः माह में नये राष्ट्रपति का चुनाव होना आवश्यक है। अगर नए राष्ट्रपति का चुनाव किसी कारणवश न हो सके तो पहले वाला राष्ट्रपति उस समय तक अपने पद पर बना रहेगा, जब तक उसका उत्तराधिकारी पद न संभाल ले। राष्ट्रपति को अपना त्याग पत्र लिखकर उपराष्ट्रपति को भेजना होता है। उपराष्ट्रपति को इसकी सूचना तुरन्त लोकसभा के स्पीकर को देनी पड़ती है।

वेतन एवं भत्ता :-

वर्तमान समय में भारत के राष्ट्रपति को 50,000 रूपए मासिक वेतन दिया जाता है। इसके इलावा रहने के लिए निवास स्थान तथा कई भत्ते भी मिलते हैं। सेवा निव त होने के बाद उसे तीन लाख रूपये वार्षिक पेंशन भी मिलती है तथा निःशुल्क आवस स्थान, कार, टेलिफोन, बिजली-पानी और सचिवालय की सुविधा भी प्रदान की जाती है। राष्ट्रपति का वेतन तथा सभी भत्ते संचित निधि से प्राप्त होते हैं, जिन्हे उसके कार्यकाल में कम नहीं किया जा सकता। डा० राजेन्द्र प्रसाद तथा डा० राधाक ष्णन केवल 2,500 रूपये मासिक वेतन लेते थे। श्री नीलम संजीवा रेड्डी 3,000 रूपये मासिक वेतन लेते थे।

विशेषाधिकार :-

संविधान के अनुच्छेद 361 के अनुसार राष्ट्रपति को अपने अधिकारों तथा शक्तियों के प्रयोग के लिए किसी भी न्यायालय के प्रति उत्तदायी नहीं ठहराया जा सकता। उसके कार्यकाल में उसके गिरफतार अथवा बन्दी नहीं बनाया जा सकता तथा उसके विरूद्ध फौजदारी कार्यवाही भी नहीं की जा सकती। राष्ट्रपति के निजी कार्यो के लिए भी कोई दीवानी कार्यवाही या मुकदमा उसके विरूद्ध कम से कम दो महीने पहले नोटिस दिए बिना नही चलाया जा सकता।

राष्ट्रपति पर महाभियोग

इस विधि का वर्णन संविधान की धारा 61 में किया गया है। इस विधि के अर्न्तगत संसद के दोनों सदनों में से जो सदन आरोप लगाना चाहता हैं, उसको 1/4 सदस्यों के हस्ताक्षरो सहित इस प्रस्ताव को राष्ट्रपति के पास 14 दिन पूर्व भेजना पड़ता हैं जब सदन में महाभियोग विषय पर चर्चा चल रही होती है, तो राष्ट्रपति ऐसे समय पर स्वंय उपस्थित होकर या किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा आरोपों का जबाब दे सकता है। यदि वह 2/3 बहुमत से यह प्रस्ताव पारित कर दे तो दूसरा सदन उन आरोपों की जाँच करता है। यदि दूसरा सदन भी 2/3 बहुमत से उन आरोपों को सही मान ले, तो राष्ट्रपति को अपनापद रिक्त करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में उपराष्ट्रपति राष्ट्रपति का कार्यभार सम्भालता है। यदि उपराष्ट्रपति भी त्यागपत्र दे देता है या उसकी म त्यु हो जाए तो सर्वोच्च नयायालय का सर्वोच्च न्यायाधीश कार्यवाहक राष्ट्रपति के रूप में कार्य करता है। जैसे सन् 1969 में राष्ट्रपति जाकिर हुसैन की म त्यु पर उपराष्ट्रपति वी०वी० गिरि ने त्यागपत्र देने के कारण सर्वोच्च न्यायालय के सर्वोच्च न्यायाधीश श्री हिदायतुल्ला ने कार्यवाहक राष्ट्रपति के रूप में कार्य किया। लेकिन 6 महीने के अन्दर राष्ट्रपति का निर्वाचन अनिवार्य है। भारत में अभी तक किसी भी राष्ट्रपति के विरूद्ध महाभियोग प्रस्ताव नहीं लाया गया है। सन् 1970 में

उत्तर प्रदेश में राष्ट्रपति शासन के विवाद में राष्ट्रपति वी०वी० गिरि के विरूद्ध विपक्षी नेता मधु लिमये ने महाभियोग प्रस्ताव लाने का प्रयास किया था।

राष्ट्रपति के चुनाव की प्रक्रिया

भारत के राष्ट्रपति के चुनाव के लिए संवैधानिक सभा के सामने कई प्रस्ताव रखे गए। पहला प्रस्ताव था कि चुनाव जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप में किया जाए। इस पर विस्तार से विचार किया गया। यह देखने मे तो लोकतान्त्रिक था, लेकिन कुछ समस्याएँ थीं। जैसे इतने बड़े देश में जनता द्वारा चुनाव करवाना कठिन था। इसके लिए बहुत से कार्यकर्ता और धन की आवश्यकता पड़ती थी, जो भारत सरकार के लिए कठिन था। दूसरी बात, भारत में संसदीय-प्रणाली है। इसलिए इसका राज्याध्यक्ष नाममात्र का होता हैं। जनता द्वारा निर्वाचित होने वाले अध्यक्ष को नाममात्र का अध्यक्ष रखना कुछ अजीब सा लगता है।

अतः वाद-विवाद और विचार - विर्मश के बाद यह निश्चित किया गया कि राष्ट्रपति का चुनाव अप्रत्यक्ष ढ़ग से ही होगा। यह चुनाव एक निर्वाचक मण्डल द्वारा किया जाएगा जिसमें संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य और राज्य विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्यों को भाग लेने का अधिकार है।

संविधान के दो अनुच्छेदों 54 तथा 55 में राष्ट्रपति के चुनाव की व्यवस्था की गई है। सक्षिप्त रूप में कहा जा सकता है कि भारत का राष्ट्रपति अप्रत्यक्ष रूप से एक चुनाव मण्डल जिसमें केन्द्रीय संसद तथा प्रान्तीय विधानपालिकाओं के चुने हुए सदस्य हैं, उनके द्वारा एकल संक्रमणीय मत-प्रणाली द्वारा अनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर गुप्त मतदान द्वारा चुना जाता है।

मतों का मूलतः निर्वाचन में भाग लेने वाले सदस्यों की वोटों को निश्चित करने के लिए सूत्र अपनाएं गए हैं वे इस प्रकार हैं :-

$$\text{एम०एल०ए० की वोट की कीमत} = \frac{\text{राज्य की जनसंख्या}}{\text{विधान सभा के निर्वाचित सदस्यों की संख्या}} \div 1000S$$

उदाहरण :-

अगर किसी एक राज्य की जनसंख्या 30,00,000 है तथा उसके विधानसभा के निर्वाचित सदस्यों की संख्या 300 हैं तो उस राज्य की विधानसभा के वोट का मूल्य होगा,

$$\frac{300,00,000}{300} \div 1000 = 100$$

इस राज्य में प्रत्येक M.L.A. के वोट की कीमत 100 होगी तथा राज्य की वोटों की कीमत 300 X 100 = 30,000 होगी। इसी प्रकार अन्य राज्यों में विधान सभा के सदस्यों के वोटों का मूल्य निकाल लिया जाता है।

संसद के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य की वोट की कीमत इस प्रकार होगी-

राज्य विधानसभाओं के सदस्यों के मतों का योग :-

संसद के दोनों सदनों के चुने हुए सदस्य उदाहरणः मान तो राज्यों की विधानसभाओं के सदस्यों के मतों की कुछ संख्या 5494511तथा संसद के निर्वाचित सदस्यों की संख्या 776 है तो प्रत्येक संसद सदस्य के वोट की कीमत होगी :-

5494511

--------- ÷ 708

776

(2) एकल संक्रमणीय मत-प्रणाली :

मतों की कीमत निश्चित करने के बाद चुनाव गुप्त पत्र द्वारा एकल संक्रमणीय मत प्रणाली के आधार पर किया जाता है। इस प्रणाली में निम्न बातें होती है :-

(1) प्रत्येक मतदाता को एक वोट देने का अधिकार है, लेकिन उसे उतनी प्राथमिकताएं देने का अधिकार है जितने व्यक्ति चुनाव लड़ रहे है।

(2) चुनाव में जीतने वाले उम्मीद्वार को स्पष्ट बहुमत कोटा प्राप्त करना होता है। बहुमत कोटा निकालने की विधि इस प्रकार है :

डाले गए कुल मतों की संख्या

---------- + 1

सीटों की संख्या + 1

उदाहरणः अगर कुल मत 10,000 है तो कोटा होगाः

10,000

------ + 1 = 501

1 +1

मतों की गणना :

सबसे पहले उम्मीद्वारों की पहली पंसदो के वोट को गिना जाता है। जो उम्मीद्वार पहली बार निश्चित कोटा प्राप्त कर लेता है, उसे निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है। यदि कोई उम्मीद्वार निश्चित कोटा प्राप्त नहीं करता तो सबसे कम मत प्राप्त करने वाले उम्मीद्वार को चुनाव से बाहर कर दिया जाता है और उसके वोटों को वोटरों की दूसरी पसंद के अनुसार बाकी उम्मीद्वारों की दूसरी पंसद के अनुसार बाकी उम्मीद्वारों में बाट दिया जाता हैं। यह तब तक चलता है जब तक एक उम्मीद्वार को निश्चित कोटा नहीं मिल जाता। अब तक हुए 12 राष्ट्रपति के चुनावों में से केवल एक बार ही वोटों का हस्तान्तर करना पड़ा है। ऐसा सन् 1969 में हुआ थ जब की देशमुख की वोटों के वितरण से श्री गिरि को स्पष्ट बहुमत मिला मतदान पूरी तरह गुप्त होता है। ससंद सदस्य दिल्ली में या अपने राज्यों की राजधानी में वहां के विधानसभा के सदस्यों के साथ मतदान कर सकते है।

राष्ट्रपति पद के लिए पिछला चुनाव (12) वां जुलाई 2000 को हुआ। इस चुनाव में इलैक्ट्राल कालेज की कुल सदस्य संख्या 4896 थी और कुल 4785 वोट डाले गए जिनमें से वर्तमान राष्ट्रपति डा० अब्दुल कलाम को 4152 वोट मिले, जिनकी प्रतिशत संख्या 89.58 % थी। इस चुनाव में हारने वाले प्रत्याशी (लक्ष्मी सहगल) को 459 (10.42%) वोट मिले। इस चुनाव में इलैक्ट्राल कॉलेज के मतों का कुल मूल्य 1,07,366 था। इस चुनाव में 174 वोट अवैध पाए गए जिसमें 42 वोट संसद से थे।

राष्ट्रपति के चुनाव सम्बन्धी विवाद

मूल संविधान के अनुसार राष्ट्रपति के चूनाव सम्बन्धी विवादों को सुनने का अधिकार सर्वोच्च न्यायालय को दिया गया था। चुनाव में प्रत्याशी रहा कोई भी उम्मीद्वार अथवा कम से कम दस निर्वाचकों द्वारा सर्वोच्च न्यायालय में राष्ट्रपति के चुनाव को चुनौती दी जा सकती है। जिस प्रकार 1974 में राष्ट्रपति चुनाव से पहले गुजरात विधान सभा भंग हो चुकी थी। इस स्थिति में राष्ट्रपति ने 29 अप्रैल 1974 को अनुच्छेद 143 के तहत सर्वोच्च न्यायालय से परामर्श मांगा की गुजरात विधान सभा भंग

रहते क्या राष्ट्रपति का चुनाव हो सकता है। मुख्य न्यायधीश की अध्यक्षता में सात सदस्यीय संवैधानिक पीठ ने इस प्रश्न पर विचार किया और 5 जून का व्यक्त विचार में कहा कि "राष्ट्रपति के चुनाव वर्तमान राष्ट्रपति का कार्यकाल समाप्त होने से पूर्व होने चाहिए और एक राज्य की विधान सभा भंग होते हुए भी ये चुनाव हो सकत है। परन्तु सन 1975 में पास हुए संविधान के 39 वें सशोंधन द्वारा इस स्थिति में परिवर्तन किया गया कि राष्ट्रपति को चुनाव सम्बन्धी विवादों का फैसला सर्वोच्च न्यायालयों की बजाय संसद कानून द्वारा किसी संस्था अथवा समिति की स्थापना करके करेगी। इसमें यह भी व्यवस्था की गई कि इस संस्था द्वारा किया गया निर्णय अन्तिम होगा और उसे किसी भी न्यायालय में चुनौती नही दी जा सकेगी। परन्तु 44 वें संविधान संशोधन द्वारा फिर इस बारे में परिवर्तन किया गया कि राष्ट्रपति के चुनाव सम्बन्धी संदेहों तथा विवादों की जाँच और निर्णय उच्चतम न्यायालय करेगा और उसका निर्णय अन्तिम होगा। इसी आधार पर डा० जाकिर हुसैन तथा बी०वी० गिरि के चुनावों को उच्चतम न्यायालय में चुनौती दी गई थी। परन्तु उच्चतम न्यायालय ने उनको चुनावों को वैद्य घोषित करते हुए याचिकाओं को रद्ध कर दिया था।

राष्ट्रपति की चुनाव प्रणाली के दोष

(i) राष्ट्रपति के चुनाव की विधि अप्रजातान्त्रिक है, क्योंकि इसमें राष्ट्रपति का चुनाव प्रत्यक्ष तौर पर जनता द्वारा नहीं होता।

(ii) आम (साधारण) व्यक्ति के लिए यह चुनाव प्रणाली उसकी समझ से बाहर है। उचित यह होता कि इसको अधिक सरल व सहज रखा जाता।

(iii) राष्ट्रपति की चुनाव-प्रणाली के लिए अनुपातिक प्रतिनिधित्व तथा एकल सक्रंमणीय मत शब्दावली का प्रयोग किया गया है जो गलत है। यह प्रणाली वहां अपनाई जाती है जहाँ बहुत सदस्य निर्वाचन करने हो। संविधान सभा में सर्वश्री महाबीर त्यागी, नजीरूद्धीन तथा बेंगम अजीज रसूल ने इस चुनाव प्रणाली को आनुपातिक प्रतिनिधित्व का नाम देने पर भी आपत्ति जताई थी। एम० पी० शर्मा के अनुसार इस चुनाव प्रणाली का नाम वैकल्पिक या वरीयता प्रणाली होना चाहिए।

(iv) इस प्रणाली का यह दोष भी है कि यदि उम्मीदवार दो से अधिक हों और मतदाता केवल एक ही पसन्द का प्रयोग करे। इस प्रकार यदि किसी को पहली पंसद में बहुमत ना मिले तो चुनाव किस प्रकार होगा? उचित तो यह होता कि राष्ट्रपति पद के लिए तीन या इससे अधिक उम्मीद्वार हों और संविधान निर्माता कम से कम तीन पसन्दों को देना अनिवार्य कर देते।

राष्ट्रपति द्वारा शपथ ग्रहण करना

अपना पद ग्रहण करने से पहले भारत के राष्ट्रपति को सर्वोच्च न्यायाधीश के समक्ष शपथ लेनी पड़ती है जिसका उल्लेख संविधान की धारा 60 में इस प्रकार किया गया है। "मैं ईश्वर की शपथ लेता हूँ। सत्यनिष्ठा से प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं श्रद्धापूर्वक भारत के राष्ट्रपति पद का कार्य-पालन करूँगा तथा अपनी पूरी योग्यता से संविधान और विधि का परिरक्षण, संरक्षण तथा प्रतिरक्षण कँरूगा और में भारत की जनता की सेवा और कल्याण में निरत रहूँगा।"

राष्ट्रपति की शक्तियाँ एवं कार्य

विधिशात्रियों के अनुसार भारतीय राष्ट्रपति सर्वशक्तिमान है जबकि राजनीति शक्तियों का कहना है कि केवल वह संवैधानिक अध्यक्ष है जो शक्ति की बजाय प्रभाव का प्रयोग करता है। संविधान के अनुच्छेद 53 के अनुसार संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित होगी, जिसका प्रयोग वह स्वयं या अपने अधीनस्थ अधिकारियों द्वारा करेगा। संविधान के प्रावधानों के अनुसार भारत के राष्ट्रपति को दो प्रकार की शक्तियाँ प्राप्त है।

(i) शान्तिकालीन शक्तियाँ

(ii) आपातकालीन शक्तियाँ

(1) शान्तिकालीन शक्तियाँ :

राष्ट्रपति द्वारा साधारण परिस्थितियों में प्रयुक्त होने वाली शान्तिकालीन शक्तियां निम्नलिखित हैः -

(क) विधायी शक्तियाँ :

राष्ट्रपति संसद का अभिन्न अंग है। राष्ट्रपति की विधायी शक्तियाँ निम्नलिखित है :-

(i) **संसद का अधिवेशन बुलाना तथा सजावसान करनाः** संविधान के अनुच्छेंद 58 (1),(2) के अर्न्तगत राष्ट्रपति संसद का अधिवेशन बुलाता है तथा समाप्त करता है। राष्ट्रपति संसद के अधिवेशनों का सजावसान कर सकता है। किन्तु दो सत्रों के मध्य छः माह से अधिक अन्तर नहीं होना चाहिए।

(ii) **संसद के अधिवेशनों का उद्घाटन :** लोकसभा चुनावों के बाद गठित सरकार तथा प्रतिवर्ष वबजट सत्र के दौरान राष्ट्रपति संसद में अभिभाषण देता हे जो सम्बअन्धित सरकार की नीतियों का दपर्ण होता है।

(iii) **संयुक्त अधिवेशन बुलानाः** यदि संसद के दोनों सदन किसी विषय पर असहमति प्रकट करें तो दोनों सदनों की सयुंक्त बैठक बुला सकता है।

(iv) राष्ट्रपति संसद के किसी भी सदन को संदेश भेज सकता है।

(v) राष्ट्रपति, लोकसभा में दो एंग्लोइन्डियन व्यक्तियों को मनोनीत कर सकता है यदि उन्हें आम चुनाव के दौरान संसद में पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं मिला हों। इसी प्रकार राज्य सभा में भी राष्ट्रपति 12 ऐसे व्यक्तियों को मनोनित कर सकता है जो साहित्य, कला, विज्ञान, सामाजिक जीवन या शिक्षा आदि के क्षेत्रो में विशेष ज्ञान का अनुभव रखते हों।

(vi) आपातकाल में राष्ट्रपति लोकसभा की अवधि एक वर्ष बढ़ा सकता है।

(vii) **अध्यादेश जारी करने की शक्तिः** अनुच्छेद 123 के अनुसार जब संसद के दोनों सदनों की बैठक न हो रही हो तथा किसी विषय पर तत्काल निर्णय लेना हो तो राष्ट्रपति अध्यादेश जारी कर सकता हैं जो संसद की अगली बैठक के छः सप्ताह के दौरान अनुमोदित अथवा इसके पश्चात निरसत हो जाएगा। ये अध्यादेश मूल अधिकारों के हनन से सम्बन्धित नहीं हो सकते है। राष्ट्रपति के व्यक्तिक समाधान पर आधारित इन अध्यादेश को न्यायालय में चुनौती नही दी जा सकती है। अगर संसद इसे स्वीक त दे देती है तो यह अध्यादेश कानून बन जाता है। जैसे अटल बिहारी सरकार में राष्ट्रपति द्वारा आंतकवाद के खिलाफ आतंकवादी निरोधक अध्यादेश (POTO) जारी किया था जो बाद में कानून में बदल गया (POTA)। आलोचकों के अनुसार सत्तारूढ़ दल राष्ट्रपति की इस शक्ति का दुरूपयोग करते हैं, जैसे बैंको के राष्ट्रीयकरण के बारे में जो अध यादेश जारी किया गया था वह संसद के अधिवेशन के शुरू होने से 2-3 दिन पूर्व किया गया था, जो न्याय संगत नही था। ए०बी० लाल के अनुसार किसी भी देश में जहां लिखित संविधान तथा संसदीय प्रणाली थी सरकार हो, राज्याध्यक्ष को ऐसी वैधानिक शक्ति प्राप्त नहीं हैं।

(viii) **लोकसभा को भंग करने की शक्तिः** भारत का राष्ट्रपति जब चाहे संसद के निचले सदन को भंग कर सकता है, लेकिन वास्तव में वह इस शक्ति का प्रयोग प्रधानमन्त्री की सलाह से ही करता है। उदाहरण के लिए सन् 1970 में राष्ट्रपति श्री वी०वी०गिरि ने श्रीमति इन्दिरा गांधी की सलाह पर लोकसभा को भंग किया था। 22 अगस्त, 1979 को राष्ट्रपति श्री संजीवा रेड्डी ने चौ० चरणसिंह की सलाह पर लोकसभा को भंग कर किया था।

(ix) **संसद द्वारा पास किए गए बिलों पर स्वीक ति :** संसद में बिलों के पास होने के बाद राष्ट्रपति की स्वीक ति लेना आवश्यक है। यदि वह किसी बिल को स्वीक त न दे, तो वह उस (धन विधेयक के अतिरिक्त) बिल को

पुनः विचार के लिए संसद के पास वापिस भेज सकता है। यदि वह विधेयक संसद के दोनों सदनों में पास होकर पुनः राष्ट्रपति के पास चला जाए तो राष्ट्रपति को उस पर अपनी स्वीक ति देनी पड़ती है। जैसे राष्ट्रपति आर० के० नारायणन ने अक्तूबर 1997 तथा सितम्बर 1998 में दो बार उत्तरप्रदेश तथा बिहार के खिलाफ राष्ट्रपति शासन लागु करने के विधेयकों को पुनर्विचार के लिए मन्त्रिमण्डल के पास भेजा था। इसी प्रकार अगस्त 2002 में राष्ट्रपति ए०पी०जे० अब्दुलकलाम द्वारा जन प्रतिनिधित्व (संशोधन) बिल, 2002 को पुनर्विचार के लिए भेजा, परन्तु मन्त्रिमण्डल ने बिना किसी फेर बदल के उसी बिल को वापिस की स्वीक ति के लिए भेज दिया और राष्ट्रपति को उस पर स्वीक ति देनी पड़ी।

(x) धन विधेयक, नये राज्यों के निर्माण (जैसे छत्तीसगढ़, उत्तराचल तथा झारखण्ड) तथा वर्तमान राज्यों की सीमा में परिवर्तन, राज्यों के वित्तीय संसाधनों तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आदि को प्रभावित करने वाले विषयों से सम्बन्धित विधेयक राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति के बाद ही सदन में प्रस्तुत किए जा सकते है।

(xi) राज्य विधान मण्डलों द्वारा राष्ट्रपति को भेजे हुए विधेयकों को राष्ट्रपति पुनर्विचार हेतु लौटा सकता हैं तथा दोबारा आने पर आर्थिक आधार पर अपनी स्वीक ति पूर्णतः रोक भी सकता हैं जो संसद के विधेयकों के सम्बन्ध में अशनः ही लागू होती है।

कार्यपालिका शक्तियाँ

भारतीय संघ की समस्त कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित है। संविधान के अनुच्छेद 53 के अनुसार संघ की कार्यकारी शक्ति राष्ट्रपति में निहित है और वह इसका प्रयोग स्वयं या अपने अधीनस्थ पदाधिकारियों द्वारा करता है। सारे देश का शासन राष्ट्रपति के नाम पर ही चलाया जाता है। इसकी कार्यपालिका शक्तियां निम्नलिखित है :

(i) प्रधानमन्त्री की नियुक्ति तथा प्रधानमन्त्री के परामर्श पर मन्त्रिपरिषद के अन्य मन्त्रियों की नियुक्तियाँ करना;

(ii) प्रधानमन्त्री तथा मन्त्रीपरिषद को पद से हटाना;

(iii) राष्ट्रीय नीतियों तथा कार्यक्रमों में सहमति प्रकट करना तथा प्रधान मन्त्री से सूचना माँगना;

(iv) देश के संचालन तथा मार्गदर्शन में सहयोग देना;

(v) उच्चमत न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायाधीश तथा अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति करना;

(vi) भारत के मान्यायविद (अटार्नी जनरल) की नियुक्ति, नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक की नियुक्ति, राज्यों के राज्यापालों की नियुक्ति, केन्द्र शासित प्रदेशो में आयुक्तों की नियुक्ति, संघ सेवा आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्यों की नियुक्ति, निर्वाचन आयोग के मुख्य चुनाव आयुक्त तथा चुनाव आयुक्तों की नियुक्ति, राजदूतों तथा अन्य मिशनों में नियुक्ति, अन्तर्राष्ट्रीय परिषद, राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद, वित-आयोग, केन्द्रीय सतकर्ता आयोग इत्यादि में नियुक्यिाँ करना राष्ट्रपति के क्षेत्राधिकार में है।

(vii) राष्ट्रवति अनेक पुरस्कारों अंलकारों तथा सम्मान पत्रों इत्यादि का वितरण करता है।

वस्तुतः राष्ट्रपति अपनी सभी शक्तियों का प्रयोग प्रधानमन्त्री तथा मन्त्रिपरिषद के परामर्श पर करता है अर्थात वास्तविक रूप से ये शक्तियाँ राष्ट्रपति में निहित न होकर मन्त्रिपरिषद में निहित है।

(3) वितीय शक्तियां :

राष्ट्रपति के नाम से ही प्रतिवर्ष बजट वितमन्त्री द्वारा संसद में पेश किया जाता है। उनकी अनुमति के बिना कोई भी बिल विधेयक लोकसभा में प्रस्तावित नहीं किया जा सकता। राष्ट्रपति ही प्रतिवर्ष लेखा परीक्षक की रिर्पोट, वित आयोग की सिफारिशें आदि संसद के समक्ष रखवाता है। भारत की आकस्मिक निधि पर उसका पूर्ण नियन्त्रण होता है। वह संसद की

स्वीक ति के बिना इसमें से अचानक पड़ने वाले खर्चो के लिए कुछ धन सरकार को दे सकता है। वह संसद से पूरक, अतिरिक्त और उपवादभूत अनुदानों की मांग कर सकता है। राष्ट्रपति कुछ राज्यों को केन्द्रीय अनुदान दिलाने के लिए आज्ञाप्ति जारी कर सकता है। वह करों से होने वाली आय के वितरण का निर्धारण करता है। संघ तथा राज्यों के बीच करों के विभाजन के सम्बन्ध में सलाह देने के लिए वित आयोग की नियुक्ति का अधिकार भी राष्ट्रपति को ही प्राप्त है।

(4) न्यायिक शक्तियां :

राष्ट्रपति उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायलयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति करते है। उच्चतम न्यायालय के अधिकारियों एवं कर्मचारियों की नियुक्ति के सम्बन्ध में नियमों का निर्धारण भी राष्ट्रपति ही करते है। संविधान के अनुच्छेद 72 के अनुसार उन्हें क्षमादान का अधिकार दिया गया है। वे दण्ड को पूर्णरूप से क्षमा कर सकते है, स्थागित कर सकते है अथवा दण्ड में परिवर्तन कर सकते है। इस अधिकार का प्रयोग केवल तीन प्रकार के दण्डों पर कर सकते हैं :

(i) यदि दण्ड किसी सैनिक न्यायालय द्वारा दिया गया हो;

(ii) यदि दण्ड ऐसे मामलों में दिया गया हो जो केन्द्रीय कार्यपालिका के क्षेत्रधिकार के अन्तर्गत आते हों, और

(iii) यदि अपराधी को म त्युदण्ड दिया गया हो।

व्यवहार में राष्ट्रपति इन अधिकारों का प्रयोग मन्त्रिमण्डल के परामर्श से ही करेगा।

(5) सैनिक शक्तियां :

तीनों सेनाओं का सर्वोच्च कमान राष्ट्रपति में निहित है, परन्तु वह अपनी इस शक्ति का प्रयोग विधि के अनुसार ही कर सकेगा। वस्तुतः युद्ध और शान्ति के समय कानून बनाने का अधिकार पूर्णरूप से संसद को प्राप्त है और बिना संसद की स्वीक ति या बाद में संसद की स्वीक ति लेने की आशा में, न तो युद्ध की घोषणा कर सकते है और न ही सेनाओं को युद्ध में लड़ने के लिए भेज सकता है।

(6) राजनायिक शक्तियां :

राष्ट्रपति विदेशों में देश का प्रतिनिधित्व करते है वे राजदूतों, राजनायिक प्रतिनिधियों तथा वाणिज्य दूतों की नियुक्ति करते है, वे विदेशों के राजनायिक प्रतिनिधियों के प्रमाण-पत्रों को स्वीकार करते है। अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियां, समझौते या बातचीत राष्ट्रपति के नाम से ही किए जाते है। व्यवहार में ये तभी लागू होते है जब इन पर संसद की स्वीक ति मिल जाती है।

(7) राज्यों के सम्बन्ध में शक्तियां :

राज्यों के राज्यपालों तथा उच्च न्यायालयों के न्यायधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति ही करता है। यदि कोई राज्य निम्न विषयों पर अधिनियम बनाना चाहे तो राष्ट्रपति की स्वीक ति आवश्यक है;

(i) राज्य द्वारा सम्पति प्राप्त करने के लिए बनाए गए अधिनियम,

(ii) किसी राज्य के अन्दर या दूसरे राज्यों के साथ व्यापार आदि पर प्रतिबन्ध लगाने वाले विधेयकों को राज्य की विधान सभा में प्रस्तुत करने से पूर्व राष्ट्रपति की स्वीक ति प्राप्त करना आवश्यक है।

(8) सर्वोच्च न्यायालय से परामर्श लेने का अधिकार:

संविधान के अनुच्छेद 143 के अनुसार सार्वजनिक महत्व के किसी भी प्रशन पर राष्ट्रपति उच्चतम न्यायाल से कानूनन परामर्श ले सकते है। उच्चतम न्यायालय द्वारा दिया गया परामर्श बाध्यकारी नही होता और वह राष्ट्रपति की इच्छा पर है कि वे उस परामर्श को स्वीकार करें अथवा नहीं।

इस प्रकार भारत के राष्ट्रपति को शान्तिकाल में विस्त त शक्तियां प्राप्त हैं। शान्तिकाल में यह अपेक्षा की गई है कि वह संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में ही कार्य करेगा क्योंकि हमारे देश में संसदात्मक शासन प्रणाली अपनाई गई। हरिविष्णु कामथ ने संविधान निर्मात्री सभा में ठीक ही कहा था कि "हम अपने राष्ट्रपति को एक संवैधानिक अध्यक्ष का रूप दे देना चाहते हैं,

हमारी यह अपेक्षा है कि वह संसद की सलाह तथा निर्देश के अनुसार कार्य करेगा।" वस्तुतः उसकी समस्त शक्तियों का प्रयोग प्रधानमंत्री के नेत त्व में मन्त्रिमण्डल करेगा, जो संसद के प्रति उत्तरदायी होगा।

आपातकालिन शक्तियाँ

जर्मनी के बाईमर संविधान की भांति भारत के संविधान द्वारा भी राष्ट्रपति को आपातकालीन शक्तियाँ प्रदान की गई है। हमारे संविधान के 18वें भाग में इन शक्तियों का उल्लेख किया गया है। आपातकालीन समस्या के समाधान के लिए शक्तियों का कुछ केन्द्रीकरण आवश्यक हो जाता है। जिसे यह भी सम्भव है कि कार्यपालिका निरकुंश रूप धारण करने का प्रयत्न कर सकती है। संविधान में इस संदर्भ में प्रायः कुछ विशेष रक्षक प्रावधान समावेशित किए गए है जो कार्यपालिका की निरकुंश बनने की प्रव ति पर अवरोध लगाते है। 44 वें संविधान संशोधन के तहत आपातकालीन प्रावधानों को सुरक्षा कवच पहनया गया है और अब आपातकालीन शक्त्यिों के प्रावधान इस प्रकार है :

(1) **युद्ध, बाहरी आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह से उत्पन्न संकट :** मूल संविधान के अनुच्छेद 352 में व्यवस्था है कि यदि राष्ट्रपति को यह विश्वास हो जाये कि युद्ध, ब्रहम आक्रमण या आन्तिरिक अशान्ति के कारण भारत या उसके किसी भाग की शान्ति व्यवस्था के नष्ट होने की आंशका है या यर्थाथ रूप में इस प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न होने पर राष्ट्रपति संकटकालीन स्थिति की घोषणा कर सकता था। यह स्थिति दो माह तक बिना संसद की स्वीक ति के लागू रह सकती थी और संसद की स्वीक ति मिल जाने पर शासन उसे जब तक चाहता लागू रख सकता था। अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत चार बार आपातकाल की घोषणा की गई-1962, 1965, 1971 (बाहरी आक्रमण) तथा 1975 (आन्तरिक अव्यवस्था के कारण)। संकट काल के दौरान शक्तियों का दुरूपयोग किया गया, विशैषतौर पर 1975 के आपात काल के दौरान । अतः इन आपातकालीन शक्तियों के दुरूपयोग को रोकने के उद्धेश्य से 44 वें संवैधानिक संशोधन अधिनियम, 1978 द्वारा राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियों पर काफी प्रतिबन्ध लगा दिए गए है, जो इस प्रकार हैं :-

(i) अनुच्छेद 352 में "आन्तरिक अशान्ति" के स्थान पर "सशस्त्र विद्रोह" शब्दावली का प्रयोग किया गया है, जिससे राष्ट्रपति आन्तरिक अशान्ति की स्थिति में तभी आपात-उद्घोषणा कर सकेगाा जब देश के किसी भाग में "सशस्त्र विद्रोह" प्रारम्भ हो गया हो।

(ii) राष्ट्रपति द्वारा आपातकाल की घोषणा तभी की जा सकेगी जब मंत्री मण्डल लिखित रूप से राष्ट्रपति को ऐसा परामर्श दे।

(iii) राष्ट्रपति द्वारा घोषणा किए जाने के एक माह के अन्दर संसद के विशेष बहुमत (प थक-प थक संसद के दोनों संदनो के कुल बहुमत एवं उपस्थिति और मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत) से इसकी स्वीक ति आवश्यक है तथा लागू रखने के लिए प्रति छः माह बाद संसद की स्वीक ति प्राप्त करना आवश्य है।

(iv) संसद के साधारण बहुमत द्वारा संकट काल की घोषणा समाप्त की जा सकती है।

आपात उद-घोषणा के प्रभाव :

आपात उद-घोषणा के निम्नलिखित संवैधानिक प्रभाव है : -

(i) संसद को सम्पूर्ण देश अथवा उसके किसी क्षेत्र के लिए सभी विषयों अथवा राज्य सूची में दिए गए विषयों पर भी कानून बनाने की शक्ति प्राप्त हो जाएगी। राज्य-सूचि के सम्बन्ध में संघ द्वारा निर्मित ये कानून उद्घोषणा भी समाप्ति के छः माह बाद प्रभावी नही रहेंगे।

(ii) संघ की कार्यपालिका को राज्यों की कार्यपालिकाओं को यह निर्देश देने का अधिकार हो जाता है कि किस प्रकार शक्ति का प्रयोग करें।

(iii) राष्ट्रपति यह आदेश दे सकता है कि संघ और राज्यों के बीच आय-वितरण सम्बन्धी सभी या कोई भी उपबन्ध चालू वित्तीय वर्ष में उसके निर्देशनुसार संशोधित होते रहेगें, परन्तु ऐसा आदेश यथा शीघ्र संसद के दोनों सदनों के सामने रखा जाएगा।

(iv) आपातकालीन घोषणा के लागू रहने के समय में 19 वें अनुच्छेंद द्वारा नागरिकों को प्राप्त स्वतन्त्रताएँ स्थगित हो जाएगीऔर राज्य के द्वारा इन स्वतन्त्रताओं को स्थागित करने वाले कानूनों का निर्माण किया जा सकेगा। 44 वें संविधान संशोधन में प्रावधान किया गया है कि यदि आपात-स्थिति सशस्त्र विद्रोह के कारण लागू की गयी है, तो अनुच्छेद 19 की व्यवस्थाओं का स्थगित नहीं किया जा सकता। आपात-स्थिति की समाप्ति के बाद ऐसे कानून तत्काल समाप्त हो जाएँगे।

(v) मूल संविधान में व्यवस्था थी कि राष्ट्रपति के आदेश द्वारा अनुच्छेद 32 वें वर्णित संवैधानिक उपचारों (न्यायालय की शरण) के अधिकारों को भी स्थगित कर सकता है। 44 वें संशोधन के आधार पर यह व्यवस्था की गई कि आपातकालीन में भी जीवन और शारीरिक स्वाधीनता के अधिकार को समाप्त या सीमित नही किया जा सकेगा। लेकिन इसके अतिरिक्त अन्य अधिकारों के लिए नागरिक न्यायालय की शरण ले सकेगा।

(2) राज्यों में संवैधानिक तन्त्र के असफल होने से उत्पन्न संकट :

संविधान के अनुच्छेद 356 के अनुसार अगर राष्ट्रपति को राज्यपाल के प्रतिवेदन पर या किसी अन्य प्रकार से यह विश्वास हो जाये कि ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न हो गई है कि किसी राज्य का शासन संविधान के उपबन्धों के अनुसार नही चलाया जा सकता है तो वह संकट काल की घोषणा कर सकता है। ऐसा आपात काल घोषित करने की विधि वही है जो प्रथम प्रकार के संकट के लिए है। मूल संविधान में संकट की समय अवधि छः माह थी। 42 वें संशोधन द्वारा इस अवधि को पुनः छः माह कर दिया गया है। इससे पूर्व राज्य में राष्ट्रपति शासन के एक वर्ष की अवधि के बाद इसे और अधिक समय के लिए जारी रखने का प्रस्ताव संसद तभी पारित कर सकेगी, जबकि इस प्रकार का प्रस्ताव पारित किए जाने के समय अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत संकटकाल लागू हो और चुनाव आयोग यह प्रमाणित कर दे कि राज्य में चुनाव कराना सम्भव नहीं है।

धोषणा के संवैधानिक प्रभाव :

इस प्रकार की घोषणा के निम्नलिखित परिणाम हो सकते है।

(i) राष्ट्रपति किसी भी राज्य अधिकारी का कोई भी कार्यपालिका सम्बन्धित कार्य स्वयं ग्रहण कर सकता है।

(ii) राष्ट्रपति राज्य के विधान मण्डल की शक्तियाँ संसद को हस्तान्तिरित कर सकता है तथा संसद को यह अधिकार होगा कि वह उन विधायी शक्तियों को राष्ट्रपति को सौंप दे अथवा राष्ट्रपति को यह अधिकार दे कि वह उन्हें किसी अन्य अधिकारी को सौंप दे।

(iii) यदि लोक सभा का सत्र नही चल रहा हो, तो राष्ट्रपति राज्य की संचित निधि में से आवश्यक खर्च की स्वीक ति प्रदान कर सकता है।

(iv) राष्ट्रपति उद्घोषणा की पूर्ति के लिए उच्च न्यायालय की शक्ति को छोड़कर अन्य समस्त शक्तियाँ अपने हाथ में ले सकता है।

संविधान के इन उपबन्धों का अब तक लगभग ११५ से भी अधिक बार इस्तेमाल किया जा चुका है।

आर्थिक आपातकाल : -

धारा 360 के अन्तर्गत यदि राष्ट्रपति को यह विश्वास हो जाए कि भारत पर उसके किसी राज्य के किसी भाग को वित्तीय स्थापित्व संकट में हैं, तो वित्तीय संकट की घोषणा कर सकता हैं। यदि यह घोषणा संसद दो मास के अन्दर अनुमोदित नहीं करती तो यह अपने आप समाप्त हो जाती है। ऐसा आपातकाल भारत में अभी तक नही आया है।

प्रभाव : -

(i) वित्तीय संकट की अवस्था में राष्ट्रपति राज्यों को ऐसे निर्देश दे सकता है जो उसकी द ष्टि से वित्तीय साख बनाये रखने के लिए आवश्यक हों।

(ii) ऐसे समय में सरकारी कर्मचारियों के वेतन कम कर सकता है।

(iii) वह आदेश दे सकता है कि प्रत्येक धन बिल उसकी स्वीक ति के लिए भेजा जाए।

(iv) वह संघ और राज्यों के बीच राजस्व के बटवारें के विषय में आवश्यक बदलाव कर सकता है।

(v) वित्तीय साख को बचाने के लिए कोई भी कदम उठा सकता है।

संकटकालीन शक्तियों की आलोचना :-

(1) मौलिक अधिकार अर्थहीन हो जाऐगें। इन शक्तियों के आधार पर वह छः मौलिक स्वतन्त्रताओं को निलंबित कर सकता है तथा उस समय न्यायालय में भी इसको चुनौती नही दी जा सकती। ऐसे समय में राष्ट्रपति तानाशाह बन सकता है।

(2) संकटकाल में राष्ट्रपति राज्यों के आर्थिक मामलों के दखल दे सकता है। जिससे राज्यों की वित्तीय स्वतन्त्रताओं को बड़ा आघात पहुँचता है।

(3) इससे राज्यों में विरोधी दलों की सरकारों का दमन किया जा सकता है क्योंकि सत्ताधारी दल अन्य दलों पर भारी पड़ने का प्रयास कर सकता है।

(4) संकटकाल में न्यायपालिका के अधिकारों को सीमित किया जाना ठीक नहीं। संविधान की धारा 352 तथा 356 के अधीन राष्ट्रपति द्वारा की गई आपातकालीन घोषणाओं के औचित्यों को किसी न्यायालय में चुनौती नही दी जा सकती। लेकिन अब 44वें संशोधन के अनुसार राष्ट्रपति की घोषणा को न्यायालय में चुनौती दी जा सकती है।

(5) संघीय ढांचा संकटकाल में एकात्मक सरकार में बदल जाता है। जिससे राज्यों की सरकार समाप्त हो जाती है।

(6) वित्तीय संकटकाल में राष्ट्रपति न्यायाधीशों के वेतन कम कर उनकी स्वतन्त्रता को हानि पहुचाँ सकता है।

राष्ट्रपति की स्थिति : -

राष्ट्रपति की विभिन्न शक्तियों से यह प्रतीत होता है। कि वह देश का वास्तविक तथा संवैधानिक मुखिया है परन्तु उसकी वास्तविक स्थिति को देखा जाए तो ऐसा नहीं है। इसलिए भारतीय राष्ट्रपति की वास्तविक स्थिति का निर्धारण एक अत्याधिक विवादग्रस्त प्रश्न है। संविधान के अनुच्छेद 53 के द्वारा राष्ट्रपति को जो शक्तियां दी गई है व्यवहार में वह स्वयं के विवे क के आधार पर इन शक्तियों का प्रयोग कर सकता है। इसी प्रकार अनुच्छेद 74(1) में निहित शक्तियों के अनुसार राष्ट्रपति मन्त्रिपरिषद की सलाह मानने के लिए बाध्य नही होगा और वह चाहे तो वास्तविक शासक बन सकता है। डी० एन० बनर्जी के अनुसार "क्या राष्ट्रपति को अनुच्छेद 74(1) के उपबन्ध मानने के लिए बाध्य किया जा सकता है। क्या राष्ट्रपति हर स्थिति में अपने मन्त्रियों की मनत्रणा मानने को बाध्य है। मैं तो कहता हूँ कि ऐसी नही है।" प्रारूप समिति के वैधानिक सलाहकार श्री बी० एन० राव लिखते है कि "संविधान राष्ट्रपति का कोई ऐसा वैधानिक उत्तरदायित्व निश्चित नही करता है कि वह मन्त्रियों की मन्त्रणा के आधार पर काय्र करेगा। क्या वह और किसी सीमा तक ऐसा करने के लिए बाध्य होगा, परम्परा का विषय है।" संविधान सभा के अध्यक्ष डा० राजेन्द्र प्रसाद का भी यही मत था कि "अनुच्छेद 74(1) यह नही कहता कि राष्ट्रपति को मन्त्रियों की मन्त्रणा माननी ही होगी। 18 सितम्बर 1951 को प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद ने एक नोट भेजाकि किसी भी बिल की स्वीक ति के समय, संसद को संदेश भेजते समय तथा बिलों को पुनर्विचार के लिए भेजते समय वह अपने विवेक से कार्य करेगा, न कि मन्त्रिपरिषद की सलाह पर। इसके बाद प्रधानमन्त्री जवाहरलाल नेहरू ने राष्ट्रपति के विचारों को मद्रास में ए० के० अययर तथा अटार्नी जरनल एम० सी० सटालबद के पास उनकी सलाह के लिए भेजा, तो दोनों ने राष्ट्रपति के विचारों के खिलाफ राय दी और कहा कि इससे पूरे संविधान का ढांचा हिल जाएगा और राष्ट्रपति एक तानाशाह बन सकता है।

डा० राजेन्द्र प्रसाद ने 28 नवम्बर 1960 को भारतीय विधि सस्थान में भाषण के दौरान इस आवश्यकता पर बल दिया कि "वैज्ञानिक पद्धति से इस सन्दभ्र में अध्ययन और परीक्षण होना चाहिए, जिससे राष्ट्रपति के कार्यो एवं शक्तियों की सीमाओं का आभास हो सके।"

सन् 1967 में राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार सुबबाराव तथा समर्थकों के द्वारा 'स्वतन्त्र राष्ट्रपति' धारणा के बारे में कहा था कि राष्ट्रपति केवल एक संवैधानिक प्रधान नही हैं और उस पर संविधान की व्यवस्थाओं को क्रियान्वित करने का विशेष भार है। अतः इस पक्ष के संवैधानिक प्रधान ही बनाना था तो उसको कुछ ऐसी शक्तियाँ क्यो दी गई जो उच्यक्षात्मक प्रणाली

में पाई जाती है। उनके अनुसार भारतीय राष्ट्रपति सभी परिस्थितियों में मन्त्रीपरिषद की मन्त्रणाओं को मानने के लिए बाध्य नहीं होगा।

भारतीय राष्ट्रपतियों की भूमिका के सम्बन्ध में तुलनात्मक अध्ययन

1950 से 2003 तक भारतीय प्रशासन में राष्ट्रपति की भूमिका का तुलनात्मक अध्ययन करना एक महत्वपूर्ण पहलू हैं और यह अध्ययन राष्ट्रपति के व्यक्तित्व, तत्कालीन परिस्थिति तथा प्रशासन में उनकी स्थिति पर निर्भर करता है।

सर्वप्रथम डा० राजेन्द्र प्रसाद तथा प० जवाहरलाल नेहरू के बीच हिन्दू कोड बिल के सम्बन्ध में मतभेद उत्पन्न हुए। तिब्बत को चीन के अंग के रूप में स्वीकार करने के शासन के द ष्टिकोण से भी डा० प्रसाद सहमत नही थे। केरल के साम्यवादी शासन के विरूद्ध कांग्रेसी आन्दोलन (1959) को राष्ट्रपति नितान्त अनुचित मानते थे। डा० प्रसाद द्वारा सोमनाथ मन्दिर के उत्सव की अध्यक्षता, दिसम्बर 1950 में पटेल की शवयात्रा मे भाग लेने और 1952 में बनारस यात्रा के अवसर पर श्रद्धावश पण्डितों के पैर धोने के सम्बन्ध में नेहरू के विरोध को अस्वीकार करते हुए अपने विवेक के अनुसार कार्य किया। सौभाग्यवश इन मतभेदों को सार्वजनिक रूप से व्यक्त नहीं किया गया।

दूसरे राष्ट्रपति डा० राधाक ष्णन प्रशासन में स्वतन्त्र रूप से भूमिका निभाने की आकाक्षा रखते थे। जैसे जनरल थापर के त्यागपत्र देने पर जनरल चौधरी की नियुक्ति करना राधाक ष्णन के परामर्श का ही परिणाम था जब कि प० नेहरू जनरल कौल को इस पद पर नियुक्त करना चाहते थे। पंजाब के मुख्यमन्त्री प्रतापसिंह कैरों के विरूद्ध जांच आयोग बैठाने का कार्य भी नेहरू ने अपनी इच्छा के विरूद्ध और डा० राधा क ष्णन के आग्रह पर ही किया था।

डा० जाकिर हुसैन के राष्ट्रपति के काल मे बदली हुई दलीय स्थिति के कारण उनकी केन्द्र तथा राज्यों के सम्बन्धों में भूमिका अधिक महत्वपूर्ण हो सकती थी परन्तु राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री की पसन्द के उम्मीदवार होने के करण दोनों में इस प्रकार का कोई मतभेंद नही हुआ। इसका अर्थ यह है कि राष्ट्रपति जाकिर हुसैन पूर्णरूप से प्रधानमन्त्री के कार्यो से सहमत रहते थे।

श्री वी०वी० गिरि तथा प्रधान मन्त्री श्रीमति इन्दिरा गांधी के सम्बन्ध सन् 1972 के अंत तक मधुर रहे परन्तु 1973 के आरपय में राष्ट्रपति शासन को परामर्श देने, चेतावनी देने तथा भत्सर्ना करने का कार्य करने लगा। सन 1974 में रेलवे हड़ताल के सम्बन्ध में और गुजरात विधानसभा भंग किए जाने के सम्बन्ध में उनके विचार प्रधानमन्त्री से मेल नही खाते थे।

1974 में राष्ट्रपति पद के लिए यह धारणा अपनाई गई कि राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री का आदमी हो' और फखरूद्धीन अली अहमद को राष्ट्रपति चुना गया। राष्ट्रपति अहमद के द्वारा 24 जून 1975 की रात्री को आपातकालीन उद्घोषणा पर यह जानते हुए हस्ताक्षर किए कि मन्त्रिमण्डल ने इस विषय पर विचार नही किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि इस समय राष्ट्रपति एक रबड़ की मोहर के रूप मे कार्यरत है।

सन् 1977 में भारत के संवैधानिक इतिहास में पहली बार किसी महत्वपूर्ण संवैधानिक प्रश्न पर प्रधानमन्त्री और राष्ट्रपति के बीच मतभेद व राज्यों की विधान सभाएं भंग किए जाने पर देखा गया। बी०डी०. जत्ती ने स्थिति का अध्ययन करने के नाम पर 24 घण्टे से भी अधिक समय तक मन्त्रिमण्डल के निर्णय पर अपनी स्वीक ति नही दी, परन्तु बाद में मन्त्रिमण्डल के परामर्श को स्वीकार कर लिया गया। नीलम संजीव रेडडी का राष्ट्रपति पद पर (जुलाई 1977) सर्वसम्मत निर्वाचन हुआ और इससे राष्ट्रपति पद तथा पदधारी की प्रतिष्ठा में व द्धि हुई। 15 जूलाई, 1979 को असामान्य परिस्थितियों में मोरारजी देसाई के पद त्याग तथा यशवन्त राव चौहान द्वारा सरकार बनाने में असमर्थता व्यक्त किए जाने के बाद राष्ट्रपति द्वारा चरण सिह से प्रधानमंत्री पद के लिए अपने दावे प्रस्तुत करने को कहा और दावे प्रस्तुत किए जाने पर चरणसिंह को सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित किया गया। इसके साथ एक माह के अन्दर उनके द्वारा लोकसभा में विश्वास मत प्राप्त किए जाने का आदेश दिया। चरणसिंह सरकार वस्तुतः राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत सरकार थी क्योंकि उसने लोकसभा में कभी विश्वास प्राप्त नहीं किया। चरणसिंह सरकार द्वारा प्रस्तावित नजरबन्दी अध्यादेश पर हस्ताक्षर करने से पूर्व राष्ट्रपति रेडडी द्वारा सरकार से कुछ स्पष्टीकरण माँगे गए।

सन् 1980 में श्रीमति इन्दिरा गांधी के पुनः सत्ता में आने पर राष्ट्रपति तथा प्रधानमन्त्री के मध्य पुनः मतभेद उभरे।

सोवियत रूस की यात्रा के लिए श्री संजीव रेडडी तैयार नहीं थे, परन्तु इसके लिए उन्हें बाध्य किया गया जब राष्ट्रपति श्री लंका की यात्रा पर जाना चाहते थे तो श्रीमति इन्दिरा गांधी इसके लिए सहमत नही हुई और इस प्रकार से ऐसी स्थिति आ गई थी कि देश- विदेश की स्थिति से सम्बन्धित ज्ञान राष्ट्रपति का केवल समाचार पत्रों से ही हो पाता था न कि प्रधानमन्त्री द्वारा।

सन् 1982 में ज्ञानि जैलसिंह के राष्ट्रपति के रूप में चुने जाने के बाद, भारतीय संविधान में यह पहला मौका था कि राष्ट्रपति तथा प्रधानमन्त्री के बीच बहुत गहरे मतभेद हो गए जो कि आम जनता के समक्ष भी खुलकर आ गए थे। लगभग दो वर्ष तक केबीनेट का कोई भी मन्त्री राष्ट्रपति के बुलाने पर भी कामकाज के लिए राष्ट्रपति के पास नहीं पहुँचा। इसलिए राष्ट्रपति ने विवादास्पद भारतीय डाकघर (संशोधन) विधेयक पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया, सरकार से न्यायधीशोंकी नियुक्ति के लिए स्पष्ट नीति न अपनाने के बारे में जवाब माँगा, दूरदर्शन के एक तरफा प्रसारण पर ऐतराज उठाया। मुख्य चुनाव आयुक्त को बुला कर हरियाणा मे अन्य राज्यों के साथ चुनाव न कराए जाने का कारण पुछा। प्रधानमन्त्री ने प्रोटोकाल की अनदेखी करते हुए राष्ट्रपति को अपनी यात्राओं के बारे में बताना बन्द कर दिया और राष्ट्रपति की जगह उपराष्ट्रपति को विदेश यात्राओं पर भेजना शुरू कर दिया राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह और प्रधानमन्त्री राजीव गांधी के सम्बन्ध आपस में संविधान की रूपरेखा से बाहर रहे। लेकिन इस सब के लिए प्रधानमन्त्री ही जिम्मेदार थे। 25 जूलाई 1987 को श्री आर० वेकटरमण को राष्ट्रपति बनाया गया। राष्ट्रपति आर० वेकटरमण का कार्यकाल ठीक-ठाक चला, केवल अक्तूबर 1987 में केन्द्र सरकार को थोडी परेशानी तब हुई जब राष्ट्रपति ने राज्यपालों को चिठठी लिखी कि वे राष्ट्रवति की पूर्व अनुमति के बिना राज्य से बाहर न जाएँ।

25 जूलाई 1992 को डा० शंकर दयाल शर्मा को राष्ट्रपति चुना गया। राष्ट्रपति तथा प्रधानमन्त्री पी० वी० नरसिंह राव के बीच केन्द्रीय सतकर्ता आयुक्त पद पर श्री एस० वी० गिरि की नियुक्ति को लेकर मतभेद हुए थे। राष्ट्रपति द्वारा 14 अगस्त 1995 के भाषण में आर्थिक सुधारों पर आलोचनात्मक टिप्पणी की गई थी। इन मतभेदों के बाबजूद उनका कार्यकाल समरूपता से चला। कोई असंवैधानिक विवाद नहीं उभरा।

25 जूलाई 1997 को राष्ट्रपति पद संभालने के तीन महिने के अन्दर श्री के० आर० नारायणन ने वो स्थान प्राप्त किया जो इससे पूर्व किसी राष्ट्रपति ने नही किया था। 21 अक्तूबर 1997 को केन्द्रीय मंत्रिमण्डल की उत्तरप्रदेश में राष्ट्रपति शासन करने की सिफारिश को इन्कार कर राज्य की वैद्य सरकार को बचाया और संविधान के रक्षक के रूप में उदाहरण पेश किया। इससे पहले किसी भी राष्ट्रपति ने केन्द्रीय मंत्रिमण्डल के गलत फैसलों को इस तरह नही फटकारा था। फरवरी 1998 में उत्तर प्रदेश के राज्यपाल रोमेश भण्डारी को लेकर राष्ट्रपति एवं गुजरात मन्त्रिमण्डल के बीच विवाद उत्पन्न हो गया था। परन्तु गुजरात मन्त्रिमण्डल ने न राज्यपाल को हटाने की सलाह दी और न ही इस मुद्धे को एजेण्डे मे विचार के लिए शामिल किया।

सितम्बर 1998 में राष्ट्रपति ने बिहार में राष्ट्रपति शासन लागू करने की प्रधानमन्त्री अटल बिहारी वाजपेयी के मंत्रीमण्डल की सिफारिश को पुनर्विचार के लिए लौटा कर भी अपनी सूझबुझ का परिचत दिया। 27 जनवरी 2000 को भारतीय गणतन्त्र की 50 वीं वर्षगाठ पर एक समारोह मे राष्ट्रपति ने जनतांत्रिक गठबन्धन को संविधान के साथ छेड़-छाड को लेकर सचेत किया। राष्ट्रपति के शब्दों में आज जबकि संविधान की समीक्षा किए जाने और यहाँ तक की एक नया संविधान लिखे जाने की बातें की जा रही है, हमें इस बात पर विचार करना होगा कि हम संविधान की वजह से विफल हुए हैं, या संविधान को हमने विफल किया है।" सरकारी कर्मचारियां के राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की गतिविधियों मे भाग लेने के मुद्धे को लेकर राष्ट्रपति ने प्रधानमन्त्री को पत्र लिखकर स्पष्टीकरण देने को कहा। प्रधानमन्त्री अटल बिहारी वाजपेयी जो कि विवादों से बचना चाहते थे, राष्ट्रपति को बताया कि उनकी सरकार राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ को राजनैतिक संगठन नहीं मानती और वह बात न्यायालयों द्वारा प्रमाणित हो चूकी है।

25 जूलाई 2002 को डा० ए० पी० जे० अब्दुल कलाम को राष्ट्रपति की शपथ दिलाई गयी। राष्ट्रपति अब्दूल कलाम ने भी पूर्व राष्ट्रपति के० आर० नारायणन की तरफ से अगस्त 2002 को जन प्रतिनिधित्व (संशोधन) बिल, 2002 को पुनर्विचार के लिए अटल बिहारी मंत्रीमण्डल को भेजकर अपनी सूझबूझ का परिचय दिया। उनका कार्यकाल अब स्थिरता से चल रहा है।

समस्त विवेचन के आधार पर राष्ट्रपति की वास्तविक स्थिति के सम्बन्ध में निम्न बातें कहीं जा सकती हैः

(1) राष्ट्रपति औपचारिक प्रधान हैः

भारत में संसदात्मक शासन व्यवस्था है और इस शासन में कर्यपालिका दो भागों मे विभक्त होती है नाम मात्र की कार्यपालिका और वास्तविक कार्यपालिका राष्ट्रपति नाममात्र की कार्यपालिका है। राष्ट्रपति को राष्ट्र का प्रतीक और औपचारिक अध्यक्ष कहा जा सकता है। डा० अम्बेडकर के अनुसार, "हमारे राष्ट्रपति की वहीं स्थिति है जो ब्रिटिश संविधान के अन्तर्गत सम्राट की है। वह राज्य का प्रधान है, किन्तु कार्यपालिका का नहीं। वह राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता हैं, किन्तु राष्ट्र पर शासन नहीं करता है। वह राष्ट्र का प्रतीक हे। प्रशासन में उसका वही स्थान है जो किसी औपचारिक व्यवस्था द्वारा किसी ऐसे व्यक्ति को प्रदान किया जाता है जो राष्ट्र के प्रत्येक निर्णय को मुहर लगाकर अपने नाम से राष्ट्र के समक्ष घोषित करता हैं"

(2) राष्ट्रपति की स्थिति ब्रिटिश सम्राट के तुलय है :

संविधान के अनुसार हामरी शासन पद्धति ब्रिटेन की संसदीय अथवा मंत्रिमण्डलीय पद्धति पर आधारित है। ब्रिटेन की संसदीय व्यवस्था के अनुसार सम्राट नाममात्र का ही प्रधान हैं। उसे दो अधिकार मिले हुए है। वे वस्तुतः मन्त्रिमण्उल द्वारा प्रयोग में लाए जाते है। ठीक यही स्थिति भारत में राष्ट्रपति की हैं जो केवल संवैधानिक राज्याध्यक्ष है। संविधान सभा में डा० राजेन्द्र प्रसाद ने कहा था "हमने ब्रिटेन के सम्राट की भांति यहाँ राष्ट्रपति का पद बनाया है। उसकी स्थिति संवैधानिक राष्ट्रपति की है। यद्यपि संविधान में इस आशय का कोई उपबन्ध नहीं है कि राष्ट्रपति को अपने मन्त्रियों के परामर्श को मानना ही पड़ेगा, परन्तु यह आशा की जाती है कि जिस प्रकार इंग्लैंड में सम्राट को मन्त्रियों के परामर्श से कार्य करना होता है, उसी प्रकार यही परम्परा यहां भी अपनाई जाएगी। इस तरह भारत का राष्ट्रपति सभी मामलों में संवैधानिक राष्ट्रपति बन जाएगा।"

(3) राष्ट्रपति संविधान का गौरवपूर्ण अंग :

भारत के राष्ट्रपति की वही स्थिति है जो अर्नेस्ट बार्कर के अनुसार , ब्रिटेन में राजा की है। राष्ट्रपति एकता का प्रतीक, देशभक्ति का प्ररेक तथा सामाजिक उत्सवों का आकर्षक है। उसका जीवन और गतिविधियाँ व्यापक सार्वजनिक प्रचार प्राप्त करती है। वह जनता के लिए गौरव और प्रतिष्ठता का भूर्तरूप हैं वह राष्ट्रीय उत्सवों का उद्घाटन व राष्ट्रीय समाराहों की अध्यक्षता करता है। गणतन्त्र दिवस पर परेड की सलामी लेकर राष्ट्रपति राष्ट्र की शोभा बढ़ाता है। श्री नेहरू ने संविधान सभा मे कहा था, "हमने अपने राष्ट्रपति को वास्तविक शक्ति नहीं दी है वरन् हमने उसके पद को सत्ता और प्रतिष्ठता से विभूषित किया है।"

(4) राष्ट्रपति परामर्शदाता और मित्र के रूप में :

राष्ट्रपति केवल नाममात्र का अध्यक्ष नही हैं वह परोक्ष रूप से कार्य करते हुए अपने मन्त्रियों से तदनुसार कार्य करने का आग्रह कर सकता है। उसे मन्त्रियों को परामर्श देने, प्रोत्साहन करने तथा चेतावनी देने की तीन शक्तियाँ प्राप्त है। उसकी गरिमामय स्थिति तथा उसका निष्पक्ष स्वरूप इस तथ्य को निश्चित कर देते है। कि उसके द्वारा किया गया परामर्श अत्यधिक सम्माननीय होगा। यदि राष्ट्रपति बुद्धिमान, पराक्रमी तथा चतुर हो तो उसकी उपेक्षा करना प्रधानमन्त्री के लिए असम्भव हैं।

(5) वैदेशिक मामलों को प्रभावित करनाः

राष्ट्रपति भारत की राजधानी में आने वाले विदशी अतिथियों का स्वागत करते है। उनकी विदेश यात्राएं विदेशों में भारत की प्रतिष्ठा बढ़ाती हैं राष्ट्रपति की विदेश यात्राएं विदेशी राष्ट्राध्यक्षों पर एक मधुरिम प्ररेणा की छाप छोड़ती है।

संक्षेप में, राष्ट्रपति की वास्तविक स्थिति काफी हद तक उसको उपने व्यक्तित्व तथा उस समय के प्रधानमन्त्री के व्यकितत्व तथा स्थिति पर निर्भर करती है। यदि राष्ट्रपति प्रभावशाली व्यक्तित्व का स्वामी है तो वह मंत्रीमंडल के निर्णयों को काफी हद तक प्रभावित कर सकता है, परन्तु यदि उसके मुकाबले में प्रधानमन्त्री का व्यक्तित्व अधिक प्रभावशाली है जैसा कि श्रीमति इंदिरा गांधी के सामने फखरूद्दीन अली अहमद तथा ज्ञानी जैल सिंह का था तो राष्ट्रपति एक सुनहरा शून्य (Golden Zero) तथा हस्ताक्षर करने की मशीन (Signing Machine) ही बनकर रह जाता है।

अध्याय-9
प्रधानमंत्री
(Prime Minister)

संविधान द्वारा भारत में संसदात्मक शासन प्रणाली की स्थापना की गई है तथा भारत की कार्यपालिका शक्ति भारत के राष्ट्रपति में निहित की गई है। किन्तु राष्ट्रपति की शक्तियाँ औपचारिक हैं और व्यवहार में उसकी समस्त शक्तियों का प्रयोग प्रधानमन्त्री ही करता है। यद्यपि राष्ट्र का अध्यक्ष राष्ट्रपति कहा गया है तथापि शक्ति संरचना का मूल स्त्रोत ब्रिटेन के सामन प्रधान मन्त्री ही है। डा० अम्बेडकर के शब्दों में, "वास्तव में, प्रधानमन्त्री सम्पूर्ण तन्त्र की धुरी है।"

प्रधानमन्त्री की नियुक्ति :

संवैधानिक प्रावधान के अनुसार प्रधानमन्त्री की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। जब देश में आम चुनावों द्वारा लोकसभा का गठन होता है तो लोकसभा में जिस राजनैतिक दल का बहुमत होता है उस दल के मुखिया को राष्ट्रपति द्वारा प्रधानमंत्री पद पर नियुक्ति हेतू बुलाया जाता हैं और प्रधानमन्त्री पद की शपथ दिलाई जाती है। इस स्थिति में राष्ट्रपति को विवेक का प्रयोग करने का अवसर नहीं रहता है। राष्ट्रपति अपने विवेक व सूझबुझ का उस स्थिति में प्रयोग करता है जब लोकसभा में किसी दल को स्पष्ट बहुमत नही मिलता है। ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति ऐसे व्यक्ति को प्रधानमन्त्री नियुक्त करता है, जो केन्द्र में स्थाई सरकार बना सके। उदाहरण के लिए सन् 1989 में जब लोकसभा में किसी भी दल को बहुमत नही मिला तो राष्ट्रीय मोर्चे के नेता श्री विश्वनाथ प्रतापसिंह को प्रधानमन्त्री नियुक्त किया था फिर 1991 में नरसिम्हा राव को, 1998 में श्री अटल बिहारी वाजपेयी को इसी प्रकार सन् 1999 में राष्ट्रीय लोकतान्त्रिक गठबन्धन, जिसमें 23 राजनीतिक दल शामिल थे, को लोकसभा मे पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ और गठबन्धन द्वारा दोबारा श्री अटल बिहारी वाजपेयी के नेत त्व में केन्द्र में मिली जुली सरकार का गठन किया गया।

प्रधान मन्त्री के पद पर नियुक्ति के लिए संविधान में कोई अलग योग्यता नही रखी गई हैं। वह संसद के किसी भी सदन का सदस्य हो सकता है तथा यदि नियुक्ति के समय वह संसद का सदस्य नही है तो छः महीने के अन्दर उसे सदस्यता ग्रहण करनी आवश्यक है, अन्यथा उस पद को रिक्त समझा जाएगा। इसलिए उसमें वे सभी योग्ताएं होनी चाहिए जो भारत के संविधान में लोकसभा का सदस्य बनने के लिए निर्धारित की गई है।

कार्यकाल :-

संविधान की धारा 75 के अर्न्तगत यह व्यवस्था की गई है, मन्त्री राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त अपने पद पर बने रहेंगे। लेकिन व्यवहार में स्थिति बिल्कुल भिन्न है। प्रधानमन्त्री 5 वर्ष के लिए नियुक्त किया जाता है, लेकिन जब तक उसे लोकसभा में बहुमत प्राप्त है, वह अपने पद पर बना रहेगा। अभिप्रायः यह हुआ कि प्रधानमन्त्री का कार्यकाल निश्चित नही है। लोकसभा में अविश्वास के प्रस्ताव के द्वारा, प्रधानमन्त्री को हटाया जा सकता है। 10 जूलाई 1979 को लोकसभा के विरोधी दल के नेता यशवन्त राव चटटान ने प्रधानमन्त्री मोरारजी देसाई के विरूद्ध अविश्वास प्रस्ताव पेश किया। अविश्वास प्रस्ताव पर मतदान होने से पूर्व ही प्रधानमन्त्री मोरारजी देसाई ने 15 जुलाई, 1979 को त्यागपत्र दे दिया क्योंकि जनता पार्टी के काफी सदस्यों ने जनता पार्टी को छोड़ दिया था। यह पहला अवसर था जब किसी प्रधानमन्त्री को अविश्वास प्रस्ताव के कारण त्यागपत्र देना पड़ा। 39 वें संशोधन के द्वारा, जिसे अनुच्छेद 329 A, को संविधान में अंकित किया गया था, उस अनुच्छेद को 44 वें संशोधन द्वारा संविधान में से निकाल दिया गया हैं। अब प्रधानमन्त्री के चुनाव सम्बन्धी विवादों की सुनवाई उसी प्रकार की जाती है जिस प्रकार संसद के किसी अन्य सदस्य के विरूद्ध धारा 329 के अधीन होती है।

17 अप्रैल , 1999 में अटल बिहारी वाजपेयी की सरकार द्वारा लोकसभा में विश्वास मत खो देने के पश्चात अपना

त्यागपत्र दे दिया था। अतः प्रधानमन्त्री का कार्यकाल निश्चित नहीं है।

प्रधानमंत्री के कार्य एवं शक्तियाँ

भारत का प्रधानमंत्री मन्त्रिमण्डल रूपी मेहराब की आधारशीला है। इंग्लैंड के प्रधानमंत्री की भांति उसे इतनी शक्त्यिां प्राप्त है कि उसे प्रशासन का केंद्र कहा जाता हैं। प्रधानमंत्री की शक्तियों का वर्णन करते हुए जैनिग्ज (Jenneings) ने उसकी तुलना सूर्य से की है जिसके इर्द-गिर्द, ग्रहों की भांति प्रशासकीय यंत्र घूमते है। प्रशासन में कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जिसे इतनी शक्ति प्राप्त हों। उनके कार्य तथा शक्त्यिों का वर्णन निम्नलिखित हैः

(1) मन्त्री मण्डल का निमार्ण करना :

संविधान में यह स्पष्ट रूप से दिया गया है कि प्रधानमंत्री राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया जाएगा तथा राष्ट्रपति प्रधानमंत्री की सलाह से मंत्रीपरिषद के दूसरे मंत्रियों को नियुक्त करेगा। व्यवहारिक तौर पर सभी मंत्रियों की नियुक्ति प्रधानमंत्री द्वारा ही की जाती है तथा वह मन्त्रिपरिषद में किसी को भी ले सकता हैं। प्रधानमंत्री अपने सहयोगी मंत्रियों का चुनाव करते हुए देश के भिन्न-भिन्न भागों, अलपसंख्यक जातियों आदि का प्रतिनिधित्व देने का प्रयत्न करता है।

(2) विभागों का विभाजन :

प्रधानमंत्री अपने साथियों को चुनता ही नहीं उनमें प्रशासकीय विभागों का विभाजन भी करता है। वह किसी भी मंत्री को कोई भी विभाग दे सकता है तथा उसमें परिवर्तन कर सकता है। यद्यपि प्रधानमंत्री अपनी इच्छानुसार विभागों का विभाजन कर सकता है, परन्तु कई बार उसे दल के प्रभावशाली नेताओं की इच्छानुसार विभागों का विभाजन करना पड़ता है।

मन्त्रियों को हटाने की शक्ति : सैद्धान्तिक रूप में मन्त्री, राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त पद पर बने रहते हैं, परन्तु राष्ट्रपति मन्त्रियों को पद से अलग करने का निर्णय प्रधानमंत्री के कहन पर ही करता है। अतः व्यवहार में मन्त्री प्रधानमंत्री के प्रसाद-पर्यन्त अपने पद पर रहते है ("Theoralically the ministers hold office during the pleasure of the President but in practice, it is the pleasure of the Prime Minister during which they remain in Office") अगर प्रधानमन्त्री की द ष्टि से कोई मन्त्री कुशलता से कार्य नहीं कर रहा अथवा अगर वह मन्त्री प्रधानमन्त्री के किसी निर्णय से सहमत नही है तो प्रधानमंत्री उस व्यक्ति को त्यागपत्र देने के लिए कह सकता है, जो कि उस मन्त्री को देना ही होता है, अन्यथा प्रधानमन्त्री राष्ट्रपति को कहकर उसे पदच्युत करवा सकता है। वास्तव में इस बात की नौबत नही आती जब भी किसी मन्त्री को यह पता चल जाता है कि प्रधानमन्त्री उसे मन्त्रिपरिषद में नहीं रखना चाहता तो वह स्वंय त्यागपत्र दे देता है।

सन् 1995 में हवाला काण्ड सामने आया। उसमें राव सरकार के कई मन्त्री लिप्त थे। तत्कालीन प्रधानमन्त्री राव ने उन सभी मन्त्रियों को मन्त्रिमण्डल से हटा दिया जो हवाला काण्ड में संलिप्त थे। इसी प्रकार पूर्व प्रधानमन्त्री श्री देवगौडा ने श्री तसलीमूद्धीन को मन्त्रिपरिषद से हटाया, क्योंकि उसके विरूद्ध असामाजिक तत्वों से सम्बन्ध का आरोप था।

संसद का नेता :

इंग्लैंड की भांति भारत का प्रधानमन्त्री लोकसभा का नेत त्व करता है। वह सदन में सरकार की नीति से सम्बन्धित महत्वपूर्ण घोषणाएं करता है और प्रश्नों के उत्तर देता हैं। वह लोकसभा में वाद-विवाद को आरम्भ करता है तथा मन्त्रियों की सदन में आलोचना से सुरक्षा करता है। वह अपने दल के सदस्यों को सचेतक (Whips) द्वारा आदेश तथा निर्देश भेजता है तथा उन पर निगरानी और नियन्त्रण रखता है। सदन के वैधानिक कार्यो पर उसका विशेष प्रभाव होता है। वह स्पीकर के साथ मिलकर सदन का कार्य करता है तथा सदन में अनुशासन बनाए रखने के लिए स्पीकर की सहायता करता है।

लोकसभा को भंग कराने का अधिकार :

इंग्लैंड के प्रधानमन्त्री को यह विशेषाधिकार प्राप्त है कि वह कामन्स् सभा को भंग कर दे और इस मामले में उसे

मन्त्रिमण्डल की सलाह लेने की आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार का अधिकार भारत के प्रधानमन्त्री को दिया गया है। वह राष्ट्रपति को सलाह देकर लोकसभा को भंग करवा सकता है। जैसा कि 1977 में राष्ट्रपति फखरूद्धीन ने प्रधानमन्त्री इंदिरा गांधी की सलाह पर लोकसभा को भंग किया था। इसी प्रकार चौ० चरणसिंह की सलाह पर राष्ट्रपति नीलम संजीवा रेडडी ने भी लोकसभा को भंग किया था। सन 1977 में पूर्व प्रधानमन्त्री इन्द्रकुमार गुजराल के परामर्श पर भी राष्ट्रपति द्वारा लोकसभा को भंग कर दिया गया था। इसी प्रकार सन् 1999 में प्रधानमन्त्री अटल बिहारी वाजपेयी के मन्त्रिमण्डल के परामर्श के अनुसार राष्ट्रपति द्वारा लोकसभा को भंग कर दिया गया।

राष्ट्रपति तथा मन्त्रिमण्डल में कड़ी का काम करना :

प्रधानमन्त्री, राष्ट्रपति तथा मन्त्रिपरिषद के मध्य कड़ी का काम करता है। वह राष्ट्रपति को मन्त्रिपरिषद के द्वारा किए गए निर्णय की सूचना देता है तथा राष्ट्रपति के विचार मन्त्रिमण्डल के समक्ष रखता है। राष्ट्रपति उसे किसी एक मन्त्री द्वारा व्यक्तिगत रूप से किए गए निर्णयों पर मन्त्रिमण्डल का निर्णय लेने के लिए कह सकता है। वह राष्ट्रपति का मुख्य सलाहकार होता है। यदि राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री के परामर्श से सहमत न हो तो भी उसे परामर्श मानना पड़ता है।

कैबिनेट का नेत त्व :

प्रधानमन्त्री कैबिनेट का नेता होता है। वह कैबिनेट की बैठकों की प्रधानता करता है। राष्ट्रपति कैबिनेट की कार्यवाई में भाग नहीं लेता। प्रधानमन्त्री के नेत त्व में ही कैबिनेट सभी कार्य करता है। वह कैबिनेट की बैठक बुलाना है, उसमें विचार किए जाने वाले विषयों की सूची बनाता है, कैबिनेट मे विभिन्न विषयों पर बहस संचालित करता है तथा अगर उचित समझें तो उन पर मतदान करवाता है। अधिकतर किसी नीति पर सहमति तभी होती है, जब उस नीति को प्रधानमन्त्री की सहमति प्राप्त हो जाए। सक्षेंप में हम कह सकते है कि कैबिनेट की सम्पूर्ण कार्यवाही प्रधानमन्त्री की देखरेख में होती है।

विभिन्न विभागों में एक कड़ी :

कैबिनेट का प्रधान होने के नाते वह एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य करता है। वह विभिन्न विभागों मे उत्पन्न होने वाली आपसी समस्याओं, झगडों तथा मतभेदों को इस तरह सुलझाता है, जिससे प्रशासनिक कुशलता बनी रहे। कुशल प्रशासन के लिए यह आवश्यक है कि सरकार के विभिन्न विभागों में आपसी सहयोग तथा साधनों का समन्वय हो। ऐसे उद्धेश्य के लिए प्रधानमन्त्री विभिन्न विभागों में कड़ी की तरह कार्य करता है। वह अन्तर्विभागीय मतभेदों को दूर करने के लिए मध्यस्थ तथा निर्णायक के रूप में भी कार्य करता है।

राष्ट्रपति का मुख्य सलाहकार :

प्रधानमन्त्री राष्ट्रपति का मुख्य सलाहकार है। राष्ट्रपति प्रत्येक मामले पर प्रधानमन्त्री की सलाह लेता है और उसके द्वारा दी गई सलाह के अनुसार ही कार्य करता है, वह उसकी सलाह को मानने के लिए बाध्य है। राष्ट्रपति को प्रशासन के बारे मे किसी भी प्रकार की सूचना प्राप्त करनी हो तो वह किसी अन्य मन्त्री से सीधा बात न करके प्रधानमन्त्री से ही बात करता है तथा सूचना प्राप्त करता है।

दल का नेता :

प्रधानमन्त्री अपने दल का नेता होता है। दल की नितियों तथा कार्यक्रम को तैयार करने मे उसका मुख्य हाथ होता है। आम चुनाव के समय दल के उम्मीदवारों को खड़ा कर उन्हें टिकट देना तथा उन्हें चुनाव जीतवानें में वह बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। उस समय वह समस्त देश का दौरा करके जनता से उसके दल के उम्मीदवारों के पक्ष में वोट देने की अपील करता है।

सदन के नेता के रूप में :

दल का नेता होने के साथ-साथ वह सदन का भी नेता होता है। प्रधान-मन्त्री ही संसद के अधिवेशन बुलाने की तिथि

निश्चित करता है। लोकसभा की कारवाई चलाने का उत्तरदायित्व उसी पेर होता है। कौन-सा बिल कब प्रस्तुत किया जाएगा और कौन-सा बाद में, किस बिल पर कितना वाद-विवाद होगा। यदि विरोधी दल बिल पेश करना चाहता है तो उस पर वाद -विवाद कब होगा, इन सब बातों का निर्णय स्पीकर, प्रधानमन्त्री और विपक्ष के नेता से सलाह करके करता है। प्रधानमन्त्री ही सदन में महत्वपूर्ण नीतियों को सदन में पेश करता है यदि विरोधी दल द्वारा इन नीतियों की आलोचना की जाती है वह उन आलोचनाओं का उत्तर देता है। विशेषकर प्रधानमन्त्री की महता तब और बढ़ जाती है, जब वह अविश्वास के प्रस्ताव के नाजुक समय में अपने दल की रक्षा करता है।

प्रधानमन्त्री राष्ट्र के नेता के रूप में :

प्रधानमन्त्री राष्ट्र का नेता है। सारा राष्ट्र प्रधानमन्त्री की ओर अच्छे प्रशासन व पथ -प्रदर्शन के लिए निगाहें लगाए हुए होता है। साधारणतः चुनाव भी प्रधानमन्त्री के नाम पर लड़े जाते हैं, जैसे सन् 1980 में इन्दिरा गांधी ने चुनाव जीता, ऐसे ही सन् 1989 में श्री वी०पी० सिंह ने जनात को विश्वास दिलाया या कि राष्ट्र को साफ सुथरी सरकार देंगें। इसी प्रकान सन् 1998 में लोकसभा चुनाव में यह नारा दिया गया, 'अब की बारी अटल बिहारी' अर्थात मतदात्ता दल को महत्व देते ही हैं, लेकिन में इसके नेता को अधिक महत्व देता देते है। प्रधानमंत्री का राष्ट्र के नेता के रूप में महत्व राष्ट्र देश के प्रधानमन्त्री की और देखता है, और जनता उसके विचारो को बड़े ध्यान से सुनती है।

प्रधानमन्त्री और नीति निमार्ण :

भारत की परराष्ट्र एवं राष्ट्र नीति के निर्माता के रूप में प्रधानमन्त्री की स्थिति अत्यन्त प्रभावशाली है। जहां ब्रिटिश प्रधानमन्त्री मन्त्रिमण्डल के प्रमुख प्रवक्ता है, वहां भारत के प्रधानमन्त्री मन्त्रिमण्डल के प्रमुख प्रवक्ता होने के साथ-साथ नीति-निर्माता भी है। प० नेहरू तो स्वयं महत्वपूर्ण नीति की घोषणा कर देते थे और कभी-कभी उनके सहयोगियों को भी समाचार-पत्रों द्वारा घोषित निर्णय की सूचना मिलती थी। आज प्रधानमन्त्री का कार्यालय देश की नीति निर्धारण का प्रधान स्त्रोत है। यदि अन्य मन्त्रियों ने प्रधानमन्त्री की जानकारी के बिना कोई महत्वपूर्ण निर्णय ले लिया है तो उसमें परिवर्तन की बहुत अधिक सम्भावना रहती है। बैंक राष्ट्रीयकरण, संविधान संशोधन आदि जितने भी क्रान्तिकारी निर्णय लिए गए, वे सब प्रधानमन्त्री के ही निर्णय थे।

वस्तुतः प्रधानमन्त्री सभी महत्वपूर्ण नीतियों का निर्धारण करता है। इन सभी नीतियों में वह सरकार का प्रमुख प्रवक्ता होता है। महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों मे वह भाग लेता है तथा देश की नीतियों को स्पष्ट करता है। राष्ट्र के नाम सन्देश में वह जनता के समक्ष अपनी सरकार की नीतियों को प्रस्तुत करता है।

प्रधानमन्त्री और आपातकाल :

भारतीय संविधान के अर्न्तगत धारा 352, 356. 360 के द्वारा भारत के राष्ट्रपति को तीन प्रकार की संकट कालीन शक्तियां दी गई हैं लेकिन वास्तव में इन शक्तियों का प्रयोग प्रधानमन्त्री की सलाह के अनुसार ही करता है। जैसे अक्तूबर, 1962 मे चीन के आक्रमण के समय एवं 3 दिसम्बर, 1971 को पाकिस्तान के आक्रमण के समय तथा 26 जून 1975 को आन्तरिक व्यवस्था के खराब होने पर अनुच्छेद 352 के अर्न्तगत राष्ट्रपति ने प्रधानमन्त्री की सलाह से ही आपातकालीन स्थिति की घोषणा की थी। इसी प्रकार अनुच्छेंद 356 के अन्तर्गत राज्यों में राष्ट्रपति-शासन भी प्रधानमन्त्री की सलाह के अनुसार लगाया जाता है। 44 वें संशोधन के अनुसार राष्ट्रपति अनुच्छेंद 352 के अन्तर्गत संकटकाल की घोषणा तभी कर सकता है, यदि मन्त्रिमण्डल संकटकाल की घोषणा करने की लिखित सलाह दे।

सरकार का प्रमुख प्रवक्ता :

संसद तथा जनता के सामने मन्त्रिमण्डल की नीति और निर्णयों की घोषणा प्रधानमन्त्री द्वारा की जाती है। वह सभी प्रशासकीय विभागों की जानकारी रखता है और जब कभी कोई मन्त्री संकट में हो तो उसकी सहायता करके मन्त्रिमण्डल रूपी नौका को डूबने से बचाने का कार्य प्रधानमन्त्री ही करता है।

प्रधानमन्त्री और योजना आयोग :

राष्ट्रीय अर्थ-नीति का निर्धारण योजना आयोग द्वारा किया जाता है और प्रधानमन्त्री योजना आयोग के अध्यक्ष है। योजना आयोग की अन्तरंग सम्बंध राष्ट्रीय विकास परिषद ही पंचवर्षीय योजनाओं का निर्धारण करती है। राज्यों को दी जाने वाली अनुदान सहायता का निर्णय भी इसी संस्था द्वारा किया जाता है और यह संस्था प्रधानमन्त्री के नेत त्व मे ही कार्य करती है।

प्रधानमन्त्री की अनुग्रह शक्तियाँ :

भारत के समस्त उच्च अधिकारियों की नियुक्ति प्रधानमन्त्री की सलाह से ही राष्ट्रपति करते है। संविधान के द्वारा विशिष्ट क्षेत्रों मे राष्ट्रीय सेवा के उपलक्ष मे 'भारत रत्न', पदमविभूषण' और 'पद्मश्री' इत्यादि सम्मानजनक उपाधियों के वितरण की व्यवस्था की गई है। व्यवहार में ये उपाधियाँ प्रधान मन्त्री द्वारा ही स्वीक त की जाती है।

प्रधानमंत्री की स्थिति (Position of the Prime Minister):

भारतीय राज-व्यवस्था मे प्रधानमन्त्री का पद सरकार का सबसे महत्वपूर्ण पद है। यदि कोई प्रभावशाली व्यक्ति इस पद पर नियुक्त हो जाता है तो इस पद का महत्व लगातार बढ़ता जाता है। जैनिंग्ज ने लिखा है, ' प्रधानमन्त्री के पद की स्थिति अवश्य ही वह होगी जो उस पद को ग्रहण करने वाला व्यक्ति बनाना चाहेगा और अन्य मन्त्री उसे बनने देगें।"

भारतीय प्रधानमन्त्री को समकक्षों में प्रथम कहना सर्वथा भ्रमभूलक है। उसकी शक्ति इतनी व्यापक है जितनी विश्व के किसी शासन, यहाँ तक कि अमरीकी राष्ट्रपति को भी प्राप्त नहीं है। तथ्य तो यह है कि सभी द ष्टियों से शक्ति अब संसद के हाथों में नहीं रही है और न ही मन्त्रिमण्डल के हाथों में रही है। अपितु प्रधानमन्त्री के हाथों में केन्द्रीत हो गई है। प्रधानमन्त्री के हाथों मे केन्द्रीत हो गई है। प्रधानमन्त्री का सचिवालय (कार्ययल) शासन-तन्त्र का स्थायी अंग बन गया है। संसदीय दल के नेता के रूप में प्रधानमन्त्री की स्थिति अत्यन्त महत्वपूर्ण है। दल की शक्ति संरचना मे प्रधानमन्त्री ही सर्वोपरि है तथा उसे दलीय संगठन के निर्देशों के प्रति उत्तरदायित्व नहीं बनाया जा सकता।

भारत में भी जन निर्वाचन वस्तुतः प्रधानमन्त्री का ही निर्वायन हो गया है, सन् 1971 तथा सन् 1980, 1984, 1989. 1996, 1998 तथा 1999 के निर्वाचन सही मायने में व्यक्तित्व के ही चुनाव थे। जिस प्रकार अमरीका मे राष्ट्रपति का व्यक्तित्व अधिक महत्वपूर्ण होता है न कि उसका दल औद दलीय विचारधारा, भारत मे भी प्रधानमन्त्री का व्यक्तित्व ही समूचे चुनाव पर छाया रहता है।

भारत में प्रधानमन्त्री की विशालतम शक्तियों को देखते हुए उसे प्रसीडेण्ट प्राइम मिनिस्टर (A President Prime Minister) कहा जा सकता है। जिस प्रकार अमरीका के राष्ट्रपति के सचिवों की स्थिति उनके परामर्शदाताओं के समान है, उसी प्रकार भारत में भी मन्त्रियों की स्थिति प्रधानमन्त्री के सलाहकारों जैसी ही है। जिस प्रकार अमरीका में राष्ट्रपति का निर्णय प्रभावशाली होता है। उसी प्रकार भारत में प्रधानमन्त्री का निर्णय ही सर्वोपरि होता है।

भारत के प्रधानमन्त्री की स्थिति को प्रकट करने के लिए ब्रिटिश प्रधानमन्त्री की स्थिति के बारे में प्रयुक्त उत्मियों को प्रयोग किया जाता है। मर्लि ने प्रधानमन्त्री के लिए समकक्षों में प्रथम (Prime minister pares) उत्मि का प्रयोग किया गया हे। विलियम हारकार्ट ने प्रधानमन्त्री को नक्षत्रों के बीच-बीच चन्द्रमा की उपमा दी है। जैनिंग्ज ने प्रधानमन्त्री को सूर्य के समान माना है, जिसके चारो और समस्त ग्रह घूमते है। लेकिन ये सब उक्तियां भारतीय प्रधानमन्त्री की स्थिति का यथार्थ मूलयाकंन करने में असमर्थ है। व्यवहार में श्री नेहरू की स्थिति किसी भी ब्रिटिश प्रधानमन्त्री से अधिक शक्तिशाली और प्रतिष्ठा की रही है। हां, यदि मोरारजी देसाई, चरणसिं, विश्वनाथ प्रतापसिंह, चन्द्रशेखर, पी०वी० नरसिंह राव, एच० डी० देवगौडा, इन्द्रकुमार गुजराल और अटल बिहारी वाजपेयी जैसे व्यक्ति प्रधानमन्त्री हैं तो प्रधानमन्त्री पद की स्थिति दुर्बल हो जाती है।

भारतीय शासन प्रणाली में प्रधानमन्त्री की स्थिति उसके व्यक्तित्व पर ही निर्भर करती है। व्यक्तित्व के अरिरिक्त भी प्रधानमन्त्री की स्थिति को निर्धारित करने वाले कुछ अन्य ये तत्व हैः प्रधानमन्त्री को अपने राजनीतिक दल में प्राप्त स्थिति, देश की राजनीति में प्रधानमन्त्री के दल की स्थिति, तत्कालीन राष्ट्रीय और व्यावहारिक राजनीति में प्राप्त सफलतां-असफलताएं।

भारत में प्रधानमन्त्री द्वारा तानाशहीपूर्ण ढंग से कार्य करने की सम्भावनाएं पूर्णतः गलत है। प्रधानमन्त्री नेहरू को पर्याप्त शक्तियाँ प्राप्त थी फिर भी उन्होंने अधिनायक के रूप में कार्य नहीं किया। अधिनायक वादी शैली अपनाने के कारण श्रीमति इन्दिरा गांधी 1977 का लोकसभा चुनाव हार गई। निष्कर्ष में, भारत में किसी प्रधानमन्त्री की सत्ता का आधार बस यही है। कि वह राष्ट्र की कितनी सेवा कर सकता है। पिछले वर्षो की कितनी सेवा कर सकता है। पिछले वर्षो के संवैधानिक इतिहास ने यह सिद्ध कर दिया है कि भारत का प्रधानमन्त्री अपनी विशाल शक्तियों के उपरान्त भी लोकमत के विरूद्ध स्वेच्छाचारी शासक नहीं बन सकता।

अध्याय-10
संघीय मन्त्रिपरिषद्
(Union Council of Ministers)

भारत में संसदात्मक शासक प्रणाली की स्थापना की गई है। सैद्धान्तिक रूप से संविधान द्वारा समस्त कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित मानी गई है तथापि यथार्थ में कार्यपालिका की समस्त सता मन्त्रिपरिषद मे निहित होती हैं। वास्तविक रूप में मन्त्रिपरिषद ही शासन की समस्त शक्तियों का प्रयोग करती है। ब्रिटिश मन्त्रीमण्डल के सम्बन्ध में प्रयुक्त उक्तियां भारतीय मन्त्रिमण्डल के स्वरूप को अक्षरश प्रकट करती है। रेम्जे म्योर के अनुसार, "मन्त्रिमण्डल राज्य के जहाज का परिचालक यन्त्र है।" मैरियट के शब्दों में, "मन्त्रिपण्डल वह धुरी है जिस पर प्रशासन चक्र घूमता है।" हमारे संविधान के अनुच्छेद 74 में दिया गया है कि, "राष्ट्रपति को उसके कार्यो के सम्पादन मे सहायता एवं परामर्श देने के लिए मन्त्रिपरिषद होगी जिसका प्रधान प्रधानमन्त्री होगा।" यह प्रावधान जान-बूझकर रखा गया है तथा संसदीय शासक के लचीलेपन को बनाए हुए है, अन्यथा भारतीय संविधान के विगत व्यवहार से प्रकट होता है कि राष्ट्रपति स्वर्णिम शुन्य है एवं मन्त्रिमण्डल ही सक्रिय कार्यपालिका है।

मुख्य विशेषताए :

भारत की मंत्रिमण्डल प्रणाली की मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित है;

राष्ट्रपति का मंत्रिमण्डल से अलग होना :

इग्लैंड के सम्राट की भांति भारत का राष्ट्रपति भी राज्य का नाममात्र का अध्यक्ष है। यद्यपि समस्त देश का शासन उसी के नाम पर चलाया जाता है, परन्तु वह व्यवहारिक रूप से देश की राजनीति में कोई भाग नहीं लेता। वह प्रधानमन्त्री की नियुक्ति करता है और उसके परामर्श पर अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करता है, परन्तु राष्ट्रपति न तो मन्त्रिमण्डल की बैठकों में भाग लेता है और न ही उनकी अध्यक्षता करता है। प्रशासन सम्बन्धी सभी निर्णय मन्त्रिमण्डल द्वारा लिये जाते है, जिनकी बैठकों की अध्यक्षता प्रधानमन्त्री करता है। प्रधानमन्त्री ही उन बैठकों का कार्यक्राम तैयार करता है। प्रधानमन्त्री ही मन्त्रिमण्डल के निर्णयों की जानकारी राष्ट्रपति को देता है। राष्ट्रपति स्वयं भी यदि चाहे तो प्रधानमन्त्री से किसी विभाग या विषय के बारे में सूचना प्राप्त करता है। कभी-कभी महत्वपूर्ण विषयों पर राष्ट्रपति अपनी राय प्रधानमन्त्री को दे सकता है। परन्तु उस परामर्श को मानना अथव न मानना प्रधानमन्त्री की इच्छा पर निर्भर करता है।

सामूहिक उत्तदायित्व :

भारतीय मन्त्रीमण्डल की एक विशेषता इसका सामूहिक उत्तरदायित्व है। संविधान के अनुसार मंत्रिपरिषद सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी है। इससे अभिप्रायः यह है कि यदि मंत्रिपरिषद् का कोई सदस्य कोई कार्य करता है तो उसे समस्त मंत्रिमण्डल का कार्य समझा जाता है। किसी मन्त्री द्वारा रखा गया प्रस्ताव या नीति सारे मन्त्रिमण्डल की नीति है, क्योंकि कोई भी मन्त्री तब तक लोकसभा के सामने कोई प्रस्ताव नही रख सकता जब तक मन्त्रिमण्डल इसको स्वीक ति नही देता।

वास्तव में लोकसभा में प्रस्तुत करने से पहले सभी विषयों पर विचार मन्त्रिमण्डल की बैठकों में किया जाता है और यदि किसी एक मंत्री के विरूद्ध लोकसभा अविश्वास का प्रस्ताव पास कर दे या उस द्वारा रखे गए किसी प्रस्ताव को अस्वीक त कर दे तो सारी मन्त्रिपरिषद को त्यागपत्र देना पड़ेगा परन्तु यदि किसी मंत्री के मंत्रालय के विषय मे विशेष दोष लग जाएं या कोई असंवैधानिक घटना हो जाएं तो केवल उस मन्त्री को ही त्यागपत्र देना पड़ता है। उदाहरण स्वरूप 1962 मे चीन के आक्रमण के कारण जब देश की विदेश नीति असफल सिद्ध हुई और हमारे

हजारों वर्ग मील क्षेत्र पर चीन ने अधिकार कर लिया तो समस्त मन्त्रिमण्डल की बजाय केवल सुरक्षामंत्री क ष्ण मैनन ने त्याग पत्र दिया था।

राजनैतिक एकरूपता :

मंत्रिमण्डल का निर्माण करते समय इसके सभी सदस्य प्रायः एक ही राजनीतिक दल से लिए जाते है क्योंकि मंत्रिमण्डल राजनीतिक सजातीयता के आधार पर अच्छी तरह से कार्य कर सकती है। यदि वे सदस्य एक ही दल से न होकर संयुक्त सरकार के रूप में कार्य कर रहे होते हैं, जैसे की वर्तमान सरकार है, तो वे राष्ट्रीय नीति तथा रानीतिक समस्याओं के बारे मे प्रायः एक मत नही हो पाते और सरकार का कार्य समय जन-कल्याण की बजाय मंत्री कल्याण में ही गुजरता है। इसलिए मंत्रिमण्डल में राजनीतिक एकरूपता होनी बहुत जरूरी है।

गोपनीयता :

मंत्रिमण्डलीय व्यवस्था में गोपनीयता एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। इसके अनुसार मन्त्रिमण्डल की बैठकों मे होने वाले विचार विमर्श तथा निर्णयों को गुप्त रखा जाता है। प्रत्येक मंत्री को अपना पद ग्रहण करने से पहले राष्ट्रपति के सामने पद एवं गोपनीयता की शपथ इसी आधार पर लेनी पड़ती है और यह सभी मन्त्रियों का संवैधानिक कर्तव्य है कि वे मन्त्रिमण्डल द्वारा किए गए निर्णयों को गुप्त रखें। यदि कोई मंत्री इस बात का उल्लघंन करे तो उसे त्यागपत्र देना पड़ता है जैसे बजट पेश होने से पहले बाहर पता लग जाने के कारण स्वतन्त्रता के बाद पहले मन्त्रिमण्डल में से श्री आर० के० सामुखन (Sh. R.K. Shanmukhan) को अपने पद से त्यागपत्र देना पड़ा था।

अन्तरंग केबिनेट :

15-20 सदस्यों का मन्त्रिमण्डल एक बहुत बड़ी संस्था होती है, जिसमें शीध्रता तथा सफलता के साथ निर्णय ले पाना सम्भव नहीं होता। इस कारण से व्यवहार में मन्त्रिमण्डल के जो सदस्य प्रधानमन्त्री के सबसे अधिक विश्वास पात्र होते है, प्रधानमन्त्री उनसे सभी महत्वपूर्ण विषयों पर विचार विमर्श कर लेता है। अन्तरंग मन्त्रिमण्डल वास्तव में मन्त्रिमण्डल की एक छोटी समिति है। सन् 1947-50 के काल में सभी महत्वपूर्ण विषयों पर पहले नेहरू तथा सरदार पटेल विचार कर लेते थे और फिर उन विषयों को मन्त्रिमण्डल के सामने रखा जाता था। पटेल की म त्यु के बाद नेहरू की अन्तरंग मंत्रिमण्डल में मौलाना आजाद, तथा आयगंर शामिल थे। 1954 में आयगंर और किदवई की म त्यु तथा 1956 में देशमुख के त्याग-पत्र के बाद नेहरू की अन्तरंग मंत्रिमण्डल में शास्त्री, नन्दा, टी०टी० क ष्णामचारी मैनन थे। श्रीमति इन्दिरा गांधी जब प्रधानमन्त्री बनी तो चौहान, अशोक मेहता तथा दिनेश सिंह उनके अधिक विश्वास के पात्र थे, परन्तु बाद में यह स्थिति निरन्तर बदलती रही है। साधारणतया ग्रह, सुरक्षा तथा वित विभागों के मन्त्रियों को अन्तरंग मंत्रिमण्डल में शामिल समझा जाता है। परन्तु वास्तव मे इसकी सदस्यता विभागों की अपेक्षा व्यक्तियों पर निर्भर करती है।

प्रधानमन्त्री की सर्वोच्चता :

प्रधानमन्त्री की सर्वोच्चता और उसका नेत त्व मन्त्रिमण्डल व्यवस्था का एक प्रमुख सिद्धान्त है और भारत में इस सिद्धान्त का सदैव ही पालन किया जाता रहा है। 1950-64 के काल में श्री नेहरू के मन्त्रिमण्डल पर पूर्ण सर्वोच्चता प्राप्त थी। श्री शास्त्री के सामूहिक नेत त्व के आधार पर कार्य शुरू किया था, लेकिन 1965 के भारत-पाक युद्ध ने उनके व्यक्तित्व को बहुत अधिक प्रभावशाली बना दिया और 1965 के अन्त तक मन्त्रिमण्डल पर प्रधानमन्त्री की सर्वोच्चता स्थापित हो गई। 1966 से 1969 के काल में जो स्थिति थी उसे सम्बन्ध में दो विचार हो सकते हैं लेकिन 1969 और उसके बाद 1971 के लोकसभा चुनाव के बाद से श्रीमति गांधी को अपने मन्त्रिमण्डल पर पूर्ण सर्वोच्चता की स्थिति प्राप्त रही। प्रारम्भ से लेकर अन्त तक प्रधानमंत्री की सर्वोच्यता का प्रमाण यह है कि कभी किसी मन्त्री के प्रधानमन्त्री से मतभेद हुए तो सम्बन्धित मन्त्री को अपना त्यागपत्र देना पड़ा।

मन्त्रिमण्डल में राज्यसभा को समुचित प्रतिनिधित्व :

संविधान में न तो मन्त्रियों की संख्या निर्धारित की गई हैं औार न यह ही बतया गया है कि संसद के दानों सदनों को मन्त्रिमण्डल में किस अनुपात में प्रतिनिधित्व दिया जाना चाहिए। संविधान ने यह बात प्रधानमन्त्री के विवेक पर

छोड़ दी है। व्यवहार में प्रधानमन्त्री ने सदैव ही राज्यसभा को भी मन्त्रिमण्डल में प्रतिनिधित्व प्रदान किया है, यद्यपि कभी राज्यसभा का प्रतिनिधित्व अधिक हो गया है कभी कम।

1966 में प्रधानमन्त्री श्री शास्त्री के निधन के बद तो प्रधानमन्त्री का चयन भी राज्यसभा से ही किया गया था। श्री एच० डी० देवगौड़ा प्रधानमन्त्री पद पर मनोनीत होने के बाद केबीनेट से समयसभा के लिए निर्वाचि हुए और श्री इन्द्रकुमार गुजराल जब प्रधानमन्त्री पद पर मनोनीत हुए तो राज्यसभा के ही सदस्य थे।

मन्त्रिमण्डल की समितियाँ :

भारतीय मन्त्रिमण्डल में भिन्न-भिन्न विषयों के सम्बन्ध में कई समितियाँ स्थापित की गई है। राजनैतिक कार्यो सम्बन्धी समिति (Political Affairs Committee) इनमें से सबसे अधिक महत्वपूर्ण समिति है। प्रत्येक विषय पर उससे सम्बन्धित समिति पहले निर्णय लेती है उस पर फिर समस्त मन्त्रिमण्डल विचार करता हैं।

मन्त्रिमण्डल के कार्य :

मन्त्रिमण्डल संघीय सरकार के प्रशासनिक ढाँचे का सबसे महत्वपूर्ण अंग है। यह देश का वास्तविक शासक है। श्री एम० वी० पायली के अनुसार, "मन्त्रिमण्डल राष्ट्रीय नीतियों की निर्माता, नियुक्तियाँ करने वाली सर्वोच्च सत्ता, अर्न्तविभागीय झगड़ो को निपटाने वाली तथा सरकार के कार्यो में समन्वय उत्पन्न करने वाला सर्वोच्च अंग है। यह निम्नलिखित कार्य करती है :

नीति निर्माण सम्बन्धी कार्य :

मन्त्रिमण्डल देश की वास्तविक कार्यपालिका होने के नाते राष्ट्रीय नीति का निर्माण करता है। इस सम्बन्ध में इसके मुख्य कार्य सामाजिक कल्याण के कार्यो के लिए सरकार का कर्त्तव्य निश्चित करना शांति की व्यवस्था बनाए रखने से सम्बन्धित विषयों पर सोच विचार करना, देश की राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्था को सुधारने के लिए उपाय सोचना, विदेश नीति बनाना और उसे अपनाना, विदेशों से सम्बन्ध स्थापित करना, युद्ध और शांति स्थापित करने के लिए विचार करना, विदेशों से सन्धियां और समझौते करना है।

राष्ट्रीय नीति का निर्माण करते समय मन्त्रिमण्डल अपने दल के प्रोग्राम तथा सिद्धान्तों को समक्ष रखता है। व्यावहारिक रूप में राष्ट्रीय नीति की रूपरेखा बहुमत दल की कार्यकारिणी तैयार करती है और मन्त्रिमण्डल उसे विस्त त रूप से कर्यान्वित करता है। दलीप कार्यकारिणी मन्त्रिमण्डल का नीति के सम्बन्ध में निर्देशन करती है और मन्त्रिमण्डल साधारणतया इनाका उल्लंघन नहीं करता। इसके अतिरिक्त मन्त्रिमण्डल द्वारा निर्धारित नीति के प्रति मंत्रियों का सहमत होना आवश्यक हैं यदि कोई मंत्री इससे सहमत न हो तो उसे त्यागपत्र देना पड़ता है। मन्त्रिमण्डल केवल नीति का निर्माण ही नहीं करता, अपितु इसे संसद द्वारा इसका अनुसमर्थक करवाना पड़ता है। यदि संसद इसका समर्थन न करे या इसमें संशोधन कर दे तो इस स्थिति में मन्त्रिमण्डल को संसद की इच्छानुसार नीति में परिवर्तन करना पड़ता हैं या त्यागपत्र देना पड़ सकता है या प्रधानमन्त्री राष्ट्रपति को संसद को भंग करने का परामर्श देता है।

प्रशासनिक कार्य :

संविधान द्वारा शासन सलांचन की शक्ति राष्ट्रपति में निहित की गई हैं और देश का प्रशासन उसके नाम पर चलाया जाता है, परन्तु व्यवहार में इस शक्ति का प्रयोग मन्त्रिमण्डल द्वारा किया जाता है। यह कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियों के प्रयोग का मुख्य साधन है और प्रशासनिक कार्य का मुख्य निर्देशक है। देश के प्रशासन को कुशलतापूर्वक चलाने के लिए उसे कई विभागों में विभिक्त किया गया है। प्रत्येक मंत्री के अधीन एक या एक से अधिक विभागों को रखा जाता है जिसके प्रशासन चलाने का उत्तरदायित्व मंत्रिमण्डल के प्रति व्यक्तिगत रूप से तथा संसद के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होता है परन्तु उन पर आंतरिक नियंत्रण मन्त्रिपरिषद का होता है।

वैधानिक कार्य :

वैंधानिक क्षेत्र में मन्त्रिमण्डल को विशेष महत्व प्राप्त हैं। ससंदीय प्रणाली में यद्यपि कानून बनाने का कार्य विधान

पालिका का हैं, फिर भी दिन-प्रतिदिन इस क्षेत्र में भी मन्त्रिमण्डल का हस्तक्षेप इतना हो गया है कि यह बिना किसी बढ़ावे ने कहा जा सकता है कि आजकल विधि निमार्ण का कार्य संसद की स्वीक ति से मन्त्रिमण्डल ही करता है।

संसद के अधिवेशन बुलाने का निर्णय मन्त्रिमण्डल करता है। यह राष्ट्रपति द्वारा संसद में दिया जाने वाला भाषण तैयार करता है, जिसमें आगामी वैंधानिक कार्यो का वर्णन होता है। मन्त्रिमण्डल हर विषय से सम्बन्धित बिल तैयार करता है और उसे कानून का रूप देने के लिए संसद में पेश करता है। वैसे तो बिल संसद के किसी भी सदस्य द्वारा पेश किया जा सकता है परन्तु अधिकतर मन्त्रिमण्डल द्वारा ही प्रस्तुत किए जाते हैं और संसद का अधिकांश समय मंत्रिमण्डल द्वारा पेश किए बिलों पर सोच-विचार करने तथा उन्हं स्वीकार करने में लग जाता है। संसद के सदस्यों द्वारा प्रस्तुत किया गया कोई भी निजी बिल तब तक पास नहीं हो सकता जब तक उसे मन्त्रिमण्डल का समर्थन प्राप्त न हों।

मन्त्रिमण्डल का कार्य बिलों को संसद में पेश करना ही नहीं, परन्तु इन्हें पास करवाना भी है। मंत्री बिल के प्रत्येक पहलू पर प्रकाश डालते हैं और संसद को सदस्यों द्वारा पूछे गए प्रश्नों का उत्तर देते है। मन्त्रिमण्डल को बहुमत दल का समर्थन प्राप्त होने के कारण इस द्वारा प्रस्तुत किए गए सभी बिल स्वीक त हो जाते है। जिस समय राष्ट्रपति के नाम पर अध्यादेश जारी करता है जिसे संसद द्वारा पास किए कानून की भान्ति लागू किया जाता है।

वित्तिय कार्य :

संवैधानिक रूप से संसद राष्ट्र के धन की संरक्षिका है। उसकी स्वीक ति के बिना न कोई टैक्स लगाया जा सकता है और न ही कोई खर्चा किया जा सकता है। व्यवहार में संसद की इस शक्ति का प्रयोग मन्त्रिमण्डल की इच्छानुसार होता है। मन्त्री ही लोकसभा में बिल पेश कर सकते है। राज्यों की वार्षिक आय तथा व्यय का अनुमान वितमन्त्री द्वारा तैयार किए जाने के बाद लोकसभा में पेश किया जाता है। बजट के माध्यम से मंत्रिमण्डल नए कर लगाने अथवा पुराने लगे करो को घटाने-बढ़ाने अथवा समाप्त करने के प्रस्ताव को भी संसद के सम्मुख रखती है। मन्त्रिमण्डल द्वारा पेश किए गए प्रस्तावों की सदैव संसद में स्वीक ति प्राप्त हो जाती है, क्योंकि मन्त्रिमण्डल को संसद में बहुमत दल का समर्थन प्राप्त होता है। अगर मन्त्रिमण्डल द्वारा प्रस्तावित किसी धन-बिल अथवा बजट को संसद रद्द कर दे, तो मन्त्रिमण्उल इसे अपने विरूद्ध अविश्वास प्रस्ताव समझती है तथा त्यागपत्र दे देती है, परन्तु इसके साथ ही राष्ट्रपति को लोकसभा को भंग करने की सलाह भी दे सकती है।

विदेशी सम्बन्धों का संचालन :

मन्त्रिमण्डल ही विदेश नीति का निमार्ण करता है और विदेशी सम्बन्धों का संचालन करता है। अन्य देशों में जाने वाले राजदूतों तथा अन्य प्रतिनिधियों की नियुक्ति राष्ट्रपति मन्त्रिमण्डल के परामर्श पर ही करता है। अन्य देशों के साथ सन्धि समझौते करना, युद्ध तथा शान्ति की स्थापना करना आदि विषयों पर भी मन्त्रिमण्डल ही निर्णय लेती है।

विभागों में समन्वय उत्पन्न करना :

मन्त्रिमण्डल विभिन्न प्रशासकीय विभागों की कार्यवाहियों में तालमेल उत्पन्न करती है तथा देखती है कि प्रशासन समूचे तौर पर मन्त्रिमण्डल द्वारा निर्धारित की गई नीतियों के अनुसार चले। यदि प्रशासकीय विभागों में कोई मतभेद उत्पन्न हो जाएं तो मन्त्रिमण्डल उन्हें दूर करती हैं। यह विभागों के आपसी झगडों का निपटारा करती है तथा उन पर नियन्त्रण रखती है।

नियुक्तियों पर नियन्त्रण :

संविधान द्वारा महत्वपूर्ण स्थानों पर नियुक्तियां करने का अधिकार राष्ट्रपति को सौंपा गया है, परन्तु वह मन्त्रिमण्डल के परामर्श से गर्वनर, राजदूत, अटारनी जनरल, नियन्त्रक और महालेखा परीक्षक, संघीय लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष तथा अन्य सदस्यों, वित आयोग, चुनाव आयोग के सदस्यों की नियुक्ति करता है।

राष्ट्रपति को परामर्श देना :

मन्त्रिमण्डल राष्टपति का प्रमुख सलाहकार होता है। मौलिक रूप में संविधान की धारा 74 के अर्न्तगत केवल यह व्यवस्था की गई थी कि, "एक मन्त्रिपरिषद् होगी, जिसका मुखिया प्रधानमन्त्री होगा तथा यह मन्त्रिपरिषद राष्ट्रपति को कार्य करने में परामर्श देगी।" लेकिन नवम्बर 1976 में संसद द्वारा पारित किए गए 42 वें संवैधानिक संशोधन द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया कि राष्ट्रपति अपनी शक्तियों का प्रयोग मन्त्रिपरिषद के परामर्श के अनुसार ही करेगा। 44 वें संशोधन के अर्न्तगत यह वयवस्था की गई है कि "राष्ट्रपति मन्त्रिपरिषद को अपने परामर्श के प्रति साधारण रूप से या विषेश रूप से पुनः विचार के लिए कह सकता है। राष्ट्रपति के आदेशानुसार पुनः विचार करने के बाद जो परामर्श मन्त्रिपरिषद राष्ट्रपति को देती है, उस परामर्श के अनुसार कार्य करना राष्ट्रपति के लिए अनिवार्य है।

अध्याय-11
भारतीय ससंद तथा उसका कार्यकरण
(The Indian Parliament and Its Working)

हमारे संविधान के अन्तर्गत केन्द्रीय विधानमण्डल को संसद की संज्ञा दी गई है और यह संसद द्विसदनात्मक सिद्धान्त के आधार पर संगठित की गई है। संविधान की धारा 76 में दिया गया है, "संघ के लिए एक संसद होगी जो राष्ट्रपति और दोनों सदनों से मिलकर बनेगी, जिनके नाम क्रमशः राज्यसभा और लोकसभा होगें।" भारत में संसदात्मक लोकतन्त्र को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए व्यवस्थापिका और कार्यपालिका का समन्वय करना सिद्धान्तत ! आवश्यक था, इसलिए राष्ट्रपति को भी संसद का अभिन्न भाग बनाया गया।

भारतीय संसद की संवैधानिक स्थिति (क्या संसद सम्प्रभु है।) [Constitutional Position of Indian Parliament (Is Indian Parliament a Sovereign Body)] डा० राजेन्द्र प्रसाद के अनुसार, "जनतन्त्रात्मक प्रणाली का केन्द्र बिन्दु राष्ट्र की संसद है। प्रशासन की बागडोर चाहे किसी दल या वर्ग के हाथ में हो, जब तक संसद के अधिकार अक्षुण्ण है और कार्यक्षेत्र तथा कार्य संचालन की द ष्टि से उसका स्वरूप सम्प्रभु है वह शायद बड़े से बड़े संकट का सामना कर सकता है।"

भारत में संसदीय ढांचे की शासन पद्धति को अपनाया गया है जो बहुत कुछ ब्रिटिश नमुने पर आधारित है, किन्तु फिर भी हमारी शासन व्यवस्था नितान्त संसदीय नहीं है। भारतीय संविधान का स्वरूप किसी विदेशी संविधान का अनुकरण मात्र न होकर अपने में एक अनुपम और नवीन प्रयोग है। हमारे संविधान-निर्माता इस तथ्य से परिचित थे कि ब्रिटिश ढंग की संसदीय प्रभुता स्वीकार करने के अनेक संस्थानात्मक कठिनाइयां उत्पन्न हो सकती हैं। वे तो भारत के लिए व्यवहारिक शासन व्यवस्था चाहते थे जो कि भारतीय वातावरण में पोषित हेा सके। इसी कारण भारतीय संसद को ब्रिटिश संसद की भांति सम्प्रभु नहीं बनाया गया। भारतीय संसद की सार्वभौमिकता पर कतिपय मर्यादाएं इस प्रकार है :

(1) लिखित संविधान :

संसद देश के लिखित संविधान की शिशु है। ससंद की सार्वभौमिकता हमारे लिखित संविधान के विभिन्न प्रावधानों द्वारा सीमित है। संविधान के अनुच्छेद 245(1) द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि व्यवस्थापन शक्तियों का उपयोग संसद संविधान के अनुसार करेगी। अमरीकी शासन प्रक्रिया के समान भारतीय प्रणाली में भी दो प्रकार के कानूनों में अन्तर पाया जाता है। ये दो प्रकार के कानून 'साधारण कानून' और 'संवैधानिक कानून' के नाम से जाने जाते है। साधारण कानून के अन्तर्गत स्थापित विभिन्न व्यवस्थापिकाओं द्वारा किया जाता है। अतः यह स्वाभाविक है कि संविधान द्वारा स्थापित व्यवस्थापिकाएं संविधान के विरूद्ध कानून का निमार्ण कर सकती।

संघवाद सम्बन्धी प्रावधान :

भारत में संघात्मक शासन-व्यवस्था होने के कारण राज्य सूची के विषयों पर संसद की कानून बनाने की शक्ति सीमित हो गई है। भारतीस संसद एक संघीय संविधान के अन्तर्गत विधापिका है। ब्रिटिश संसद के तुलय इसकी शक्तियां असीमित नहीं है।

संविधान में संशोधन :

संविधान के कतिपय अनुच्छेदो के संशोधनों हेतु संसद को राज्य विधानमण्डल के पुष्टिकरण पर निर्भर रहना पड़ता है। संविधान के वे अनुच्छेद जिनका सम्बन्ध केन्द्र राज्य सम्बन्धों से हैं, यदि उनमें कोई संशोधन करना हो तो संसद को कम-से-कम आधे राज्यों के विधानमण्डलों का समर्थन प्राप्त करना पड़ता है।

न्यायिक पुनर्विलोकन :

संसद द्वारा पारित संविधान विरूद्ध विधि को भारत का सर्वोच्च न्यायालय अवैध घोषित कर सकता है। न्यायालय के इस अधिकार को न्यायिक पुर्नविलोकन की शक्ति कहते है। यह सर्वविदित है कि गोपालन बनाम मद्रास राज्य, गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य, केशवान्नद भारती, आदि मामलों में सर्वोच्च न्यायालय ने संसद द्वारा निर्मित कानूनों को अवैध घोषित किया अथवा संसद की शक्ति पर प्रतिबन्ध लगाए।

राजनीतिक परिसीमाएं :

राजनीतिक द ष्टि से भी संसद लोकमत के प्रतिकूल विधियों का निर्माण नहीं कर सकती। उसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का भी समूचित सम्मान करना होता हैं। संसद पर प्रधान मन्त्री और मन्त्रिमण्डल का भी नियन्त्रण रखता है। प्रधानमन्त्री संसद के निम्न सदन का विघटन करवा सकता है।

यह सत्य है कि हमारी संसद की शक्तियों का क्षेत्र लिखित संविधान एवं सर्वोच्च न्यायालय के न्यायिक पुनर्विलोकन के अधिकार द्वारा प्रतिबन्धित किया गया है, किन्तु इसका यह अभिप्रायः नहीं है कि संसद केवल अनुमोदन करने वाली एवं प्रचार करने वाली संस्था मात्र बन गई है। वस्तुतः भारत में संसद वह नीवं है जिस पर हमारे लोकतन्त्र की भव्य इमारत खड़ी हैं। संक्षेप में हम कह सकते है कि, कार्य एवं शक्ति के द ष्टिकोण से भारतीय संसद की स्थिति, संसदीय प्रभूता तथा न्यायिक सर्वोच्चता के मध्य की है। दोनों ही प्रकार की अतियों से संविधान निर्माताओं ने संसद की स्थिति की सुरक्षा की है।

भारतीय संसद के कार्य एवं शक्तियाँ
(Powers and Functions of the Parliament)

भारतीय संसद सम्प्रभु नहीं है, किन्तु यह विस्त त शक्तियों का प्रयोग करती है। इसकी शक्तियाँ निम्नलिखित हैः

व्यवस्थापन सम्बन्धी शक्तियाँ :

संसद को संघीय सूची तथा समवर्ती सूची के सभी विषयों पर कानून बनाने की शक्ति प्राप्त है। इसके अतिरिक्त सभी संघीय क्षेत्रों के लिए संसद को सदैव ही सभी विषयों पर कानून बनाने की शक्ति प्राप्त है। संकटकाल की घोषणा के काल में राज्य-सूची के विषयों पर संसद कानून बना सकती है। जब कभी दो या दो से अधिक राज्यों के विधानमण्डल प्रस्ताव पास करके संसद से किसी विषय के बारे में कानून बनाने की प्रार्थना करें तो संसद कानून बना सकती है। इसी प्रकार जब राज्यसभा दो तिहाई बहुमत से प्रस्ताव पारित करके राष्ट्रीय हित में संसद को राज्य-सूची के किसी विषय विशेष पर कानून बनाने का अनुरोध करे तो संसद कानून बना सकती है।

वित्तीय शक्तियां :

संविधान द्वारा संसद को संघीय वित्त पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त है। सभी कर सम्बन्धी प्रस्ताव तथा अनुदानों की मांगे संसद द्वारा स्वीक त होने पर ही प्रभावी होती है क्योंकि संविधान के अनुसार विधि के अधिकार के बिना न तो कर लगाया जाएगा और न एकहित किया जाएगा। संसद ही प्राक्कलन और लोक-लेखा समिति को नियुक्त करती है तथा नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक के प्रतिवेदन पर विचार कर उचित कार्यवाही करती है। संसद की स्वीक ति के बिना सरकार को राष्ट्रीय वित्त में से खर्च का अधिकार नहीं होता हैं।

कार्यपालिका शक्तियां :

भारत में संघात्मक शासन प्रणाली अपनाई गई है। अतः मन्त्रिमण्डल संसद के प्रति उत्तरदायी है। मन्त्रिमण्डल केवल उसी समय तक सत्तारूढ़ रह सकता है जब तक कि उसे लोकसभा का विश्वास प्राप्त हो। संसद अनेक तरिकों से कार्यपालिका पर नियन्त्रण रखती है। संसद के सदस्य 'अविश्वास के प्रस्ताव', निन्दा प्रस्ताव' एवं 'कामरोको प्रस्ताव' द्वारा सरकार पर नियन्त्रण रखते हैं तथा उसे उत्तरदायी बनाए रखते है। संसद के सदस्य मन्त्रियो से सरकारी नीतियों के सम्बन्ध में प्रश्न तथा पूरक प्रश्न पूछ सकते है तथा सरकार की आलोचना कर सकते है। संसद सदस्य बजट को अस्वीकार करके, मन्त्रियों के वेतन में कटौती का प्रस्ताव स्वीक त करके और सरकारी विधेयक में संशोधन करके अपना विरोध प्रदर्शित कर सकते हैं।

राज्यों से सम्बन्धित शक्तियां :

संविधान में संसद को यह अधिकार दिया गया है कि राज्यों की इच्छा के बिना भीवह उनकी सीमाओं तथा नामों में परिवर्तन कर सकती है, नवीन राज्य का निर्माण कर सकती है, तथा किसी राज्य का अस्तित्व समाप्त कर सकती है। संसद को भारतीय नागरिकता के निर्धारण का भी अधिकार है। है कि वह संविधान में भी संशोधन कर सकती है। यहां तक कि संविधान के संशोधन की जो प्रक्रिया है उसको भी संसद संशोधित कर सकती है।

संविधान संशोधन की सम्बन्धित शक्तियां :

संविधान के अनुसार संसद को यह अधिकार है कि वह संविधान में भी संशोधन कर सकती है। यहां तक कि संविधान के संशोधन की जो प्रक्रिया है उसको भी संसद संशोधित कर सकती है।

निर्वाचन सम्बन्धी कार्य :

संविधान के अनुच्छेद 54 के अनुसार संसद को कुछ निर्वाचन सम्बन्धी शक्तियां प्रदान की गई है। संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए गठित निर्वाचक मण्डल के अंश है। अनुच्छेद 66 के अनुसार संसद सदस्य उपराष्ट्रपति का निर्वाचन करते है।

महाभियोग का अधिकार :

संसद के दोनों सदनों द्वारा निर्धारित विशेष प्रक्रिया के अधार पर राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाया जा सकता हैं। इसी प्रकार उच्चतम तथा उच्च न्यायालय के न्यायधीशों पर महाभियोग लगाने तथा उन्हें पदच्युत करने का प्रस्ताव भी संसद पारित कर सकती है।

संक्षेप में हम कह सकते है कि भारतीय संसद की शक्तियां एवं कार्य विस्त त है।

संसद का गठन
(Composition of the Parliament)

संविधान के अनुच्छेंद 79 के द्वारा व्यवस्था की गई है कि भारतीय संघ की एक संसद होगी जिसका निर्माण राष्ट्रपति तथा दोनों सदनों से मिलकर होगा, जिनके नाम क्रमशः राज्यसभा तथा लोकसभा होगें। राज्यसभा उच्च सदन है जिसमें राज्यों के प्रतिनिधि होते हैं तथा निम्न सदन लोकसभा है जिसमें जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित प्रतिनिधि होते है।

राज्यसभा का गठन
(Composition of Rajya Sabha)

राज्य सभा संसद का द्वितीय या उच्च सदन है। संविधान के अनुच्छेद 80 के अनुसार राज्यसभा के सदस्यों की अधिकतम संख्या 250 हो सकती है परन्तु आजकल यह संख्या 245 है। इनमें से 12 सदस्य राष्ट्रपति द्वारा नामजद किए जाते है। ये ऐसे व्यक्ति होते हैं जिन्हें कला, साहित्य, विज्ञान और समाज सेवा के क्षेत्र में विशेष ज्ञान और अनुभव प्राप्त हो। शेष सदस्य जनता द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होते है। ये सदस्य संघ की इकाइयों का प्रतिनिधित्व करते हैं और इनका चुनाव एकल संक्रमणीय मत तथा आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति के अनुसार संघ के विभिन्न क्षेत्रों की विधानसभाओं के सदस्यों द्वारा किया जाता हैं। जिन क्षेत्रों में विधान सभांए नही होती, वहां पर राज्यसभा के सदस्यों के चुनाव के लिए विशेष निर्वाचक मण्डल गठित किए जाते है।

हमारे संविधान में इकाइयों को राज्यसभा में प्रतिनिधित्व जनसंख्या के आधार पर दिया गया है और अमरिका के समान भारत में संघ की छोटी-बड़ी सभी इकाइयों को द्वितीय सदन में समान प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं है। इस सम्बन्ध में संविधान यह व्यवस्था करता है कि एक राज्य की जनसंख्या के प्रथम 50 लाख व्यक्तियों तक हर 10 लाख व्यक्तियों के लिए एक और उसके बाद हर 20 लाख पर एक के हिसाब से प्रतिनिधित्व प्राप्त होगा।

राज्यसभा के कार्य और शक्तियां
(Powers and Functions of the Council of States)

राज्यसभा के कार्य और शक्तियों का अध्ययन निम्नलिखित रूपों से किया जा सकता हैः

विधायी शक्तियां :

लोकसभा के साथ-साथ राज्यसभा भी विधि निमार्ण सम्बन्धी कार्य करती है। संविधान के द्वारा अवित्तीय विधेयकों के सम्बन्ध में लोकसभा और राज्य सभा को समान शक्तियां दी गई है। अवित्तीय विधेयक लोकसभा या राज्यसभा दोनों सदनों में से किसी भी सदन में पहले प्रस्तावित किया जा सकता है और दोनों सदनों से पारित होने के बाद ही राष्ट्रपति के पास हस्ताक्षर होने के लिए जाता है। व्यवहार में स्थिति यह है कि सामान्यतया सभी महत्वपूर्ण विधेयक लोकसभा में ही प्रस्तावित किए जाते हैं, राज्यसभा में नहीं।

यदि दोनों सदनों में किसी विधेयक के सम्बन्ध में मतभेद उत्पन्न हो जाते है तो राष्ट्रपति के द्वारा दोनों सदनों की सयुक्त बैठक बुलाई जा सकती है। विधेयक एक सदन द्वारा स्वीकार किए जाने के बाद यदि 6 महिने की अवधि के अन्दर दूसरे सदन के द्वारा उसे स्वीकार नहीं किया जाता है। तो संयुक्त अधिवेशन बुलाया जाता है। संयुक्त बैठक की अध्यक्षता लोकसभा के स्पीकर द्वारा की जाती है और संयुक्त बैठक में विधेयक के भाग्य का निर्णय बहुमत के आधार पर किया जाता है। इस प्रकार औपचारिक द ष्टि से अवित्तीय विधेयक के सम्बन्ध में दोनों सदन समान स्तर पर है। लेकिन व्यवहार में राज्यसभा किसी विधेयक को पारित करने में अधिक से अधिक 6 माह का विलम्ब कर सकती है। यह लोकसभा द्वारा इच्छित विधयेक के पारित होने में स्थाई बाधा नहीं डाल सकती।

संविधान संशोधन की शक्ति :

संविधान संशोधन के सम्बन्ध में राज्यसभा को लोकसभा के समान ही शक्ति प्राप्त है संविधान संशोधन का विधेयक संसद के किसी भी सदन में प्रस्तावित किया जा सकता है और संशोधन प्रस्ताव तभी स्वीक त समझा जाएगा, जबकि उसे संसद के दानों सदनों द्वारा अलग अलग अपने कुल बहुमत तथा उपस्थित एवं मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से पारित कर दिया जाए। संशोधन प्रस्ताव पर संसद के दोनों सदनों में असहमति होने पर संसद के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक की कोई व्यवस्था नहीं है। ऐसी स्थिति में संशोधन प्रस्ताव गिर जाएगा।

वितिय शक्ति :

राज्यसभा को व्यक्तिमय महत्वहीन वित्तीय शक्तियां भी प्राप्त है, यद्यपि संविधान द्वारा ही इस सम्बन्ध में राज्यसभा को लोकसभा की तुलना में निर्बल स्थिति प्रदान की गई है। संविधान के अनुसार वित्त विधेयक पहले लोकसभा में ही प्रस्तावित किए जाएगे। लोकसभा द्वारा स्वीक त होने पर वित्तीय विधेयक राज्यसभा में भेजें जांएगे जिसके द्वारा अधिक से अधिक 14 दिन तक इस विधेयक पर विचार किया जा सकेगा। राज्यसभा वित-विधेयक के सम्बन्ध में अपने सुझाव लोकसभा को दे सकती है, लेकिन यह लोकसभा की इच्छा पर निर्भर है कि वह उन प्रस्तावों को माने या न माने।

कार्यपालिका शक्तिः

संसदात्मक शासन व्यवस्था में मन्त्रिमण्डल संसद के लोकप्रिय सदन के प्रति उत्तरदायी होती है। अतः भारत में भी मन्त्रिपरिषद केवल लोकसभा के प्रति ही सामूहिक रूप से उत्तरदायी है न कि राज्यसभा के प्रति राज्यसभा के सदस्य मन्त्रियों से प्रश्न तथा पूरक प्रश्न पुछ सकते है और उनकी आलोचना भी कर सकते हैं, परन्तु उन्हें अविश्वास प्रस्ताव द्वारा मन्त्रियों को हटाने का अधिकार नहीं है। यह अधिकार केवल लोकसभा को ही प्राप्त है। अतः कार्यकारिणी पर नियन्त्रण की द ष्टि से लोकसभा राज्यसभा की तुलना में निश्चित रूप से अधिक शक्तिशाली है।

विविध शक्तियां :

राज्यसभा को कुछ अन्य शक्तियां भी प्राप्त है जिनका प्रयोग वह लोकसभा के साथ मिलकर कर सकती है। ये शक्तियां और कार्य इस प्रकार हैं :

i) राज्यसभा के निर्वाचित सदस्य राष्ट्रपति के चुनाव में भाग लेते है।

ii) राज्यसभा के सदस्य लोकसभा सदस्यों के साथ मिलकर उपराष्ट्रपति का चुनाव करते है।

iii) राज्यसभा लोकसभा के साथ मिलकर राष्ट्रपति, उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों तथा अन्य कुछ पदाधिकारियों पर महाभियोग लगा सकती है। महाभियोग केवल तभी पारित समझा जाता है जब दोनों सदन इस प्रकार के प्रस्ताव को स्वीकार कर लें।

iv) राज्यसभा लोकसभा के साथ मिलकर बहुमत से प्रस्ताव पास कर उपराष्ट्रपति बहुमत से प्रस्ताव पास कर राष्ट्रपति को उसके पद से हटा सकती है। उपराष्ट्रपति को पद से हटाने का प्रस्ताव प्रथम बार राज्यसभा से ही पारित होकर लोकसभा के पास जाता है।

v) एक मास से अधिक की अवधि तक यदि आपातकाल लागू रखना हो तो इस प्रकार के प्रस्ताव का अनुमोदन लोकसभा तथा राज्यसभा दोनो से होना आवश्यक है।

विशेष अधिकारः

अन्त में राज्यसभा को दो ऐसे अनन्य अधिकार भी प्राप्त हैं जो लोकसभा को प्राप्त नहीं है और जिनका प्रयोग अकेले राज्यसभा ही करती है। ये शक्तियां हैः

i) अनुच्छेद 249 के अनुसार राज्यसभा उपस्थित और मतदान में भाग लेने वाले दो-तिहाई सदस्यों के बहुमत से राज्य सूचि के किसी विषय को राष्ट्रीय महत्व का घोषित कर सकती हैं। राज्यसभा द्वारा ऐसे प्रस्ताव पास कर दिए जाने पर संसद उस विषय पर कानून का निमार्ण कर सकती हैं। ऐसा प्रस्ताव प्रारम्भ में एक वर्ष के लिए लागू होता है। लेकिन यदि राज्यसभा चाहे तो हर बार इसे एक वर्ष के लिए बढ़ाया जा सकता है।

ii) संविधान के अनुच्छेद 312 के अनुसार राज्यसभा ही अपने दो-तिहाई बहुमत से प्रस्ताव पास कर नई अखिल भारतीय सेवाएं स्थापित करने का अधिकार केन्द्रीय सरकार को दे सकती है।

राज्यसभा की शक्तियों के इस अध्ययन से यह पता चलता है कि संविधान निर्माताओं द्वारा राज्यसभा को प्रथम सदन के सहायक और सहयोगी सदन की भूमिका ही प्रदान की गई है, पतिद्वन्द्वी सदन की नहीं। लोकसभा की तुलना में निर्बल होते हुए भी उसकी स्थिति और उसकी शक्तियों का महत्व हैं।

राज्यसभा का आलोचनात्मक मूल्याकंन
(Critical Evaluation of Council of States)

राज्यसभा की शक्तियों को देखकर यह स्पष्ट है कि लोकसभा की तुलना में यह एक बहुत ही कम शक्तिशाली अर्थात दुर्बल सदन हैं। इसके सदस्यों के लिए जो चुनाव प्रणाली अपनाई गई है। उसकी भी आलोचना की जाती है। चूंकि सदस्यों का चुनाव दलीय आधार पर किया जाता है, वह अपने राज्यों के हितो की परवाह न करते हुए दल के हितों को अधिक महत्व देते है। राष्ट्रपति के द्वारा जो सदस्य मनोनीत किए जाते हैं, वे भी प्रायः सत्ताधारी दल का ही समर्थन करते है। धन बिलों को पास करने मे राज्यसभा बिलकुल शक्तिहीन हैं और साधारण बिलों के पास करने में भी उसे बहुत कम शक्ति प्राप्त है।

परन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि राज्यसभा की कोई उपयोगिता नहीं है। यह सदन निम्नलिखित कारणों से उपयोगी हैः

राज्यसभा उस स्थिति में संकटकालीन घोषणा की स्वीक ति देती है जब लोकसभा भंग हो चुकी हो। संविधान के अनुसार यद्यपि राष्ट्रपति द्वारा की गई घोषणा में दोनों सदनों की स्वीक ति आवश्यक है परन्तु यदि लोकसभा भंग हो और राष्ट्रपति ने संकटकालीन घोषणा कर दी हो तो यह घोषणा उसी स्थिति में रहेगी यदि राज्यसभा उसे सवीक ति दे दे।

राज्यसभा ही यदि दो तिहाई बहुमत से यह प्रस्ताव पास कर दे तो कि राज्य सूचि में दिया हुआ कोई विषय राष्ट्रीय महत्व का हो गया है तो संसद उस विषय पर कानून बना सकती है। राज्यसभा राज्यों का प्रतिनिधित्व सदन है और उसी के हाथों मे यह अधिकार होना उचित भी है।

राज्यसभा का एक महत्वपूर्ण कार्य यह है कि महत्वपूर्ण विषयों पर वाद-विवाद करे और उन बिलों को पास करने में देरी कर दे तो लोकसभा ने जल्दी से पास किए है।

राज्यसभा लोकसभा की शक्तियों को नियंत्रित करती है। यदि लोकसभा ने कोई बिल पास किया है जो राष्ट्रीय हित के अनुकूल नहीं है तो वह उसे अस्वीकार करके देरी कर सकती है, जिससे बिल में परिस्थितियों के अनुकूल संशोधन करने को संभव बनाती है।

राज्यसभा में सदस्य राष्ट्रपति द्वारा इस आधार पर मनोनीत किए जाते है कि उन्होंने कला, साहित्य, विज्ञान और समाज सेवा मे प्रसिद्धि प्राप्त की है। इन लोगों के सुझावों से राष्ट्र लाभ उठा सकता है।

राज्यसभा में बिलों और अन्य प्रस्तावों के बारे में बहस का स्तर ऊँचा रहता है। वहां प्रत्येक बिल पर शांतिपूर्ण ढंग से विचार करके उसके गुण-दोषों पर प्रकाश डाला जाता है। इससे जहाँ बिल के दोष दूर हो जाते हैं वहां मन्त्रिपरिषद की स्थिति पर भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता। लोकसभा में तो किसी भी बिल का समर्थन दलीय आधार पर किया जाता है। गुणों और दोषों के आधार पर किसी बिल का इसलिए भी विरोध नहीं किया जा सकता कि यदि सत्ताधारी दल के सदस्य उस बिल का विरोध कर दें और वह पास न हो तो मन्त्रिपरिषद को ही त्यागपत्र देना पड़ता हैं। इस प्रकार राज्यसभा बिलों के गुण और दोषों को प्रकाश में लाकर जनमत बनाने का कार्य करती है।

सार्वजनिक हित के बिल जिनके बारे में कोई दलीय विरोध नहीं है, इस सदन में सरलता से पास किए जा सकते हैं और लोकसभा उन्हें बाद में पास कर सकती है। इससे लोकसभा के समय की काफी बचत हो सकती है।

ऊपर दिए गए विवरण के आधार पर हम यह कह सकते है कि राज्यसभा को एक वर्ष व्यर्थ तथा गौण श्रेणी सदन (Secondary House) कहना ठीक नहीं है।

लोकसभा
(House of People)

संघीय संसद के निम्न सदन या लोकप्रिय सदन को लोकसभा का नाम दिया गया है। लोकसभा की सदस्य संख्या समय-समय पर परिवर्तित होती रही है। संविधान में उपबन्ध है कि लोकसभा के 530 से अधिक सदस्य राज्यों में प्रादेशिक निर्वाचन दलों से प्रत्यक्ष रीति से चुने जांएगें और 20 से अनाधिक सदस्य संघ राज्य क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करेगें जिनका निर्वाचन ऐसी रीती से होगा जैसे संसद विधि द्वारा उपबन्ध करे। इसके अतिरिक्त, राष्ट्रपति आंग्ला-भारतीय समुदाय का प्रतिनिधितव करने के लिए दो से अधिक सदस्य मनोनीत कर सकता है। इस प्रकार सदन की अधितम सदस्य संख्या 552 हो, ऐसी संविधान में परिकलपना की गई है लोकसभा के सदस्यों का चुनाव प्रत्यक्ष 18 वर्ष की आयु प्राप्त व्यक्ति को वयस्क माना गया है। अब लोकसभा के सभी निवाचन क्षेत्र 'एंकल सदस्यीय ' रखें गए है। 42वें संवैधानिक संशोधन के पूर्व तक लोकसभा का कार्यकाल 5 वर्ष था, लेकिन इस संशोधन द्वारा लोकसभा का कार्यकाल बढ़ाकर 6 वर्ष कर दिया गया। अब 44वें संवैधानिक संशोधन द्वारा पुनः यह 5 वर्ष कर दिया गया है।

लोकसभा के अध्यक्ष का पद
(Office of the Speaker)

अध्यक्ष का पद संसदीय शासन प्रणाली में बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान रखता है। विश्व से जहां पर भी संसदीय पद्धति की सरकार है, वहां संसद के निम्न सदन के स्पीकर को विशेष महत्व और दर्जा प्राप्त होता है। संविधान के अनुसार, अध्यक्ष का निर्वाचन लोकसभा स्वयं करती है। अध्यक्ष निर्वाचन के समय से लेकर, उस लोकसभा के विघटन के बाद अगली लोकसभा की पहली बैठक से फौरन पहले तक अपने पद पर रहता है। वह दुबारा चुना जा सकता है।

अध्यक्ष की शक्तियाँ :

लोकसभा का सबसे महत्वशाली रूढ़िगत और औपचारिक प्रधान लोकसभा का अध्यक्ष है। सभा में उसका प्राधिकार

सर्वोच्च है। यह प्राधिकार अध्यक्ष की अनन्य निष्पक्षता पर आधारित है। उसकी शक्तियों तथा उसके कर्त्तव्यों का उल्लेख नियमों में तथा कुछ हद तक संविधान में किया गया है। जिन नियमों के अनुसार उसे अपना काम करना होता है, वे नम्य है और कुछ मामलो में उसे अपने विवेक से काम लेना पड़ता है। उसके कर्त्तव्य बड़े कठिन है। उसके कार्य निम्नलिखित हैः

सदन की बैठकों की अध्यक्षता करनाः

स्पीकर का सबसे महत्वपूर्ण कार्य लोकसभा की बैठको की अध्यक्षता करना हैं। वह इस कार्य को बिना किसी पक्षपात के करता है। इस व्यवस्था को अधिक निश्चित बनाने के लिए ही उसे पद से हटाए जाने के लिए सदन के समस्त सदस्यों के बहुमत द्वारा प्रस्ताव पास किए जाने की व्यवस्था की गई है ताकि वह किसी विशेष दल आदि के प्रभाव के अधीन न रहे। दोनों सदनों की सयुंक्त बैठकों की अध्यक्षता भी लोकसभा का स्पीकर ही करता है।

सदन को स्थगित करना :

स्पीकर को अधिकार है कि वह लोकसभा की गणपूर्ति न होने की हालत में सदन को स्थगित कर सकता है। इसी प्रकार सदन में गंभीर प्रकार के उपद्रव होने की हालत में भी वह सदन की कार्यवाही को निलंबित कर सकता है।

वाद विवाद का समय निश्चित करना :

सदन के नेता के परामर्श से स्पीकर राष्ट्रपति द्वारा सदन के आगे दिए भाषण पर वाद-विवाद का समय निश्चित करता है। वही राष्ट्रपति के भाषण से सम्बन्धित धन्यवाद प्रस्ताव में संशोधन का रूप निर्धारित करता है।

सदन का कार्यकाल निश्चित करनाः

सदन के नेता की सलाह से स्पीकर सदन का कार्यक्रम तथा उसका क्रम निर्धारित करता है। वह निर्णय करता है कि कौन-सा बिल किस समय सदन के सम्मुख प्रस्तुत किया जाए या कौन-से विषय पर किस दिन बहस की जाए। सदस्यों द्वारा पूछे जाने वाले प्रश्नों और उनके उत्तरों के लिए भी समय और दिन स्पीकर ही निश्चित करता है।

सदन की कार्यवाही चलाना :

सदन की कार्यवाही संचालन करने की जिम्मेवारी स्पीकर की है। वह सदन के सदस्यों को भाषण देने की आज्ञा देता है और भाषण देने वालों को क्रम निर्धारित करता है। सदन के सदस्य स्पीकर को ही सम्बोधित करते है, एक दूसरे को नहीं। वह प्रश्न भी स्पीकर के द्वारा ही पूछते हैं, प्रत्यक्ष रूप मे नहीं। प्रस्तावों की स्वीक ति का निर्णय भी स्पीकर ही करता है। व्यवस्था प्रश्नों के बारे में भी स्पीकर का निर्णय अंतिम होता है।

यदि सदन की कार्यवाही में भाग लेने वाले किसी सदस्य को हिन्दी या अंग्रेजी भाषा न आती हो तो स्पीकर उसे अपनी प्रादेशिक भाषा में बोलने की आज्ञा दे सकता है। सदन के नियमों की व्याख्या का अधिकार भी स्पीकर को ही प्राप्त है और इस बारे में उसका निर्णय अंतिम होता है।

वित्तीय बिलों का प्रमाणित करनाः

संविधान के अर्न्तगत स्पीकर को यह प्रमाणित करने की शक्ति प्राप्त है कि विशिष्ट बिल वित्तीय बिल है या नही। इस बारे में उसका निर्णय अंतिम होता है। जिस बिल को वह वित्तीय बिल प्रमाणित कर दे वह केवल लोकसभा में ही प्रस्तुत किया जा सकता है, राज्यसभा में नही। लोकसभा द्वारा पास होने के बाद राज्यपाल उसे 14 दिन से अधिक समय के लिए नहीं रोक सकती और लोकसभा की इच्छा के बिना न वह इसमें संशोधन कर सकती है।

बिलों से सम्बन्धित शक्ति :

कोई भी बिल स्पीकर की स्वीक ति के बिना लोकसभा में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता स्पीकर ही बिल पर सदन का मतदान लेने के बाद उसे सदन द्वारा पास किया गया प्रमाणित करता है।

मतदान करवाना :

स्पीकर विभिन्न विषयों और बिलों पर वाद-विवाद समाप्त होने के पश्चात उस पर मतदान करवाता है और उसको परिणाम घोषित करता है।

स्थगन प्रस्ताव की स्वीक ति :

जनहित से सम्बन्धित महत्वपूर्ण विषयों पर सोच विचार करने के लिए रखे जाने वाले स्थगन प्रस्ताव के लिए स्पीकर की सहमति लेना अनिवार्य है। वह ऐसे प्रस्ताव पर होने वाले वाद-विवाद का समय निर्धारित करता है। इसी प्रकार किसी बिल के बारे में हो रही बहस पर स्थगन प्रस्ताव के लिए भी स्पीकर की सहमति लेना आवश्यक है।

अनुशासन बनाए रखना :

सदन में अनुशासन बनाए रखने की जिम्मेवारी भी स्पीकर की ही है और उसे इसके लिए आवश्यक शक्तियां प्राप्त है। वह किसी सदस्य को उपद्रवी, आचार व्यवहार के लिए सदन से निकाल जाने का आदेश दे सकता है। यदि कोई सदस्य सदन की कार्यवाही में बाधा डाले तों स्पीकर उसे कार्यवंचित कर सकता है। उसकी आज्ञा के बिना कोई अज्ञात व्यक्ति सदन में प्रवेश नही कर सकता।

सदस्यों के अधिकार सुरक्षित रखना :

स्पीकर लोकसभा के सदस्यों के अधिकारों और विशेषाधिकारों को सुरखित रखता है। उसका यह कर्तव्य है कि बहुमत दल की तानाशाही स्थापित न होने दे कि कहीं अल्पमतों को दबा न दिया जाए। सदस्यों द्वारा पूछे गए प्रश्नों के उत्तर ठीक ढंग से दिए जाएं इसकी जिम्मेवारी स्पीकर की है।

स्पीकर प्रश्नों की स्वीक ति का निर्णय करता है और ऐसे प्रश्नों को अस्वीकार भी कर सकता है जो सदन के नियमों के अनुकूल न हों। यदि कोई व्यक्ति या संस्था सदन के सदस्यों के विशेष अधिकारों का उल्लंघन करे तो स्पीकर उन्हें सुरक्षित रखने के लिए उचित कार्यवाही करता है।

सदन के नियमों की व्याख्या करना :

सदन के नियमों की व्याख्या करने की शक्ति भी स्पीकर को ही प्राप्त है। इस बारे में उसके निर्णय को किसी न्यायपालिका में चुनौती नही दी जा सकती। जब स्पीकर कुछ कहने के लिए खड़ा होता है तो सब सदस्य अपनी सीटों पर बैठ जाते हैं-उस समय तक सदस्य सदन से बाहर नहीं निकल सकते जब तक कि स्पीकर अपना भाषण समाप्त न कर ले स्पीकर संसद और राष्ट्रपति के मध्य कड़ी का काम करता है। स्पीकर चाहे सदन के वाद-विवाद में भाग नही लेता और न ही साधारणतया वह मतदान में भाग लेता है परन्तु यदि किसी विषय के पक्ष या विपक्ष में समान मत पड़े तो स्पीकर अपना निर्णायक मत (Costing vote) दे सकता है।

सदन की प्रवर समितियों (Select Committees) के अध्यक्ष की नियुक्ति भी स्पीकर ही करता है। ऐसी नियुक्ति वह समिति के सदस्यों में से ही करता है।

अध्यक्ष की वास्तविक स्थिति
(Actual Position of the Speaker)

अध्यक्ष सदन की प्रतिष्ठा, शक्ति तथा गौरव का द्योतक है। प० नेहरू के शब्दों में,"अध्यक्ष सभा का प्रतिनिधी है। वह सभा की गरिमा और उसकी स्वतंत्रता का प्रतीक है और चूंकि सभा राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करती है। इसलिए एक तरफ से अध्यक्ष राष्ट्र की स्वतंत्रता और आजादी का प्रतीक बन जाता है। अतः यह उचित ही है कि अध्यक्ष का पद सम्मानित पद है। उसकी स्वतंत्र स्थिति है और उस पद पर वही व्यक्ति आसिन होने चाहिए जो साधारण रूप से योग्य तथा निष्पक्ष हो। लोकसभा के भूतपूर्व सचिव एम॰एन॰ कौल के अनुसार, "यद्यपि साधारणतया अध्यक्ष अध्यक्षता करता है। निगरानी रखता है तथा विवादों को नियन्त्रित करता है लेकिन उसकी स्थिति इतनी महत्वपूर्ण है कि किसी भी सकंट में उसकी शक्तियां राजनीतिक द ष्टि से बहुत अधिक महत्वपूर्ण हो सकती है। .... यथार्थ में भारतीय ससंदीय व्यवस्था में लोकसभा का अध्यक्ष उस सन्तुलन-चक्र के समान है जिससे कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका के सम्बन्ध में सरकार की और से मैं यह कहुंगा कि हम यह चाहेंगे कि मानवीय अध्यक्ष अब और हमेशा सदन की स्वतंत्रता की रक्षा प्रत्येक प्रकार के खतरे से करेंगें -कार्यपालिका के अतिक्रमण के खतरे से भी।" अध्यक्ष के निर्णय नजीरें है जिनसे आगे आने वाले अध्यक्षों, सदस्यों तथा अधिकारियों का पथ-प्रदर्शन होता है। ऐसी नजीरों का सग्रंह कर लिया जाता है और समय आने का यही या तो प्रक्रिया नियमों में परिवर्तित हो जाते है और या परिपातियों

के रूप में इनका अनुसरण किया जाता है। अध्यक्ष के निर्णयों को केवल प्रस्ताव रखकर ही चुनौती दी जा सकती है, वैसे उन पर आपत्ति नहीं उठाई जा सकती। जो सदस्य अध्यक्ष के विनिर्णय पर विरोध प्रकट करता है वह सभा और अध्यक्ष के अवमान का दोषी होता है। अध्यक्ष अपने निर्णय के कारण बताने के लिए बाध्य नहीं होता। अध्यक्ष द्वारा दिए गए विनिर्णय या व्यय किए गए विचार या दिए गए वहमव्य की आलोचना नहीं की जा सकती। लोकसभा का अध्यक्ष भारतीय ससंदीय समूह का पदेन सभापति होता है जो भारत के अन्तर्ससदीय संघ के राष्ट्रीय समूह और राष्ट्रमण्डल संसदीय सस्था की मुख्य शाखा के रूप में काम करता है। वह राज्यसभा के सभापति के परामर्श से विदेशों को जाने वाले विभिन्न संसदीय प्रतिनिधि मण्डलों के लिए सदस्यों का नाम निर्देशन करता है। कभी कभी वह स्वंय इन प्रतिनिधिमण्डलों का नेत त्व करता है।

ससंदीय संचिवालय और सदन की इमारत अध्यक्ष के नियन्त्रण में होती है। इस दिशा में सारा प्रशासन अध्यक्ष के आदेश से ही चलता है। सदन के कार्यो कार्य को चलाने सम्बन्धी सारे अधिकार भी अध्यक्ष को प्राप्त होते है।

प्रो० पायली के अनुसार कुछ ही वर्षो के भीतर लोकसभा के अध्यक्ष पद ने सदन की गरिमा को अपनी निष्पक्षता द्वारा बनाए रखा है। शुरू में मावलकर जैसे अध्यक्ष इस विचारधारा के थे कि सदन में वह निर्दलीय व्यक्ति के समान अचरण करे, किन्तु सदन के बाहर वह दलगत निष्ठाएं रख सकता है परन्तु बाद के अध्यक्षों जैसे नीलम संजीव रही तथा गुरदयाल सिह दिल्लन ने अध्यक्ष पद धारण करते ही दल की राजनीति से सन्यासं ले लिया। अध्यक्ष को भारत में सांतवा स्थान प्राप्त है, जो सर्वोच्य न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के बराबर का है। अध्यक्ष को लोकसभा के अभिभवय का सा दायित्व निभाना होता है। सदन में व्यक्तिगत आरोप-प्रत्यारोप के बजाए स्वस्थ विचारों के आदान-प्रदान को समुचित अवसर प्रदान करना होता है।

लोकसभा की शक्तियां और कार्य
(Powers and Functions of Lok Sabha)

भारतीय ससंद के दो सदनों में लोकसभा लोकप्रिय सदन है क्योंकि इसके गठन का आधार जनसंख्या है और लोकसभा के सदस्यों को जनता के द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर निर्वाचित किया जाता है। संसदीय व्यवस्था का यह निश्चित सिंद्धान्त है कि काननू निर्माण और प्रशासन पर नियंत्रण की अन्तिम शक्ति लोकप्रिय सदन को ही प्राप्त होती है। लोकसभा की शक्तियों तथा उसके कार्यो का अध्ययन निम्न रूपों में किया जा सकता है।

विधायी शक्ति :-
(Legistative Power) :

संविधान के अनुसार भारतीय ससंद संघ सूची, समवर्ती सूची, अवशेष विषयों और कुछ विशेष परिस्थितियों में राज्य सूची के विषयों पर कानून का निर्माण कर सकती है। यद्यपि संविधान के द्वारा साधारण अवित्तीय विधेयकों के सम्बन्ध में लोकसभा और राज्यसभा को समान शक्ति प्रदान की गई है। संविधान में कहा गया है कि इस प्रकार के विधेयक दोनों में से किसी एक सदन में प्रस्तावित किए जा सकते है और दोनों सदनो से पारित होने पर ही राष्ट्रपति के पास हस्ताक्षर के लिए भेजे जांएगे, लेकिन इसके साथ ही दोनो सदनो में मतभेद उत्पन्न हो जाने पर राष्ट्रपति द्वारा देानों सदनों की संयुक्त बैठक बुलाए जाने की व्यवस्था है और लोकसभा में रहस्य संख्या राज्यसभा की संख्या की दुगनी से भी अधिक होने के कारण सामान्यतया इस बैठक में विधेयक के भाग्य का निर्णय लोकसभा की इच्छानुसार ही होता है। इस प्रकार कानून निर्माण के सम्बन्ध में अन्तिम शक्ति लोकसभा के पास है और राज्यसभा साधारण अवित्तिय विधेयक को 6 मास तक रोके रखने के अलावा और कुछ नही कर सकती है। व्यवहार को अन्तर्गत अब तक महत्वपूर्ण विधेयक लोकसभा में ही प्रस्तावित किए जाते रहे हैं।

वित्तीय शक्ति :-
(Financial Power) :

भारतीय संविधान द्वारा वित्तीय क्षेत्र के सम्बन्ध में शक्ति लोकसभा को ही प्रदान की गई है और इस सम्बन्ध में राज्यसभा की स्थिति बहुत गौण है। अनुच्छेद 109 के अनुसार वित्त विधेयक लोकसभा में ही प्रस्तावित किए जा सकते है,

राज्यसभा में नही। लोकसभा से पारित होने के बाद वित्त विधेयक राज्यसभा में भेजा जाता है। और राज्यसभा के लिए यह आवश्यक है कि उसे वित्त विधेयक की प्राप्ति की तिथि के 14 दिन के अन्दर-अन्दर विधेयक लोकसभा को लौटा देना होगा। राज्यसभा विधेयक में संशोधन के लिए सुझाव दे सकती है, लेकिन इन्हें स्वीकार करना या न करना लोकसभा की इच्छा पर निर्भर करता है। संविधान यह भी व्यवस्था करता है कि यदि वित्त विधेयक प्राप्त होने के बाद 14 दिन के अन्दर राज्यसभा सिफारिशों सहित या सिफारिशों के बिना वित्त विधेयक लोकसभा को न लौटाए, तो निश्चित तिथि के बाद वह दोनों सदनों से पारित मान लिया जाएगा। वार्षिक बजट और अनुदान सम्बन्धी मांग की लोकसभा के समक्ष ही रखी जाती है और इस प्रकार के समस्त व्यय की स्वीक ति देने का एकाधिकार लोकसभा को ही प्राप्त है।

कार्यपालिका पर नियन्त्रण की शक्ति :-
(Power of Control over Executive) :

भारतीय संविधान के द्वारा संसदात्मक व्यवस्था की स्थापना की गई है। अतः संविधान के अनुसार कार्यपालिका अर्थात् मन्त्रिमण्डल ससंद (व्यवहार में लोकसभा) के प्रति उत्तरदायी होता है। मन्त्रिमण्डल केवल उसी समय तक अपने पद पर रहता है जब तक कि उसे लोकसभा का विश्वास प्राप्त हो। ससंद अनेक प्रकार से कार्यपालिका पर नियंत्रण रख सकती है। संसद के सदस्य मन्त्रियों से सरकारी नीति के सम्बन्ध में व सरकार के कार्यो के सम्बन्ध में प्रश्न तथा पूरक प्रश्न पूछ सकते है तथा उनकी अलोचना कर सकते है। ससंद सरकारी विधेयक अथवा बजट को स्वीकार करके, मन्त्रियों के वतेन में कटौती का प्रस्ताव स्वीकार करके अथवा किसी सरकारी विधेयक में कोई ऐसा संशोधन करके, जिससे सरकार सहमत न हो, अपना विरोध प्रदर्शित कर सकती है। वह कामरोकों प्रस्ताव (Adjourvment Motion) पास करके भी सरकारी नीति की गलतियों को प्रकाश में ला सकती है अन्तिम रूप से लोकसभा के द्वारा अविश्वास का प्रस्ताव पास करके कार्यपालिका अर्थात मंत्रिमण्डल को उसके पद से हटाया जा सकता है।

संविधान संशोधन सम्बन्धी शक्ति :-
(Power of amending the consititution) :

लोकसभा को संविधान में सशोधन और परिवर्तन करने का अधिकार प्राप्त है। संविधान के अनुच्छेद 368 के अनुसार संविधान में सशोंधन कार्य संसद के द्वारा ही किया जा सकता है और इसी अनुच्छेद में उस प्रक्रिया का उल्लेख किया गया है, जिसे संविधान के संशोधनके सम्बन्ध में लोकसभा और राज्ससभा की स्थिति समान है। क्योंकि संविधान संशोधन विधेयक दोनों में से किसी भी सदन में प्रस्तावित किए जा सकते है और उन्हें तभी पारित समझा जाएगा, जबकि उन्हें संसद के दोनों सदन अलग-अलग अपने कुल बहुमत तथा उपस्थित एवं मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से पारित कर दें। संविधान के अधिंकाश प्रावधानों में अकेली संघीय संसद के द्वारा ही परिवर्तन किया जा सकता है; केवल कुछ ही प्रावधानों में सशोंधन के लिए भारतीय संघ के आधे राज्यों के विधानमण्डलों की स्वीक ति आवश्यक होती है।

निर्वाचक मण्डल के रूप में कार्य :
(Function as an Electoral College) :

लोकसभा निर्वाचक मण्डल के रूप में भी कार्य करती है। अनुच्छेद 54 के अनुसार लोकसभा के सदस्य राज्यसभा के सदस्यों तथा राज्य विधानसभाओं के सदस्यों के साथ मिलकर राष्ट्रपति को निर्वाचित करते है। अनुच्छेद 66 के अनुसार लोकसभा और राज्यसभा मिलकर उपराष्ट्रपति का चुनाव करती है। लोकसभा के द्वारा सदन के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष को निर्वाचित किया जाता है तथा वह उन्हें पदच्युत भी कर सकती है।

जनता की शिकायतों का निवारण
(Redressal of Public greivances)

लोकसभा के सदस्य प्रत्यक्ष रूप से जनता द्वारा निर्वाचित होकर आते है, अतः उनके द्वारा जनता की शिकायतें जनता

के विचार और भावनांए सरकार तक पहुंचाई जाती है। लोकसभा के सदस्यगण इस बात की चेष्ठा करते है कि सरकार अपनी नीतियों का निर्माण एवं कार्यो का सम्पादन जनता के हितों को ध्यान में रखते हुए करों।

विविध कार्य
(Miscellaneous Functions) :

लोकसभा कुछ अन्य कार्य भी करती है जो इस प्रकार है :

(i) लोकसभा और राज्यसभा मिलकर राष्ट्रपति पर महावियोग लगा सकती है।

(ii) उपराष्ट्रपति को उसके पद से हटाने के लिए राज्यसभा प्रस्ताव पास कर दे, तो इस प्रस्ताव का लोकसभा द्वारा अनुमोदन आवश्यक होता है।

(iii) लोकसभा और राज्यसभा मिलकर उच्चतम न्यायालय एवं उच्च न्यायालयो के न्यायाधीशों के विरूद्ध महाभियोगों का प्रस्ताव पास कर सकती है।

(iv) राष्टपति द्वारा सकंटकाल की घोषणा को एक महीने के अन्दर-अन्दर संसद से स्वीकार कराना आवश्यक है अन्यथा इस प्रकार की घोषणा एक महीने बाद स्वंय ही समाप्त मान ली जाती है।

(v) राष्ट्रपति संर्वक्षमा (Amesty) देना चाहे तो उसकी स्वीक ति संसद से लेनी आवश्यक है।

लोकसभा की शक्तियों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि यदि संसद देश का सर्वोच्य अंग है, तो लोकसभा ससंद का सर्वोच्य अंग। जनता का प्रतिनिधि सदन होने के कारण लोकसभा ससंद का महत्वपूर्ण, शक्तिशाली एवं प्रभावशाली अंग है। व्यवहार की द ष्टि से यदि लोकसभा को संसद कह दिया जाए, तो अनुचित न होगा।

संसद का ह्रास
(Decline of Parliament)

लोगों को भारतीय ससंद से आशांए थी कि यह "जन-साधारण की एक प्रभुसम्पन्न संस्था" के रूप में कार्य करेगी। पंडित नेहरू के शब्दों में ससंद राष्ट्रीय जीवन में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण संस्था होगी और यह अन्याय व भ्रष्ट प्रशासन के विरूद्ध ढाल होगी।" किन्तु लगता है कि नेहरू के अनुयायी इन सब आदर्शो को भूल गये है,अब उनका द ष्टिकाण संकुचित है, सामाजिक विधायन की अब चर्चा नहीं होती, वे लोगों की शिकायतों की उपेक्षा करते हैं, ससंद अब सामाजिक कल्याण की संवाहक नही है, संस्था निर्माण की गतिशीलता व सामाजिक निरूपण का अभाव द ष्टिगत होता है अब तो संसद अपने निजी या गर्वीय स्वार्थे को साधने की एक मशीन है, अब इसमें गम्भीर चर्चाएं नहीं होती , दिखावटी और फूहड़ आवाजे सुनाई देती है, ससंद में शारोगुल अधिक और काम कम होता है, दल बदल एक सामान्य बात है राष्ट्रीय हितों की अवहेलना होती है।, संकूचित क्षेत्रीय हित सर्वोपरी हैं, और दल के नेताओं का दबदबा निरन्तर बना रहता है। हिरण मुकर्जी , जो पच्चीस वर्षो तक संसद के सदस्य रहे लिखते है, "ससंद 600 गधों की बोलती दुकान है।"

ससंद की वर्तमान छवि 1950 और 1960 के दिनो के बिल्कूल विपरीत है। उदाहरण के लिए दिनेश सिंह लिखते हैं कि " उन दिनों संसद में प्रवेश करना पूजा के स्थल में प्रवेश करने जैसा था।" वहां सम्मान, गरिमा व शालीनता थी। इस की कार्यवाही से गम्भीर भावनांए अभिव्यक्त होती थी। विधेयकों पर गम्भीर सारगर्भित चर्चा होती थी, मतभेद उभर कर सामन आते थे, विरोधी दल के सदस्यों की संख्या कम होने पर भी उन की आवाज को सम्मान से सुना जाता था, संसदीय परम्पराओं का पालन होता था, संसद यह स्वीकार करते थे कि नीतियां सरकार बनाती है, और सरकार यह समझती थी कि उस पर अन्तिम मोहर तो संसद ही लगाती है इसलिए मुद्धों पर चर्चा होती थी, प्रजा के विचारों का सम्मान किया जाता था और सरकार मानती थी कि विरोधी दलों के सदस्यों को साथ लेकर चलना बहुत आवश्यक है, तभी संसदीय लोंकतंत्र सफल माना जायेगा। विरोध का सम्मान करना शासन दल अपना मान समझता है। वर्तमान समय में ससंद लगभग निष्क्रिय हो चुकी है। अब यह तर्क का सदन न होकर अविवकी झगड़ों, घ णा, अवसरवाद तथा स्वार्थ का सदन है। संसद के हास की चरमसीमा तब देखी गई जब जून 1975 में आपद्स्थिति की उद्घोषणा का अनुमोदन संसद ने अठतालीस घंटों में बिना विचार किये कर दिया।

1967 से अब तक भिन्न-भिन्न राजनीतिक दलों के सदस्यों ने 1000 बार दल-बदल किया है, जो धन, पद की लोलुपता या स्वार्थे से प्रेरित होता है, जिससे देश में अनुशासनहीनता तथा राजनीतिक भ्रष्टाचार को बढ़ाव मिला है।

इस ह्रास के कारणों का विशलेषण करते हुए अनुभवी व व्योव द्ध संसद इन्द्रजीत गुप्त (जो संयुक्त मोर्चा सरकार में ग हमंत्री थे) कहते हैं कि इन स्थिति के अनेक कारण है पहले तो सदस्यों की सामाजिक प ष्ठ भूमि, अर्थात् गुणी व्यक्तियों के स्थान पर संकुचित स्वार्थो वाले क्षत्रीय नेताओं का संसद में प्रवेश। दसूरे वकताओं, सदन के नेता, ससंदीय मामलों सम्बन्धी मंत्री, अनेक समूहों व दलों के नेताओं तथा संसद की व्यवस्था से जुड़े सदस्यों के द ष्टिकाण व उपागम में परिवर्तन। अब विधेयों पर चर्चाओं का उच्च स्तर नहीं रहा। यह दल के सचेतकों व सचिवों अयोग्यता की ओर संकेत करता है। अक्सर वक्ता भाषण की तैयारी नही करते, संयोजन निम्न स्तर का होता है, हाजिरी बहुत कम होती है। अप्रैल 1981 में किए गए सर्वेक्षण से ज्ञात होता है कि शासक, विरोधी तथा निर्दलीस सभी के मिला कर केवल 54 सदस्य ऐसे थे जिन्होंने संसद के अधिवेशनों में नियमित रूप से भाग लिया। आम तौर पर ससंद में गणमूर्ति का आभाव होता हैं या कितनी गम्भीर बात है कि लोकसभा के अधिवेशन में एक मिनट पर 2,162 रूपये या एक घंटे में 1.3 लाख रूपयें व्यय होते है। यह व्यय केवल (जून 1995 में) लोकसभा सचिवालय की लेखन-साम्रगी, सूचना एकत्रित करने तथा विभिन्न विभागों से सूचनाएं प्राप्त करने एवं सचिवालय के रख-रखाव से सम्बनिधत है। इसमें सुरक्षा सदस्यों का निशुल्क आवागमन तथा दैनिक भता सम्मिलित नहीं है। इन बातों का अगर भी दिया जाये, तो भी अनेक अन्य गम्भीर घटनाएं है जो संसद को शोभा नही देती और सदन की अवमानना होती है। जैसे चुनाव में पराजित हो जाने पर भी सरकारी निवास खाली नही करना, ससंद बने रहेने का मकान को आगे किराये पर उठाना, कोटे में मिलने वाले टेलीफोन गैस इत्यादि ब्लैंक में बेच देना तथा कई अन्य अशोभनीय तरीकों से अपने लिए सुविधांए जुटाना आदि-आदि।

ब्रिटिश संसद व मंत्रिमण्डल जनमत के प्रति संवेदनशील है। वहाँ जनमत काफी सजग और शक्तिशाली हैं भारत में अभी यह जाग ती नही है। केवल इस तथ्य से कि भारत के सभी व्यस्क मतदाता है। लोकतंत्र सफल नहीं बन जाता। देश में अशिक्षितों की काफी बड़ी संख्या है जो राजनीतिक पेचीदगियों को नही समझते, न ही राजनीतिक दलों की विचारधारा की उन्हें कोई जानकारी है, जिससे वे नेताओं के अर्न्तस्वरूप को नही समझ पाते। वह सामान्यतया नेताओं के लुभावने नारों से आकर्षित हो जाते है, स्थानीय नेताओं के बहकावे में आ जाते हैं। लगभग प्रत्येक राजनीतिक दल इस स्थिति का शोषण कर रहा है।

निर्वाचित सदस्यों को विशाल सरकारी सुविधाओं, उन के ऐश्वर्य पूर्ण जीवन, उन्हें उपलब्ध विशेषधिकारों से भारत की संसदीय संस्थाओं का काफी ह्रास हुआ हैं इस का कारण यह भी हो सकता है कि भारत में सामाजिक विन्यास पर पश्चिमी संसदीय पद्धति को जबरदस्ती थोप दिया गया है। संविधान निर्माता सम्भवतः इस तथ्य को भूल गये थे कि लोकंतत्र केवल एक साधन है, उस की सफलता के लिए विशिष्ट सामाजिक परिस्थितियों की आवश्यकता होती है।

समकालीन परिस्थितियों में से निकलने का एक ही रास्ता है कि बुद्धिजीवी वर्ग अपने कर्त्तव्य को पहचाने और एक ऐसी लोकतंत्रीय व्यवस्था के निर्माण का प्रयत्न करें, जो जिम्मेवार जवाबदेह और संवेदनशी हो। तभी गरीबी का उन्मूलन किया जा सकता है, बिखरते समाज को संगठित किया जा सकता है और उभरती आंकाक्षाओं की पूर्ति हो सकती है। अगर संसद के सम्मान को पुर्नस्थापित करना है तो इसे आर्थिक-सामाजिक परिवर्तन के साधन के रूप में बदलना होगा। यह उत्तरदायित्त्व समाज का सजग वर्ग ही निभा सकता है। तभी सकारात्मक उपयोगी संस्थाओं का निर्माण किया जा सकता है। देश में आन्दोलनों और संघर्षो का संचालित करने का भी परमार्श दिया जाता है, किन्तु उन्हें भी अंहिसात्मक होना चाहिए। कई बार ससंदीय लोकतंत्र के स्थान पर अध्यक्षात्मक प्रणाली अपनाने का भी परमार्श दिया जाता है किन्तु संस्थाओं को बदलना ही पर्याप्त नही है। संचालकों के चरित्र को बदलना जरूरी है। ऐसी स्थितियों का निर्माण करना जरूरी जिससे लोकतंत्र को सबल व उपयोगी बनाया जा सके।

अध्याय-12

राज्यपाल

(Governor)

संविधान का अनुच्छेद 153 व्यवस्था करता है कि प्रत्येक राज्य का एक राज्यपाल होगा। एक ही व्यक्ति एक से अधिक राज्यों का राज्यपाल भी हो सकता है। राज्यपाल राष्ट्रपति के द्वारा पांच वर्ष के कार्यकाल के लिए नियुक्त किया जाता है तथा वह राष्ट्रपति की इच्छा तक अपने पद पर बना रहता है। इसका अर्थ यह है कि यद्यपि राज्यपाल की नियुक्ति पांच वर्ष के लिए की जाती है परन्तु इसे इस काल से पहले भी हटाया जा सकता है। कार्यकाल की समाप्ति पर उसी राज्य में या अन्य राज्य में दुबारा नियुक्ति पर कोई रोक नहीं है। भारत का कोई भी नागरिक जिसकी आयु 35 वर्ष या इससे अधिक न हो और वह अन्य कारणों से अयोग्य न हो किसी भी राज्य का राज्यपाल नियुक्त किया जा सकता है। यहां पर स्पष्ट करना उचित होगा कि राष्ट्रपति सदैव मंत्रिमण्डल के परामर्श पर कार्य करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि वास्तव में राज्यपाल की नियुक्ति और उसका हटाया जाना केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल की इच्छा पर होता है। संविधान निमार्ण के समय सोचा गया था कि राज्यपाल को राज्य की जनता द्वारा चुना जाये परन्तु बाद में इस विचार को छोड़ दिया गया।

संविधान राज्यपाल की नियुक्ति के सम्बन्ध में किसी प्रक्रिया का वर्णन नही करता। परन्तु संविधान सभा में यह इच्छा व्यक्त की गई कि सामान्यतः राज्यपाल राज्य का निवासी नही होना चाहिए तथा नियुक्ति से पहले केन्द्र को राज्य के मुख्यमन्त्री से परामर्श कर लेना चाहिए। इस संदर्भ में पहली परम्परा का तो सामान्यतः पालन किया जा रहा है परन्तु दूसरी परम्परा के बारे में विवाद है। विशेषतः 1967 के बाद से मुख्यमंत्रियों की यह शिकायत रही है कि उनसे या तो परामर्श किया ही नही जाता या परामर्श के नाम पर उन्हें केवल यह जानकारी दे दी जाती है कि फलां व्यक्ति को राज्यपाल नियुक्त करने पर विचार किया जा रहा हैं। वास्तव में पिछले वर्षो में राज्यों की राजनीति में राज्यपालों की भूमिका के विवाद के संदर्भ में राज्यपाल की नियुक्ति का प्रश्न भी विवादित हो गया है। अलोचको का मत है कि केन्द्र में शासित राजनीतिक दल अपने दल गत हितों को सामने रखकर सक्रिय राजनितिज्ञों को राज्यपाल नियुक्त करते है।

नियुक्ति के संदर्भ में विवाद को सम्मुख रखते हुए केन्द्र राज्य सम्बन्धों पर विचार करने के लिए नियुक्त सरकारिया आयोग ने कुछ सुझाव दिए है। उनके अनुसार राज्यपाल के पद पर नियुक्त किया जाने वाला व्यक्ति सामाजिक जीवन के किसी पहलु में सम्मानित जन होना चाहिए, वह राज्य से बाहर का निवासी हो, स्थानीय तथा राज्य स्तर की राजनीति से उसका गहरा सम्बन्ध न हो और सामान्यतरूप से तत्कालीन राजनीति में सक्रिय न हो। नियुक्ति से पहले मुख्यमन्त्री से परामर्श आवश्यक होना चाहिए। सरकारिया आयोग ने यह भी सुझाव दिया है कि सामान्यतः राज्यपाल को पांच वर्ष के कार्यकाल से पहले नहीं हटाया जाना चाहिए। यदि ऐसा अत्यन्त आवश्यक हो तो उसके कारण स्पष्ट किए जाने चाहिए। आयोग के इन सुझावों के बावजूद व्यवहार में राज्यपाल की नियुक्ति तथा पदयुक्ति पूर्णतः राजनीतिक आधारों पर ही की जा रही है।

राज्यपाल की शक्तियाँ

(Powers of Governor)

संविधान द्वारा राज्यपाल को पर्याप्त व्यापक शक्तियाँ दी गयी है। राज्यपाल की शक्तियों का अध्ययन निम्नलिखित रूपों में किया जा सकता है।

कार्यपालिका शक्तियां
(Executive Powers)

राज्य की कार्यपालिका शक्तियां राज्यपाल में निहित है जिन्हें वह स्वयं या अधीनस्थ पदाधिकारियों द्वारा स्मपादित करता है। वह मुख्यमंत्री की नियुक्ति करता है तथा उसके परामर्श पर अन्य मन्त्रियों की। वह महद्विवक्ता, लोकसेवा आयोग के अध्यक्ष तथा इसके सदस्यों की नियुक्ति करता है। उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति के सम्बन्ध में उससे परामर्श किया जाता है। राज्यपाल की कार्यपालिका शक्तियां राज्यसूची में उल्लिखित विषयों से सम्बन्धित हैं। समवर्ती सूची के विषयों पर राष्ट्रपति की स्वीक ति के अन्तर्गत वह अपने अधिकारों का प्रयोग करता है। राज्य सरकार के कार्य के सम्बन्ध में वह नियमों का निर्माण करता है। वह मन्त्रियों के बीच कार्यो का वितरण भी करता है। उसे मुख्यमन्त्री से किसी भी प्रकार की सूचना मांगने का अधिकार है। राज्य के मुख्यमन्त्री का यह कर्तव्य है कि वह राज्यपाल को मन्त्रिमण्डल के सभी निर्णयों से अवगत कराये। वह मुख्यमन्त्री को किसी मन्त्री के व्यक्तिगत निर्णय को सम्पूर्ण मन्त्रिमण्डल के समक्ष विचार के लिए रखने को कह सकता है।

विधायी शक्तियां
(Legislative Powers)

राज्यपाल राज्य की व्यवस्थापिका का एक अविभाज्य अंग होता है। वह व्यवस्थापिका के अधिवेशन बुलाता है और स्थगित करता है। वह विधानमण्डल के निम्न सदन को विघटित भी कर सकता है। महानिर्वाचन के बाद विधानमण्डल की पहली बैठक में वह एक या दोनों सदनों को किसी विधेयक के सम्बन्ध में सन्देश भेज सकता है।

राज्य विधानमण्डल द्वारा पारित विधेयक पर उसकी स्वीक ति आवश्यक है। वह विधेयक को अस्वीकार कर सकता या उसे पुनर्विचार के लिए विधानमण्डल को लौटा सकता है। अगर विधानमण्डल दूसरी बार विधेयक पारित कर देता है तो राज्यपाल को स्वीक ति देनी ही होगी। वह कुछ विधेयकों को राष्ट्रपति की स्वीक ति के लिए सुरक्षित रख सकता है।

राज्यपाल आवयकता पड़ने पर विधानमण्डल की बैठक के बीच की अवधि में अध्यादेश जारी कर सकता है। इन अध्यादेशों का वही बल तथा प्रभाव होता है जो राज्य के विधान मण्डलों द्वारा पारित अधिनियम का होता है। यह अध्योदेश विधानमण्डल की बैठक प्रारम्भ होने के 6 सप्ताह बाद तक क्रियाशील रहता है। यदि 6 सप्ताह से पहले ही विधानमण्डल उस अध्यादेश को अस्वीक त करने का प्रस्ताव पास कर दे तो ऐसी स्थिति में अध्यादेश को रद्द या समाप्त समझा जायेगा।

राज्यपाल राज्य विधान परिषद के सदस्यों को ऐसे लोगों में से नामजद करता है जिन्हें साहित्य, कला, विज्ञान, सहकारिता आन्दोलन तथा समाज सेवा के क्षेत्र में विशेष तथा व्यवहारिक ज्ञान हो। अगर वह ऐसा समझे कि विधानसभा में आंग्ल-भारतीय समुदाय को उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं हुआ है, तो वह इस वर्ग के कुछ सदस्यों को मनोनीत कर सकता है। इस प्रकार राज्यपाल को विधायी क्षेत्र में भी व्यापक शक्तियां प्राप्त है।

वित्तीय शक्तियां
(Financial Powers)

राज्यपाल को कुछ वित्तीय शक्तियां भी प्राप्त है। राज्य विधान मण्डल में राज्यपाल की पूर्व-स्वीक ति के बिना कोई भी धन-विधेयक प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है। वह विधानमण्डल के समक्ष प्रतिवर्ष बजट प्रस्तुत करवाता है तथा उसकी सिफारिश के बिना कोई भी अनुदान की मांग नहीं की जा सकती है। राज्यपाल विधानमण्डल से पूरक, अतिरिक्त तथा अधिक अनुदान की भी मांग कर सकता है। राज्य की संचित निधि राज्यपाल के ही अधिकार में रहती है तथा विधानमण्डल से स्वीक ति की अपेक्षा में वह इस विधि से किसी प्रकार के व्यय की अनुमति दे सकता है।

न्यायिक शक्तियां
(Judicial Powers)

संविधान के अनुच्छेद 161 के अनुसार जिन विषयों पर राज्य की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार होता है उन विषयों सम्बन्धि किसी विधि के विरूद्ध अपराध करने वाले व्यक्तियों के दण्ड को राज्यपाल कम कर सकता है, स्थागित कर सकता है, बदल सकता है तथा क्षमा भी कर सकता है।

विविध शक्तियां
(Miscellaneous Powers)

राज्यपाल को अन्य अनेक शक्तियां भी प्राप्त है :

i) वह राज्य लोक सेवा आयोग का वार्षिक प्रतिवेदन और राज्य की आय व्यय के सम्बन्ध में महालेखा परीक्षक का प्रतिवेदन प्राप्त करता है और उन्हें विधानमण्डल के समक्ष रखता है।

ii) अगर वह देखता है कि राज्य का प्रशासन संविधान के अनुसार चलना सम्भव नहीं है तो वह राष्ट्रपति को राज्य में संवैधानिक यन्त्र की विफलता के सम्बन्ध में सूचना देता है और उसके प्रतिवेदन पर राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू होता है। संकटकालीन स्थिति में वह राज्य के अन्दर राष्ट्रपति के अभिकर्ता के रूप में कार्य करता है।

iii) संविधान के द्वारा किन्हीं राज्यों के राज्यपालों को कुछ विशेष कार्यो के संबंध में स्वविवेकीय शक्तियां भी प्रदान की गयी है। नागालैण्ड, सिक्किम, अरूणाचल प्रदेश, असम, मिजोरम, मेघालय और त्रिपुरा के राज्यपालों को उनके अपने विवेक पर विशिष्ट कार्य कार्यन्वित करने के लिए सौपें गये है।

राज्यपाल की स्थिति या भूमिका
(Position or Role of the Governor)

संविधान के अनुसार राज्यपाल की स्थिति राज्य में उसी प्रकार की है, जिस प्रकार की राष्ट्रपति की संघ सरकार में है। परन्तु दोनों की स्थिति में सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक रूप में भिन्नता पाई जाती है। सैद्धान्तिक तौर पर सभी कार्यकारी शक्तियां राज्यपाल में केन्द्रीत है और वह राज्य प्रशासन का स्त्रोत है। उसके नाम पर राज्य का प्रशासन चलाया जाता है। वह मुख्यमन्त्री, मंत्रिपरिषद के सदस्यों तथा राज्य के उच्च अधिकारियों की नियुक्ति करता है। उसकी स्वीक ति के बिना कोई भी कानून बनाया नहीं जा सकता परन्तु राज्य स्तर पर केन्द्र की भांति संसदीय प्रणाली को अपनाए जाने के कारण वास्तव में राज्यपाल स्वयं अपनी शक्तियों का प्रयोन नही करता। उसे संवैधानिक शासक होने के नाते साधारणतः मन्त्रिपरिषद के परामर्श के अनुसार कार्य करना पड़ता हैं। यद्यपि संविधान द्वारा इस बात का स्पष्टीकरण नहीं किया गया था, परन्तु अब राज्यपाल के लिए मन्त्रिपरिषद के परामर्श को मानना आवश्यक है। इसका मुख्य कारण यह है कि मन्त्री राज्यपाल के कार्यो के लिए व्यक्तिगत तथा संयुक्त रूप से विधानमण्डल के प्रति उत्तरदायी होते है इसलिए राज्यपाल की शक्तियों का प्रयोग मन्त्रियों द्वारा ही किया जाता है। वह स्वयं केवल असाधरण परिस्थितियों में ही इसका प्रयोग कर सकता है।

डा० अम्बेडकर ने संविधान सभा में राज्यपाल की शक्तियां तथा स्थिति का वर्णन करते हुए स्पष्ट रूप से कहा था कि, "राज्यपाल की शक्तियां इतनी सिमित, नाममात्र होगी तथा उसकी स्थिति इतनी दिखावटी होगी कि वह कोई भी कार्य अपनी इच्छा तथा व्यक्तिगत निर्णय के आधार पर नही कर सकेगा।" संविधान के अनुसार उसके लिए सभी विषयों पर मंत्रिपरिषद का परामर्श स्वीकार करना आवश्यक है। इसका समर्थन कलकत्ता उच्च न्यायालय ने इस प्रकार किया है कि, "राज्यपाल इस संविधान के अन्तर्गत अपने मंत्रियों की सलाह के बिना कोई भी कार्य नहीं कर सकता।" एच०बी० कॉमथ के अनुसार, "राज्यपाल एक और से मुख्यमन्त्री तथा दूसरी ओर से राष्ट्रपति अथवा वास्तव में प्रधानमन्त्री के हाथ में कठपुतली है।"

परन्तु इन विचारों के होते हुए भी राज्यपाल का पद सर्वथा प्रभावहीन नहीं है। उसे कुछ ऐसी शक्तियां भी प्राप्त है जिनका प्रयोग वह अपनी इच्छा के अनुसार कर सकता है:

(1) यद्यपि साधारणतः राज्यपाल विधानमण्डल में बहुमत दल के नेता को मुख्यमन्त्री पद के लिए निमन्त्रण देता है और फिर उसकी सलाह से दूसरे मन्त्रियों को नियुक्त करता है परन्तु विशेष परिस्थितियों में मुख्यमंत्री का चुनाव वह अपनी इच्छा से भी कर सकता है-यदि आम चुनाव के बाद किसी भी दल को विधानसभा में बहुमत प्राप्त न हो या जब बहुमत दल में फूट पड़ जाने के कारण किसी भी दल को प्रत्यक्ष बहुमत दल को प्रत्यक्ष बहुमत का समर्थन न रहे या जब मुख्यमन्त्री अविश्वास का प्रस्ताव पास हो जाने के कारण स्वंय त्यागपत्र दे दें, तो राज्यपाल ऐसी दशा में अपनी इच्छा से किसी भी व्यक्ति को, जिसें वह विधानसभा में बहुमत प्राप्त करने के योग्य समझे, मुख्यमन्त्री नियुक्त कर सकता है।

(2) किसी राज्य में संवैधानिक सरकार के विफल हो जाने के समय राज्यपाल वास्तविक शासक के रूप में कार्य करता हैं। वह निर्णय करता है कि राज्य सरकार संविधान की धाराओं के अनुसार कार्य कर रही है कि नहीं और ऐसी स्थिति के बारे में वह राष्ट्रपति को सूचित करता है। राज्यपाल के इस अधिकार का होना इसलिए आवश्यक है कि कोई भी मुख्यमन्त्री अपने मन्त्रिपरिषद के विघटन के लिए राज्यपाल को सूझाव नहीं देगा तथा यह राज्यपाल को स्वयं निर्णय करना पड़ता है। राज्यपाल की सिफारिश के बाद यदि राष्ट्रपति संविधान की धारा 356 के अन्तर्गत किसी राज्य में संकटकाल की घोषणा कर दे तो राज्यपाल केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि के रूप में वास्वतिक कार्यपालिका की भांति कार्य कर सकता है। राज्य विधानसभा में किसी भी दल को बहुमत प्राप्त न होने पर या मुख्यमन्त्री के परामर्श अनुसार विधानसभा विघटित करने का निर्णय भी वह स्वयं करता है। ऐसी स्थिति में मुख्यमन्त्री को स्वीकार करना या न करना राज्यपाल की इच्छा पर निर्भर है।

(3) राज्यपाल विधानमण्डल द्वारा पास किए गए किसी भी बिल को राष्ट्रपति की अनुमति के लिए सुरक्षित रख सकता है। उसकी इस शक्ति को चुनौती नही दी जा सकती।

(4) वह मुख्यमन्त्री से किसी भी विषय पर सूचना प्राप्त कर सकता है और उसे किसी भी विषय पर जिस पर एक मंत्री ने निर्णय किया हो, समस्त मन्त्रिपरिषद द्वारा विचार करने के लिए कह सकता है। ऐसी दशा में मुख्यमन्त्री को राज्यपाल द्वारा पूछे गए विषय पर सूचना अवश्य देनी पड़ती है तथा एक मंत्री द्वारा किए गए निर्णय पर समस्त मन्त्रिपरिषद को निर्णय लेना पड़ता है।

(5) संविधान के संशोधन अनुसार पंजाब तथा आंध्रप्रदेश के राज्यपालों को प्रादेशिक समितियों तथा राज्य विधानमण्डलों में किसी विषय पर मतभेद हो जाने पर निर्णय करने का विशेष अधिकार दिया गया है। इसी प्रकार संविधान की धारा 371(2) के अनुसार मुंबई तथा गुजरात के राज्यपालों के राज्यों के विशेष प्रदेशों के विकास के लिए व्यय करने का अधिकार दिया गया है। नागालैंड के राज्यपाल को वित एवं कानून तथा शक्ति की व्यवस्था के सम्बन्ध में विशेष अधिकार दिए गए हैं।

(6) राज्यपाल को राज्य के अल्पसंख्यक लोगों के अधिकारों के सरंक्षक के रूप में कार्य करने का उत्तरदायित्व भी सौंपा गया है।

कुछ लोग राज्यपाल के सविवेक अधिकारों (Discretionary Powers) की आलोचना करते है। उनका कहना है कि यदि केन्द्र तथा राज्यों में भिन्न-भिन्न दलों की सरकारें हो तो केन्द्रीय सरकार राज्यपाल को राज्य में विरोधी दल की सरकार का दमन करने के लिए प्रयोग कर सकती है। लेकिन देश की सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों पर काबू पाने तथा देश को संगठित रखने के लिए इन अधिकारों का होना अति आवश्यक है।

श्री पायली के शब्दों, "यद्यपि ये साधारण परिस्थितियां नही है फिर भी ऐसे देश में जहां लोकतन्त्रीय संस्थाएं अभी विकास की अवस्था में है और जहां प्रादेशिक, भाषायी और दूसरे विकेद्रीकरण के तत्वों का अन्य भागों पर विशेष प्रभाव है वहां ऐसी सम्भावनाओं का होना आवश्यक है। ऐसी स्थिति का अनुभव केवल राज्यपाल ही कर सकता है और वह ही यथायोग्य कार्यवाही, जिसमें मन्त्रिपरिषद को भंग किया जाना भी शामिल है कर सकता है।"

इसका अर्थ यह नहीं हैं कि राज्यपाल केन्द्र में सत्ताधारी दल के हाथ में कठपुतली बन जाए। जहां उसे राष्ट्रीय अखण्डता को स्थापित करने और विकेंद्रीकरण के तत्वों का दमन करने के लिए केन्द्र के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करना चाहिए, वहां उसके लिए यह भी आवश्यक है कि वह राज्य के मुख्य कार्यपालिका के रूप में अपनी शक्तियों का प्रयोग किसी राजनैतिक प्रभाव से ऊपर उठकर करे। विशेषकर जब राज्य में राष्ट्रपति के प्रतिनिधि के रूप में काम करते हुए भी राज्य के हितों को प्राथमिकता देनी चाहिए। ऐसी स्थिति में उसकी सहायता के लिए परामर्शदाताओं (Advisers) की नियुक्ति की जाती है और वह उनकी सहायता से राज्य के शासन का संचालन करता है।

राज्यपाल की स्थिति का एक और भी पहलू है। वह राज्य का केवल संवैधानिक मुख्य कार्यपालिका ही नहीं, राज्य में केन्द्र का प्रतिनिधि (Agent) भी है। संविधान द्वारा कई परिस्थितियों में राज्यपाल को केन्द्र की और से निर्देश देने की व्यवस्था की गई है। संविधान की धाराओं के अनुसार केन्द्रीय सरकार राज्य सरकार को अपनी कार्यकारी शक्ति के प्रयोग के

सम्बन्ध में निर्देशन दे सकती है और इन निर्देशनों को कार्यविन्त करवाने का उत्तरदायित्व राज्यपाल पर होता है। साधारणतः केन्द्र सरकार के निर्देशों को राज्य सरकार द्वारा मान्यता दी जाती है, परन्तु कभी ऐसा भी संभव हो सकता है कि राज्य सरकार इन निर्देशनों का पालन न करना चाहे, विशेषकर जब केन्द्र तथा राज्यों में भिन्न-भिन्न राजनैतिक दलों की सरकार हो, तब समस्या और भी गंभीर हो जाती है। ऐसी परिस्थिति में राज्यपाल की स्थिति बड़ी सौचनीय हो जाती है, क्योंकि एक और राज्य में संवैधानिक सरकार की व्यवस्था होने के कारण राज्यपाल को मन्त्रिमण्डल के परामर्श अनुसार कार्य करना पड़ता है तथा दूसरी ओर उसे केन्द्र के प्रतिनिधि के उत्तरदायित्व को भी निभाना पड़ता है। ऐसी दशा में जब राज्य सरकार केन्द्र के निर्देश को न माने तो राज्यपाल केन्द्रीय निर्देश को लागू करने के लिए अपनी विवेकाधीन शक्तियों का प्रयोग कर सकता है और यदि वह ऐसा न करे तो केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल राष्ट्रपति को उसे पदच्चुत करने का परामर्श दे सकता है। राज्यपाल को इस प्रकार संकटमय स्थिति का सामना करना पड़ता है और केन्द्र द्वारा राज्यपाल की स्थिति का शोषण किया जा सकता है। विशेषकर जब केन्द्र में सत्ताधारी दल राज्यों में विरोधी दलों के मन्त्रिमण्डलों का विघटन करने के लिए अप्रत्यक्ष रूप से राज्यपाल का प्रयोग करना चाहे, तो उन्हें बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। ऐसी स्थिति से यद्यपि राज्यपाल को केन्द्र के ओदश अनुसार चलना पड़ता है फिर भी उसे अपनी विवेकाधीन शक्तियों का प्रयोग बड़े सावधान होकर करना चाहिए और केन्द्र का प्रतिनिधि होते हुए भी राज्य सरकार के अधिकारों की रक्षा करने का प्रयत्न करना चाहिए। उसे केन्द्र तथा राज्य सरकारों में गतिरोध को समाप्त करने का प्रयास करना चाहिए।

उपरोक्त विचार-विमर्श से यह प्रतीत होता है कि यद्यपि संविधान के निर्माता राज्यपाल को संसदीय प्रणालीके अनुसार संवैधानिक मुखिया की परिस्थिति प्रदान करना चाहते थे, परन्तु फिर भी उसे विशेष परिस्थितियों में वास्तविक कार्यपालिका के रूप में कार्य करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त राज्यपाल की स्थिति पर इस पद पर नियुक्त किए गए व्यक्ति के व्यक्तित्व का भी विशेष प्रभाव होता है। जैसे कुछ राज्यपाल केवल संवैधानिक स्थिति से ही सन्तुष्ट होते है परन्तु श्री एन० वी० गाडगिल, श्री धर्मवीर, श्री वी० एन० चक्रवर्ती तथा श्री कानूनगों जैसे राज्यपालों ने इस पद को विशेष महत्व प्रदान किया है जिससे राज्यपाल की स्थिति को संवैधानिक मुखिया की अपेक्षा वास्तविक कार्यपालिका होने में प्रोत्साहन मिला है। इसके इलावा राष्ट्रपति की भांति राज्यपाल को राज्य विधानमण्डल महाभियोग द्वारा हटा नहीं सकता। उसे केवल राष्ट्रपति ही पद से हटा सकता है तथा वह केवल राष्ट्रपति के प्रति उत्तदायी है। इससे राज्यपाल की स्थिति को विशेष बल मिला है तथा वह केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि के रूप में स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य कर सकता है।

अंत में यह कहा जा सकता है कि राज्य की स्थिति संवैधानिक मुखिया तथा वास्तविक प्रशासक दोनों की है। वह एक ही समय में राज्य का मुख्य कार्यपालिका भी है तथा संधीय सरकार का प्रतिनिधि भी है।

अध्याय-13
मुख्यमंत्री
(Chief Minister)

राज्य में मुख्यमंत्री राज्य सरकार का वास्तविक प्रधान है। संविधान के अनुसार भारत के राज्य के शासन के लिए संसदीय ढाचें की व्यवस्था की गयी है। यह ढांचा केन्द्रीय सरकार के अनुरूप ही हैं। जिस भांति केन्द्र में राष्ट्रपति को सांविधानिक अध्यक्ष बनाया गया है और प्रधानमंत्री को वास्तविक प्रधान, उसी भांति राज्य में राज्यपाल को सांविधानिक अध्यक्ष बनाया गया है और मुख्यमंत्री को वास्ताविक प्रधान वस्तुतः राज्य में राज्यपाल उत्तरदायी मन्त्रीपरिषद की सहायता से शासन चलाता है। जिसका अध्यक्ष मुख्यमंत्री है।

संविधान द्वारा मुख्यमंत्री की नियुक्ति का अधिकार राज्यपाल को दिया गया है, परन्तु राज्यपाल जिस व्यक्ति को चाहे मुख्यमंत्री नियुक्त नहीं कर सकता। व्यवहार में राज्यपाल द्वारा उसी व्यक्ति को मुख्यमंत्री के पद पर नियुक्त किया जाता है। जिसे विधानसभा में बहुमत का समर्थन प्राप्त होता है। यदि विधानसभा में किसी राजनैतिक दल को पूर्ण बहुमत प्राप्त न हो, तो उस अवस्था में राज्यपाल काफी हद तक अपनी इच्छानुसार मुख्यमंत्री की नियुक्ति कर सकता है। उस स्थिति में वह किसी भी ऐसे व्यक्ति को मुख्यमंत्री के पद पर नियुक्त कर सकता है जो उसके विचार में स्थायी सरकार की स्थापना करने के योग्य है। मुख्यमंत्री के पद पर नियुक्त होने वाले व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह राज्य विधानमंडल के किसी न किसी सदन का सदस्य हो परन्तु कई बार ऐसे व्यक्तियों को भी मुख्यमंत्री के पद पर नियुक्त कर दिया जाता हैं जो राज्य विधानमण्डल के किसी भी सदन के सदस्य नहीं होते ऐसे व्यक्ति को 6 महीने के अन्दर राज्य विधानमंडल का सदस्य बनना पड़ता है। अन्यथा वे इस पद पर नहीं रह सकते। साधारणतः मुख्यमंत्री की अवधि पांच वर्ष होती है, परन्तु विधानसभा में जब बहुमत उस के पक्ष में न रहे या विधान सभा उसके विरूद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास कर दे तो उसे अपना त्यागपत्र देना पड़ता है। ऐसी स्थिति में वह या तो स्वंय त्यागपत्र दे सकता है या राज्यपाल को विधानसभा भंग करने का परामर्श दे सकता है। इस स्थिति के बारे में लेखकों में मतभेद हैं। कुछ लेखकों के अनुसार राज्य का सवैंधानिक मुखिया होने के नाते, राज्यपाल को मुख्यमंत्री से परामर्श करना चाहिए और विधानसभा को भंग कर देना चाहिए। इसके विपरीत कुछ लोगों का मत है कि राज्यपाल को यह स्वीकार नहीं करना चाहिए और विधानसभा को भंग करने से पहले अन्य व्यक्ति को जिसे विधानसभा में बहुमत प्राप्त होने की संभावना हो, मंत्रिपरिषद बनाने का अवसर देना चाहिए।

मुख्यमंत्री की शक्तियां तथा कार्य :-
(Powers and Functions of Chief Minister) :

मुख्यमंत्री को राज्य के शासन में लगभग वही अधिकार व स्थिति प्राप्त है, जो प्रधानमंत्री को संघीय शासन में प्राप्त है। मुख्यमंत्री को निम्नलिखित शक्तियाँ व कार्य प्राप्त हैं।

मंत्रिपरिषद का निर्माण :-
(Formation of Council of Ministers) :

अपने पद को ग्रहण करने के बाद मुख्यमंत्री का सबसे पहला कार्य अपने मंत्रिपरिषद का निर्माण करना है। मुख्यमंत्री ही अपने मंत्रियों की सूची तैयार करता हैं जिन्हें राज्यपाल के द्वारा औपचारिक रूप से नियुक्त किया जाता है। राज्यपाल उस सूची में दिए गए किसी भी व्यक्ति को मंत्री के रूप में नियुक्त करने से इन्कार नहीं कर सकता। मुख्यमंत्री ही मंत्रिपरिषद के सदस्यों की सख्या को निश्चित करता है। मुख्यमन्त्री किसी ऐसे व्यक्ति को भी मंत्रिपरिषद में शामिल कर सकता है जो राज्य विधानमण्डल का सदस्य नहीं है, परन्तु ऐसे व्यक्ति के लिए 6 महीने के अन्दर राज्य विधानसभा का सदस्य बनना आवश्यक होता है यदि ऐसा वह नहीं करता तो उसके बाद वह मंत्री के पद पर नहीं रह सकता।

मंत्रियों को पद से हटाना :-
(Removal of MInisters) :

संविधान के अनुसार मंत्री राज्यपाल की इच्छा पर्यन्त पद पर रहते हैं, परन्तु व्यवहार में वह उतने समय तक पद पर रहते है जब तक वह मुख्यमंत्री के विश्वास के पात्र रहते हैं। मुख्यमंत्री तथा किसी अन्य मंत्री के बीच मतभेद होन पर मंत्री को अपना त्यागपत्र देना पड़ता है। यदि कोई मंत्री मुख्यमंत्री की नीति से सहमत नहीं है तथा उसके साथ मिलकर चलने के लिए तैयार नहीं है, तो मुख्यमंत्री उसे त्यागपत्र देने के लिए कह सकता है। यदि वह मंत्री अपना त्यागपत्र देने से इन्कार करता है तो मुख्यमंत्री राज्यपाल से कहकर उसको पद से हटवा सकता है।

विभागों का बटंवारा :-
(Distributions of Portfolios) :

मुख्यमंत्री ही मत्रिपरिषद के सदस्यों में विभागों का बटंवारा करता है। इस काम में कई बार मुख्यमंत्री को कठिनाई का सामना करना पड़ता है, क्योंकि एक ही समय में कई मंत्री एक ही विभाग को लेना चाहते है। यद्यपि अंतिम रूप में होता वही है, जिसे मुख्यमंत्री चाहता है। परन्तु ऐसी स्थिति में मुख्यमंत्री को बड़ी समझदारी से काम लेना पड़ता है कि कहीं उसके दल में फूट न पड़े। मुख्यमंत्री को, जब भी वह चाहे, मंत्रियों के विभागों में परिवर्तन करने का भी अधिकार है। यदि कोई मंत्री उससे सहमत नहीं होता, तो मुख्यमंत्री उसका त्याग पत्र मांग सकता है।

मंत्रिमण्डल की बैठकों की अध्यक्षता करना :-
(To preside over the Meelings of the Cabinet) :

मुख्यमंत्री को ही मंत्रिमण्डल की बैठकें बुलाने, उनका कार्यक्रम तैयार करने तथा उनकी बैठकों की अध्यक्षता करने का अधिकार है। मंत्रिमण्डल की बैठकों में निर्णय भी प्रायः उसी की इच्छानुसार होता है। जनता तथा विधानसभा के सामने इन निर्णयों की घोषणा मुख्यमंत्री ही करता है।

राज्यपाल तथा मंत्रिपरिषद के बीच कड़ी :-
(Link between the Governor and The Council of Ministers):

मुख्यमन्त्री राज्यपाल तथा मन्त्रिपरिषद के बीच कड़ी का काम करता है। मुख्यमन्त्री ही राज्यपाल को मन्त्रिमण्डल में निर्णयों के बारे में सूचना देता है। राज्यपाल को स्वयं भी यदि प्रशासन के बारे में किसी प्रकार की सूचना चाहिए, तो वह उसे मुख्यमन्त्री से ही प्राप्त करता है। कोई अन्य मंत्री बनी मुख्यमन्त्री की स्वीक ति के राज्यपाल को किसी प्रकार की सूचना नहीं दे सकता।

राज्यपाल का मुख्य सलाहकार :
(Chief Adviser of the Governor) :

मुख्यमंत्री राज्यपाल का मुख्य सहलाकार है। राज्यपाल केवल उस परिस्थिति को छोड़कर जब वह केन्द्रीय सरकार के निर्देशानुसार कार्य कर रहा है, साधारणतया मुख्यमंत्री द्वारा दिए गए परामर्श के अनुसार ही काम करता है।

शासन के विभिन्न विभागों में समन्वय स्थापित करना :-
(Coordination among the various Departments) :

राज्य सरकार के विभिन्न विभागों में तालमेल स्थापित करना भी मुख्यमंत्री का काम है। वह शासन के विभिन्न भागों की देखभाल करता रहता है तथा इस बात का ध्यान रखता है कि किसी एक विभाग की नीति का दूसरे विभागों पर बुरा प्रभाव न पड़े।

राज्य विधानमण्डल का नेता :-
(Leader of State Legislature) :

मुख्यमंत्री राज्य विधानमण्डल का नेता होता है। वह सदन में अध्यक्ष के साथ मिलकर सदन का कार्यक्रम तैयार करता

है। वह विधानमण्डल में सरकार की सभी महत्वपूर्ण नीतियों की घोषणा करता है और सदन में मंत्रियों के द्वारा जितने बिल पेश किए जाते हैं उनकों पास करवाने का प्रयत्न करता है। विधानमण्डल में बहुमत के समर्थन के कारण वह जो भी बिल पास करवाना चाहे, करवा सकता है। वास्तव में विधानमण्डल में उसकी मर्जी के बिना कुछ नहीं हो सकता। वह राज्यपाल से कहकर विधानसभा को उसका निश्चित कार्यकाल समाप्त होने से पहले भंग करवा सकता है तथा नये चुनाव करवा सकता है।

नियुक्तियाँ :-
(Appointments) :

राज्य प्रशासन के अर्न्तगत होने वाली सभी महत्त्वपूर्ण नियुक्तियां - राज्य का महाधिवक्ता (Attorney General) राज्य लोक सेवा आयोग के सदस्य (Members of State Public Service Commision) आदि राज्यपाल मुख्यमंत्री के परामर्श के अनुसार ही नियुक्ति करता हैं।

जनता का नेता :-
(Leader of the People) :

जिस प्रकार प्रधानमंत्री राष्ट्र का नेता है, उसी प्रकार मुख्यमंत्री अपने राज्य में जनता का नेता है। वह राज्य में होने वाले महत्त्वपूर्ण सार्वजनिक समारोहों का नेत त्व करता है।

मुख्यमंत्री की स्थिति
(Position of the Chief Minister)

मुख्यमंत्री की शक्तियों व कार्यो को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि उसको राज्य के प्रशासन में बहुत महत्वपूर्ण स्थिति प्राप्त है। वह मंत्रिपरिषद का निमार्ण करता है तथा अपनी इच्छानुसार जिस मंत्री को चाहे, पद से हटा सकता है। वह राज्यपाल का मुख्य सलाहकार है। वह राज्यपाल और मंत्रिमण्डल के बीच कड़ी का काम करता है। मुख्यमंत्री के त्यागपत्र देने का अर्थ समस्त मंत्रिपरिषद का त्यागपत्र होता है। वह राज्य विधानमण्डल का भी नेता है तथा विधानसभा को जब चाहें भंग करवा सकता है। परन्तु इतना होते हुए भी उसकी वास्तचिक स्थिति काफी हद तक परिस्थितियों तथा उसके व्यक्तित्व पर निर्भर करती है। राज्य विधानसभा में यदि उसके दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त है तो उसकी स्थिति द ढ़ होती है क्योंकि वह कोई भी बिल पास करवा सकता है। इसके विपरीत यदि उसने अन्य दलों के साथ मिलकर अर्थात संयुक्त मोर्चा बनाकर एवं मिली-जुली सरकार (Coalition Government) की स्थापना की है, तो उसकी स्थिति कमजोर होगी और उसे अन्य मंत्रियों (विशेष रूप से अनय दलों के मंत्रियों) को भी साथ लेकर चलना पड़ेगा। उसकी स्थिति असके अपने दल के सदस्यों द्वारा किए जाने वाले सहयोग पर भी निर्भर करती है। मुख्यमंत्री की स्थिति उसके दल के हाई कमांड (High Command) तथा प्रधानमंत्री के समर्थन पर भी निर्भर करती है। अन्त में मुख्यमंत्री की स्थिति उसके अपने व्यक्तित्व तथा उस राज्य के व्यक्तित्व पर भी निर्भर करती है। यदि राज्यपाल का व्यक्तित्व कमजोर है तो मुख्यमंत्री की स्थिति अधिक मजबूत होगी। परन्तु यदि राज्यपाल महान व्यक्तित्व का स्वामी है, तो वह मुख्यमंत्री पर अपना प्रभाव डाल सकता है और कई परिस्थितियों में उसे कठिनाई में डाल सकता है। इस प्रकार यद्यपि मुख्यमंत्री को महत्वपूर्ण शक्तियां प्राप्त हैं, परन्तु उसकी वास्तविक स्थिति मुख्यतः राज्य के विरोधी दल, राज्य विधानमण्डल, राज्यपाल तथा उसके दल के हई धमांड आदि से सम्बन्धों परिस्थितियों तथा उसके व्यक्तित्व पर निर्भर करती है तथा इस स्थिति में परिस्थितियों और उसके व्यक्तित्व का महत्वपूर्ण स्थान होता है।

अध्याय-14

राज्य-स्तर पर मन्त्री-परिषद

(Council of Minister At State Level)

भारत में संघीय सरकार की तरह राज्यों में भी संसदीय शासन प्रणाली को अपनाया गया है। इसलिए राज्यों में भी एक मंत्रिपरिषद की व्यवस्था की गई है। संविधान की धारा 163 के अन्तर्गत, राज्यपाल को उन कार्यो को छोड़कर जो उसे अपनी इच्छा से करने होते हैं, शेष को पूरा करने में सहायता तथा सलाह देने के लिए एक मन्त्रि-परिषद होगी जिसका अध्यक्ष मुख्यमंत्री होगा। राज्यपाल के कुछ अधिकारों को छोड़कर शेष सभी अधिकारों का प्रयोग मन्त्रि-परिषद के द्वारा ही किया जाता है। वस्तुतः केन्द्र की भांति राज्यों में शासन वास्ताविक रूप में मन्त्रिपरिषद द्वारा ही चलाया जाता है।

राज्यपाल आम चुनाव के बाद राज्य विधानसभा में बहुमत दल के नेता को मुख्यमंत्री नियुक्त करता है और फिर उसकी सलाह से अन्य मन्त्रियों को नियुक्त करता हैं। मन्त्रि-परिषद के सभी सदस्यों के लिए यह आवश्यक है कि वे राज्य विधानमण्डल के दोनों सदनों में से किसी भी सदन के सदस्य अवश्य हो। यदि किसी व्यक्ति को जो विधानमण्डल के किसी एक सदन का सदस्य न हो, मन्त्री नियुक्त किया जाए तो उसे 6 महीने के अन्दर-अन्दर विधानमण्डल के किसी एक सदन का सदस्य अवश्य बनना पड़ता है। यदि वह इस काल में किसी भी सदन का सदस्य नही बन सकता तो उसे मंत्री पद से त्यागपत्र देना पड़ता है। राज्यपाल द्वारा मुख्यमंत्री तथा अन्य मंत्रियों की नियुक्ति वास्त्व में एक औपचारिकता है। राज्यपाल को विधानसभा में जिस दल का बहुमत है तथा उस दल का जो नेता है, उसे अवश्य कही मुख्यमंत्री नियुक्त करना पड़ता है तथा अन्य मंत्रियों की नियुक्ति मुख्यमंत्री की सलाह से ही की जाती है। राज्यपाल ऐसे किसी भी व्यक्ति को मंत्री नियुक्त नहीं कर सकता जिसे मुख्यमंत्री नहीं चाहता है। वास्तव में मंत्रिपरिषद के कार्यकाल का कहीं भी वर्णन नहीं किया गया है, लेकिन उसका कार्यकाल राज्य की विधानसभा के बराबर होता है। अगर विधानसभा भंग हो जाए या उसके विरूद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास हो जाए, ऐसी स्थिति में विधानसभा के साथ ही मंत्रिपरिषद् का कार्यकाल भी समाप्त हो जाता है।

राज्य मंत्रिमण्डल की विशेषताएँ

राज्य मंत्रिमण्डल की वही विशेषताएं है जो केन्द्रीय मंत्रिमण्डल की है :-

राज्यपाल मन्त्रिमण्डल की बैठकों में भाग नही लेते :-
(Governour does not attend the mettings of Cabinet):

राज्यपाल राज्य का संवैधानिक मुखिया है, सरकार का अध्यक्ष नहीं। वह व्यवहारिक राजनीति से सम्बन्ध नहीं रखता। वह दलगत भावना से ऊपर रहकर कार्य करता हैं। वह अपनी जिम्मेदारियों को राजनीति में तटस्थ रहकर पूरा करता है। यदि वह मन्त्रिमण्डल की बैठकों में भाग लेना शुरू कर दे तो वह मन्त्रिमण्डल के निर्णयों के लिए उसी प्रकार जिम्मेदार होगा जिस प्रकार अन्य मंत्री होते हैं परन्तु यह व्यवस्था उसकी संवैधानिक स्थिति के अनुकूल नहीं होगी।

मन्त्रिमण्डल का विधानमण्डल के प्रति उत्तरदायित्व
(Responsibility of Cabinet towards Legistative) :

मन्त्रिमण्डल के सदस्य अपने सभी कार्यो, निर्णयों और नीतियों के लिए राज्य विधानसभा के प्रति उत्तरदी होते है। वह तब तक अपने पद पर रहते है जब तक उन्हें राज्य विधानसभा का विश्वास प्राप्त रहे। यह जिम्मेदारी सामूहिक भी होती है और व्यक्तिगत भी।

सामूहिक उत्तरदायित्व
(Collective Responsibility) :

इसका अर्थ यह है कि मन्त्रिमण्डल द्वारा लिए गए निर्णयों और निश्चित की गई नीतियों के लिए समस्त मन्त्रि-परिषद सामूहिक रूप से राज्य विधानसभा के प्रति उतरदायी होती है। यदि मन्त्रिमण्डल द्वारा निर्धारित नीति के कारण राज्य विधानसभा में किसी एक मन्त्री के विरूद्ध निन्दा प्रस्ताव पास किया जाता है तो समस्त मन्त्रि-परिषद अपने पद से त्यागपत्र दे देती हैं। मन्त्रि-परिषद के सदस्य एक टीम की तरह कार्य करते हैं। उनकी हार-जीत साँझी होती है। वे इकक्ठे तैरते है और इकक्ठे डूबते हैं।

व्यक्तिगत उत्तरदायित्व :
(Individual Responsibility) :

मन्त्रियों की जिम्मेदारी व्यक्तिगत भी होती है। यदि कोई मन्त्री अपने विभाग के सम्बन्ध में वैयाक्तिक रूप से निर्णय लेता है तथा उस पर मन्त्रिमण्डल में विचार न किया गया हो तो उस निर्णय के लिए उस मन्त्री की व्यक्तिगत जिम्मेदारी होती है। यदि वह निर्णय बाद में गलत सिद्ध हो और उसके कारण उस मन्त्री के विरूद्ध राज्य विधानसभा में निन्दा प्रस्ताव या अविश्वास प्रस्ताव पास किया जाए तो उस स्थिति में वह अकेला मन्त्री ही त्याग पत्र देता है, समस्त परिषद् त्याग पत्र नहीं देती।

मुख्यमंत्री का नेत त्व
Leadership of Chief Minsters) :

मुख्यमंत्री राज्य मंत्री का नेता होता है। उसकी मंत्रिमण्डल में प्रमुख स्थिति होती है। वह मन्त्रियों को चुनता हैं, उनमें विभागों को बाटंता है, उनके कार्यो में समन्वय उत्पन्न करता है तथ उनके कार्यो की निगरानी करता है। वह मन्त्रिमण्डल की बैठकें बुलाता है, उनकी अध्यक्षता करता है तथा मन्त्रिमण्डल द्वारा लिए गए निर्णयों के बारे में राज्यपाल को सूचित करता है। यदि मुख्यमंत्री अपना त्यागपत्र दे दे तो वह समस्त मन्त्रिपरिषद का त्यागपत्र माना जाता है।

गोपनीयता
(Secrecy) :

गोपनीयता मन्त्रिमण्डल प्रणाली का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। मन्त्रिमण्डल की कार्यवाही को गुप्त रखा जाता है। आपसी मतभेदों को राज्य विधानमण्डल व जनता के सामने प्रकट नहीं किया जाता। मंत्रियों को अपना पद धारण करने से पहले राज्यपाल के सामने गोपनीयता की शपथ लेनी पड़ती है।

मन्त्रिपरिषद् की शक्तियाँ एवं कार्य
(Powers and Functions of the Council of Ministers)

मन्त्रिपरिषद की शक्तियाँ और कार्य निम्नलिखित हैं :

नीति का निर्धारण
(Determination of Policy) :

मन्त्रिपरिषद का सबसे महत्त्वपूर्ण काम यह है कि राज्य की प्रशासकीय नीति का निर्धारण करें। इस काम को करते समय मन्त्रिपरिषद् अपने दल अथवा अन्य दलों के राजनैतिक सिद्धान्तों का पूरा-पूरा ध्यान रखती है। इस प्रकार निर्धारित नीति को फिर विधानसभा में प्रस्तुत किया जाता है और मन्त्रिपरिषद् को विधानसभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त होने के कारण उस नीति को वहाँ स्वीकार भी करवा लिया जाता है।

शासन चलाना
(Administrative Functions) :

मन्त्रिपरिषद् का प्रत्येक सदस्य एक या एक से अधिक विभाग का अध्यक्ष होता है। वह अपने विभाग का शासन मन्त्रिपरिषद् के द्वारा निश्चित की गई नीतियों के अनुसार चलाता है। विभाग का अध्यक्ष होने के नाते वह विधानमण्डल के दोनों सदनों में पूछे गए प्रश्नों का उत्तर देता है तथा जनता को भाषण द्वारा अपने विभाग की नीति व कार्यो से अवगत कराता है

प्रत्येक मंत्री अपने विभाग या कार्य ठीक प्रकार चलाने के लिए अपने अधीन सरकारी पदाधिकारियों के कार्यो का निरीक्षण करता है। प्रशासन चलाने के लिए मन्त्रिपरिषद् विधानसभा के प्रति उत्तरदायी है।

विभागों में तालमेल स्थापित करना
(Coordination among different Departments :

शासन की सरलता के लिए सम्पूर्ण शासन कई विभागों में विभक्तत होता है और प्रत्येक विभाग का अलग-अलग मन्त्री होता है। यद्यपि शासन मन्त्रिपरिषद् द्वारा निश्चित नीतियों के अनुसार चलाया जाता है। परन्तु फिर भी भिन्न-भिन्न विभागों में अधिकार क्षेत्र के लिए विवाद पैदा हो जाना स्वाभाविक है। मन्त्रिपरिषद् विवादों को समाप्त करके भिन्न भिन्न विभागों में सहयोग पैदा करता है ताकि शासन में कार्य कुशलता बनी रहे। इसके इलावा मन्त्रीपरिषद् यह भी देखता है कि शासन नीतियों के अनुसार चल रहा हैं या नहीं।

नियुक्तियाँ
(Appointments) :

राज्य की सभी महत्त्वपूर्ण नियुक्तियाँ राज्यपाल मन्त्रिपरिषद् की सलाह से ही करता हैं। इन नियुक्तियों में एडवोकेट जनरल राज्य के लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्य इत्यादि शामिल है।

वैधानिक कार्य
(Legistative Function) :

कानून-निर्माण में मन्त्रिपरिषद् की प्रमुख भूमिका है। मन्त्रिपरिषद् के सभी सदस्य विधानमण्डल के सदस्य होते है। सभी महत्वपूर्ण बिल विधानमण्डल में मन्त्रियों द्वारा ही पेश किए जाते है। मन्त्रिपरिषद् का विधानमण्डल में बहुमत होता है। इसीलिए मंत्रियों के द्वारा पेश किए गए सभी बिल पारित हो जाते है। मन्त्रिपरिषद् की इच्छा के विपरीत कोई भी बिल कानून का रूप धारण नहीं कर सकता। मन्त्रिपरिषद् ही यह निश्चित करती है कि विधानमण्डल का अधिवेशन कब बुलाया जाए तथा कब समाप्त किया जाए। राज्यपाल का विधानमण्डल में दिया जाने वाला भाषण भी मन्त्रिपरिषद् द्वारा तैयार किया जाता है। जब राज्य विधानमण्डल का अधिवेशन नहीं हो रहा होता है, तब मन्त्रिपरिषद राज्यपाल को सलाह देकर अध्यादेश जारी करवाता है।

वित्तीय कार्य
(Financial Functios) :

राज्य की वित्त व्यवस्था पर मन्त्रिपरिषद् का ही नियन्त्रण होता है। वह बजट तैयार करता है तथा विधानसभा से पास करवाता है। बजट की तैयारी और इसे पास करवाने में मन्त्रिपरिषद का बहुत बड़ा हाथ होता है। यदि बजट विधानसभा द्वारा अस्वीकार कर दिया जाए तो सम्पूर्ण मंत्रिपरिषद् को त्याग पत्र देना पड़ता है। बजट पास होने के बाद मन्त्रिपरिषद् ही निश्चित की हुई रकम के अनुसार खर्चा करता है तथा वह उसके लिए उत्तरदायी भी है।

मन्त्रिपरिषद के द्वारा किए गए उपर्युक्त कार्यो से स्पष्ट है कि यह वह संस्था है जो राज्य का शासन चलाती है। राज्यों की नीतियों को निश्चित करने से लेकर, शासन चलाना, राज्य में शान्ती तथा व्यवस्था बनाए रखना, कानून बनवाना, बजट तैयार करना और उसे पास करवाना आदि में मन्त्रिपरिषद् का ही प्रभुत्व रहता हैं। इसलिए मंत्रिपरिषद् को राज्य की वास्तविक शासन चलाने वाली संस्था कहा जा सकता है।

अध्याय-15
राज्य विधानमण्डल
(State Legislature)

सविंधान द्वारा राज्य स्तर पर विधानमण्डल का निर्माण राज्यपाल, विधान सभा एवं विधान परिषद के द्वारा किया गया है। परन्तु राज्यों में विधान परिषद को होना अनिवार्य नही है। दूसरे शब्दों मे किसी राज्य में विधानमण्डल दो सदनीय या एक सदनीय कोई भी हो सकता है। राज्य में विधानपरिषद् की स्थापना अथवा उसकी समाप्ति के लिए संविधान का अनुच्छेद 163 संसद को अधिकार देता है। परन्तु इसके लिए राज्य विधान सभा द्वारा स्पष्ट बहुमत एवं उपस्थित सदस्यों के दो तिहाई द्वारा प्रस्ताव पारित होना आवश्यक है। केन्द्र में राष्ट्रपति की तरह राज्य में राज्यपाल विधानमण्डल का औपचारिक अंग है।

विभिन्न राज्यों में विधानसभा की सदस्य संख्या राज्य की जनसंख्या के अनुसार निर्धारित की जाती है तथा विधानपरिषद की विधानसभा की सदस्य संख्या पर। जिन राज्यों में विधान परिषद् की व्यवस्था है वहाँ इसकी सदस्य संख्या विधानसभा के एक तिहाई के बराबर होगी परन्तु वह कम से कम 40 होगी।

राज्य विधानमण्डल के कार्य तथा शक्तियाँ
(Powers and Functions of the State Legislature)

विधानमण्डल को निम्नलिखित शक्तियाँ प्राप्त हैं :-

वैधानिक शक्तियाँ
(Legistative Powers) :

राज्य विधानमण्डल को राज्यसूची मे दिए गए विषयों पर कानून बनाने का अधिकार है। इसके साथ ही इसे समवर्ती सूची में दर्ज विषयों पर भी कानून बनाने का अधिकार है। समवर्ती सूची में दिए गए विषय संघ, ससंद तथा राज्य विधानमण्डल के सयुंक्त क्षेत्राधिकार में आते हैं। यदि समवर्ती सूची में विषयों से सम्बन्धित किसी कानून के बारे में राज्य तथा संघ में मतभेद हो, तो संघ का कानून मान्य समझा जाता है।

साधारण विधेयक दोनों सदनो में से किसी भी सदन में प्रस्तुत किए जा सकते है। परन्तु वित्तीय विधेयक पहले विधानसभा में ही प्रस्तुत किए जा सकते है, विधानपरिषद् में नहीं। साधारण विधेयक दोनों सदनों द्वारा स्वीक त होने के बाद ही कानून बनता है। विधान परिषद् विधेयक को विधानसभा से प्राप्त करने की तिथि से केवल 3 मास तक के लिए अपने पास रोक सकती है। इस अवधि के बीत जाने पर, उस विधेयक को उसके मलू स्वरूप में राज्यपाल के पास उसकी स्वीक ति के लिए भेज दिया जाता है। विधानपरिषद् द्वारा अस्वीक त या संशोधित विधेयक को विधानसभा उसके मूल रूप में फिर से पास करके विधानपरिषद् के पास भेज सकती है जिसे विधानपरिषद् एक महीने तक रोक सकती है, पर इस अवधि के समाप्त होन पर यदि विधान परिषद् उसे पास नहीं कर देती तो ऐसे बिल को विधानमण्डल के दोनों सदनों द्वारा स्वीक त समझा जाता है और उसे राज्यपाल के पास स्वीक ति के लिए भेज दिया जाता है। इससे पता चलता है कि विधानसभा ही राज्य का विधानमण्डल है।

वित्तीय शक्तियाँ
(Financial Powers) :

राज्य के वित्त पर राज्य विधानमण्डल का ही अधिकार होता है। धन बिल पहले विधानसभा में ही प्रस्तुत किया जा सकता है। विधानसभा को राज्य के वित्त पर पूर्ण अधिकार होता है। उसकी अनुमति के बिना न तो कोई कर लगाया जा सकता है और न ही व्यय किया जा सकता है। धन विधेयक स्वीक त हो जाने के बाद विधान परिषद् के पास भेज दिया जाता है, पर विधान परिषद की स्वीक ति अवश्यक नहीं होती। विधान परिषद् धन विधेयक के पास होने में 14 दिन का विलम्ब कर सकती है। विधान परिषद् में पेश होने के 14 दिन बाद राज्यपाल के हस्ताक्षर होने पर कोई भी धन विधेयक कानून बन जाता है, चाहे विधान परिषद् ने उसे इस अवधि में पास कर दिया हो अथवा न भी किया हो।

कार्यपालिका पर नियन्त्रण
(Control over the Executive) :

राज्यों में संसदीय शासन प्रणाली अपनाई गई है जिसके अनुसार एक मंत्रिपरिषद् की व्यवस्था की गई है। यह मंत्रिपरिषद् अपने शासन सम्बन्धी कार्यो के लिए विधानमंडल के निचले सदन अर्थात् विधानसभा के प्रति उत्तरदायी है। विधान सभा इस पर प्रश्न व अनुपूरक प्रश्न पूछकरर, काम रोको प्रस्ताव पास करके, मंत्रियों द्वारा पेश किए बिल को अस्वीकार करके, उनको वेतन में कटौती करके तथा मंत्रियों के विरूद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास करके, नियन्त्रण रखती है। मंत्री अपने पद पर उस समय तक बने रहते है जब तक कि उनका विधानसभा में बहुमत है। बहुमत समाप्त होते ही उन्हें त्यागपत्र देना पड़ता है। इसके अतिरिक्त जिन राज्यों में विधान परिषदे हैं वहां वे मंत्रियों से प्रश्न व अनुपूरक प्रश्न पूछकर तथा काम रोको प्रस्ताव पास करके मंत्रियों पर नियंत्रण रखती है।

संवैधानिक अधिकार
(Constitutional Powers) :

संविधान की कुछ धाराओं में संशोधन के लिए राज्य विधान पालिकाओं की स्वीक ति अनिवार्य है। बिना उनकी स्वीक ति से संविधान में संशोधन नही किया जा सकता।

चुनाव सम्बन्धी अधिकार
(Electoral Powers) :

राज्यों की विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्य राष्ट्रपति तथा राज्यसभा के सदस्यों के चुनाव में भाग लेते हैं।

राज्य विधानमंडलों की शक्तियों पर प्रतिबन्ध
(Restications on the Powers of the State Legislatures)

संविधान के अनुसार राज्य विधानमण्डलों की शक्तियों पर निम्नलिखित प्रतिबन्ध लगाये गये हैं :

1. कालिपय ऐसे विषय है जिन्हें राज्य सूची में समाविष्ट किया गया है, परन्तु उन पर राज्यों के विधानमण्डल उस समय तक कानून का निर्माण नही कर सकते जब तक कि उन पर भारत के राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति प्राप्त न हो जाए।
2. कालिपय ऐसे विषय है जिन पर राज्य विधानमण्डल कानूनों का निर्माण कर सकता है, परन्तु उन्हें राज्य का राज्यपाल राष्ट्रपति की स्वीक ति के लिए भेजता है।
3. संकटकालीन अवसरों पर संघीय संसद राज्य-सूची के सभी विषयों पर कानून बना सकती है।
4. समवर्ती सूची के विषयों पर राज्य विधानमण्डल कानून बना सकता है, परन्तु यदि वह संसद के किसी भी कानून के विरोध में है तो ऐसी स्थिति में संसद द्वारा निर्मित कानून ही मान्य रहेगा।
5. यदि किन्ही कारणों से राज्य का शासन संविधान के अनुसार नहीं चलाया जा सकता तो राष्ट्रपति राज्य विधानसभा को भंग कर सकते है ताकि नए चुनावों की व्यवस्था की जा सकें।

6. राज्यसभा दो-तिहाई बहुमत से एक प्रस्ताव पारित करके राज्य सूची के किसी भी विषय को केन्द्रीय संसद को सौंप सकती है। ऐसे विषय पर केन्द्रीय संसद एक वर्ष तक कानूनों का निर्माण कर सकती है और इस अवधि में व द्धि की भी जा सकती है।

राज्य विधानसभाओं की शक्ति और सम्मान का दिन-प्रतिदिन ह्रास होता जा रहा है। विधान सभाएं हाथ उठाने वालो की संभाए बनकर रह गयी हैं। अधिकतर राज्यों में विधानसभा के सत्र संवैधानिक आवश्यकता को पूरा करने के लिए बुलाए जाते है। विधानपरिषदों के रिक्त स्थान वर्षो से भरे नहीं जाते है। विधानसभाओं में वाद विवाद का स्तर लगातार गिरता जा रहा है। अधिकतर विधायक पार्टी नेताओ को खुश करने में अथवा सदन में हुड़दंग उत्पनन करने में लगे रहते है। विधायक सदन में बैठने और वाद-विवाद में भाग लेने की बजाय सदन के बाहर राजनीति करते रहते है। सदनों में उपस्थिति नगण्य रहती है। अधिकांश विधायक लोगों के काम निकलवाने, स्थानान्तरण करवाने, सिफारिश करने आदि 'मध्यस्थ' (दलाली) को भूमिका अदा करने में ज्यादा दिलचस्पी लेने लगे हैं। ऐसे विधायकों की संख्या भी बढ़ती जा रही है जिन पर किसी न किसी प्रकार के फौजदारी अपराध में लिप्त होने के कारण मुकदमें चल रहे हैं।

अध्याय-16
संघवादः प्रक ति तथा कार्यपद्धति
(Federalism : Nature and Working)

भारतीय संविधान निर्माता भारत के लिए एक संघीय राज्य की व्यवस्था चाहते थे। लेकिन वे इस बात से भी सहमत थे कि प्रत्येक इकाई सरकार को अपने विकास का पूर्ण अवशर मिलें। अतः उनका विचार था कि भारत एक ऐसा सघात्मक शासन होना चाहिए जिसमें केन्द्र शक्तिशाली हो।

यद्यपि हमारा संविधान संघ राज्य कि स्थापना करता है फिर भी 'संघ' शब्द के स्थान पर 'यूनियन' शब्द का प्रयोग किया गया है। डॉ॰ बी॰ आर॰ अम्बेडकर ने संविधान का प्रारूप संविधान सभा में प्रस्तुत करते हुए भारतीय गणराज्य को केवल सघात्मक राज्य की ही संज्ञा नहीं दी परन्तु कहा कि इसमें दो प्रकार की सरकारें होगी जिन्हें संविधान द्वारा प्रदत्त क्षेत्र में सार्वभौम शक्तियां प्राप्त होगी। उन्होंने अमरीका तथा भारतीय संघ कि तुलना करते हुए कहा था कि अमरीका में केन्द्र तथा राज्यों के बीच ढीलाढाला सम्बन्ध है जबकि भारत एक ऐसा संघ है जिसमें कोई भी राज्य अलग नही हो सकता और जिसके अन्तर्गत उन्हें कार्य करना ही हैं।

भारतीय संघ कि प्रक ति को भिन्न - भिन्न प्रकार से वर्णित किया गया है। के॰ सी॰ व्हीपर भारतीय संघ को अर्ध-संघ (Quasi-federation) कहा है। सर आईवर जैंनिगज ने कहा है कि ऐसा संघ राज्य नहीं जिसमें एकात्मक लक्षण सहायक लक्षण के रूप में दिए गए हो। यह तो एकात्मक राज्य है जिसमें संघात्मक लक्षण सहायक लक्षण के रूप में दिए गए है। यह तो ऐसा संघवाद है जिसमें मजबुत केंन्द्रीयकरण कि प्रव ति पायी जाती है। के॰ सन्थानम ने भारत के संघ को एक सूडों फड्सन (Pseudo federations) तथा एक सार्वभौम संघ (Paramovent federation) कहा है। प्रो॰ सी॰ एच॰ ऐलक्जेण्ड्रोविच (C.H. Allexandrowich) ने इसको ऐसा संघवाद कहा है जिसमें प्रभुता लम्बवत् विभन्न है। के॰पी॰ मुर्खजी ने तो यहाँ तक कहा है कि भारत को एक सघात्मक राज्य है ही नही। डी॰सी॰ बनर्जी का विचार है कि भारतीय संविधान का ढांचा संघीय है, किन्तु उसका झुकाव एकात्मकता की ओर है। डी॰डी॰ बसु का विचार है कि "भारत का संविधान न तो पूर्णरूप से एकात्मक है और न ही पूर्णरूप से संघात्मक, बल्कि दोनों का सम्मिश्रण है।" नारमन डी॰ पामर के अनुसार, 'भारतीय गणतन्त्र एक संघ है तथा उसकी अपनी विशेषताएँ है जिन्होंने संघीय स्वरूप को अपने ढंग से ढाला है।" प्रो॰ पायली के विचार है कि "भारत के संविधान का ढांचा संघात्मक है, किन्तु उसकी आत्मा एकात्मक है। डॉ॰ सुभाष काश्च का विचार है कि संविधान दोहरे शासनतंत्र की स्थापना करता है। सरकारों की दो श्रेणियां हैं- संघ की सरकार और अवयवी राज्यों की सरकारें संविधान ने संघ सरकार और राज्य सरकारों के बीच शक्तियों का वितरण किया है।. . . . संघवाद के इन बदिंरग लक्षणों के बावजूद भारतीय संविधान का प्रयत्न स्वर एकात्मकता का है।

ग्रेनविल ऑस्टिन (Granville Austin) ने कहा है कि भारत कि संविधान सभा वह पहली सभा थी जिसने शुरू में ही सरकारी संघवाद को धारणा को अपनाया। आर्सटिन के अनुसार प्रान्तिय सरकार बहुत हद तक केन्द्रीय नीतियों के लिए प्रशासकीय एजन्सियाँ हैं। उन्होंने ए॰च॰ बिर्च (A.H. Birch) को उद्य त किया है। जिन्होंने सहकारी सघवांद कि परिभाषा दी है जो इस प्रकार है : सामान्य तथा क्षेत्रिय सरकारों में प्रशासकीय सहयोग कि प्रथा, क्षेत्रिय सरकारों का सामान्य सरकार पर अदायगी के लिए अशतः निर्भरता और यह तथ्य कि सामान्य सरकारे शर्त वाले अनुदानों के प्रयोग से प्राय उन विषयों के विकास को बढ़ाती हैं जो संवैधानिक तौर से क्षेत्रों को सौपें गए हैं - सहकारी संघवाद कहलाता है।

ऑस्टिन का विचार है कि ए॰एच॰ बिर्च कि सहकारी संघवाद कि उपरालिखित परिभाषा भारत के लिए उचित प्रतीत होती है। हम भारतीय संघ कि प्रक ति के लिए इस परिभाषा से सहमत है लेकिन हमारे विचार में केन्द्र व प्रांतीय सरकारों में केवल प्रशासनिक सहयोग ही नही अपितु राजनीतिक सहयोग भी पाया जाता है।

प्रो॰ मैरिस जान्स का कहना है कि भारत में जो संघवाद है वह सौदेबाजी वाले संघवाद की धारणा का उदाहरण है। वे कहते है कि भारत में संघवाद 'सहकारी संघवाद' का रूप है जिसमें कि कड़ी प्रतियोगिता वाली सौदेबाजी शामिल है। उनके शब्दों में यहीं वास्तव में हमेशा से भारतीय संघवाद का स्वरूप रहा है। वे कहते है कि संविधान में अधिक महत्त्व सीमांकन पर दिया गया है जबकि वास्ताविकता में सहकारी सौदेबाजी के सम्बन्ध पाए जाते है। अपने विचारों के समर्थन में वे कानून प्रक्रिया का उदाहरण देते है। वे कहते है कि राज्य विधानमण्डलों द्वारा बिल के पास होने पर उसको राज्यपाल कि स्वीक ति के लिए भेजा जाता है जोकि बिल पर स्वीक ति देने से इन्कार कर सकता है, पुर्नविचार के लिए भेज सकता है अथवा राष्ट्रपति की सलाह के लिए सुरक्षित रख सकता है, विशेषकर ऐसे बिल जो सम्पति के अर्जन के उदेश्य से होते है उनको तो अवश्य ही राष्ट्रपति कि सलाह के लिए सुरक्षित रखता है। अभि समय के तौर पर राज्य अपने बिलों को पहले ही केन्द्र के पास भेज कर उनका परीक्षण एवं आलोचना जान लेती है ताकि जब सुरक्षित प्रक्रिया को अपनाया जाए तो वह केवल औपचारिक ही रहे। राज्य समवर्ती सूची से सम्बन्धित अधिकांश बिलों को इसी प्रकार केन्द्र के पास पहले ही भेजकर राय प्राप्त कर लेती है।

सहकारी सौदेबाजी का वे दूसरा उदाहरण प्रान्तिय सरकारों और केन्द्र के वित्तीय सम्बन्धों से देते है। उनका कहना है कि भारतीय संविधान में एक स्वतंत्र वित्त आयोग, कि स्थापना कि गई है जोकि प्रत्येक पांच वर्ष के लिए कार्य करता है। यही आयोग करों के वितरण तथा केनद्र से अनुदान के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है। लेकिन संविधान के अन्तर्गत अनुच्छेद 282 के मचिंग अनुदान (Matching grants) के काारण वित्त आयोग का महत्त्व घट गया है। ये अनुदानें संघीय नियोजन वित्त में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। अनुच्छेद 282 के अन्तर्गत इन मंचिग अनुदानों कि प्राप्ति के लिए केन्द्रीय सरकार एवं प्रान्तिय सरकारों में कड़ी प्रतियोगिता वाली सौदेबाजी जारी रहती है। मैंरिस जोन्स का कहना है कि यह भारत में सौदेबाजी वाले संघवाद के स्वरूप के वर्णन का एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण है। वास्तव में भारतीय संघवाद में दो विभिन्न प्रव तियो केन्द्र से हट जाने वाली (Centrifugal) एवं केन्द्र की ओर जाने वाली (Contripetal) शक्तियों में समन्वय पाया जाता हैं भारतीय संघवाद के स्वरूप का संविधान कि धाराओं से ही पता नहीं लगता परन्तु इन विभिन्न एवं सघंर्षरत शक्तियों से भी स्पष्ट होता है। संघवाद केवल केन्द्र और इकाइयों में मुख्यतः शक्तियों के विभाजन कि प्रक्रिया ही नहीं है। लेकिन इन शक्तियों का विभाजन राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक शक्तियों तथा प्रव तियों और अन्तिमरूप से वित्तीय विचारधारा से प्रभावित होता है, अगर यह निर्धारित नहीं होता तो।

कुछ आलोचकों का कहना हैं कि भारत में अत्याधिक केन्द्रीयकरण का भय है। यहां पर यह बता देना आवश्यक है कि केन्द्रीयकरण की प्रवति केवल भारत में ही नहीं पायी जाती परन्तु वास्तव में विश्व के सभी संघात्मक सरकारों में संघीय शक्तियों में व द्धि हुई है। इन आलोचकों के विपरीत दूसरे आलोचको का कहना है कि अन्य संघीय देशों कि तुलना में भारतीय संघवाद में केन्द्रीय सरकार के पास कम शक्तियां है और उनका कहना है कि केन्द्रीय सरकार को ओर अधिक शक्तियां देने कि आवश्यकता है। इनका कहना है कि सामाजिक द ष्टि से पिछड़े हुए एवं आर्थिक द ष्टि से पिछड़े हुए एवं आर्थिक द ष्टि से अविकासित देश के लिए तो इसकी महत्ता और भी बढ़ जाती है। यह विचार पाल एवलबी (Paul Apple by) का प्रस्तुत किया हुआ है। जिन्होंने भारतीय प्रशासन का विस्तार के साथ अध्ययन किया।

भारतीय संघवाद कि प्रमुख विशेषताएं
(Salient Features of India Federalism)

जो हमारा सहकारी संघवाद है उसकी प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित है। इन विशेषताओं से यह भी स्पष्ट हो जाता हैं कि भारत का संघवाद एक ऐसा है। जिसमें केन्द्र सरकार को स्पष्ट तौर पर शक्तिशाली माना गया हैं। संविधान में ही ऐसी व्यवस्था है कि केन्द्र शक्तिशाली हो।

1. परम्परागत तौर पर ऐसा विश्वास किया जाता रहा है कि किसी भी संघीय सरकार में निम्नलिखित तीन प्रमुख विशेषताएं आवश्यक हैं। ये प्रो॰ ए॰बी॰ डायसी की धारणा पर आधारित है
   (i). संविधान की सर्वोच्यता हो,
   (ii) संघ तथा इकाईयों में शक्तियों का विभाजन हो।

(iii) एक उच्चतम न्यायालय हो जो संविधान की व्याख्या कर सके और उस व्याख्या का अन्तिम माना जाए ये तीनों विशेषताएं भारतीय संविधान में पायी जाती है।

2) विश्व के अन्य संविधानों में, स्वतंत्र राज्यों को एक सामान्य केन्द्रीय सरकार में शामिल करने के लिए संघवाद को अपनाया गया। अतः नयी संघात्मक सरकार पर बल के साथ-साथ इकाई राज्यों कि ऐक्प (Indentity) और स्वतंत्रता बनाये रखने पर भी बल दिया गया। इस उदेश्य के लिए इन सघंवादों के संविधानों में बहुत सी धाराओं को शामिल किया गया। इसके विपरीत भारत में जिस प्रकार संघात्मक सरकार का निर्माण हुआ, ऐतिहासिक द ष्टि से उसकी प्रक्रिया भिन्न है। 1935 के अधिनियम से पहले ब्रिटिश भारत में स्वायत प्रान्त नही थे बल्कि यहां पर एकात्मक शासन प्रणाली थी। जब भारत में संघवाद को लागू किया गया तो इसका उदेश्य ब्रिटिश भारत को बहुत से स्वायत प्रान्तों में बटना था।

3. भारतीय संविधान के अर्न्तगत अनुच्छेद 3 में यह दिया गया है कि बिना संविधान संशोधन कि प्रक्रिया अपनाए प्रत्येक राज्य के क्षेत्रिय अधिकार को बदला जा सकता है।

4. संविधान में एकल नागरिकता (Single citizen ship) को दिया गया है।

5. एकल जुड़ी हुई न्यायिक प्राणाली है (Single integrated Judicial System)

6. संघ एंव राज्यों के लिए एकल संविधान है। (Single Constitution)

7. राज्यों के राज्यपाल राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किए जाते है। वे राष्ट्रपति की इच्छापर्यन्त पद पर बने रहते है।

8. उच्च न्यायालयों की नियुक्तियाँ राष्ट्रपति द्वारा की जाती है।

9. भारत के (The Comptroller and Auditors General of India.) कि नियुक्ति भारत के राष्ट्रपति द्वारा की जाती हैं उसका पद राज्यों और संघ सरकारों के हिसाब कि जांच करना है।

10. चुनाव आयोग राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया जाता है।

11. राष्ट्रपति संघ लोक सेवा आयोग के सदस्यों कि नियुक्ति करता हैं।

12. कुछ एक विधेयक राज्य विधानमण्डलों से पास होने के बाद राष्ट्रपति को स्वीक ति के लिए रखे जाते है। केवल राष्ट्रपति को स्वीक ति के बाद ही ऐसे विधेयक कानून बन सकते है।

13. संसद के उपरी सदन के प्रतिनिधित्व में समानता के सिद्धान्त को नहीं अपनाया गया है। प्रत्येक राज्य जनसंख्या को आधार माना है।

14. विश्व के सभी संघात्मक संविधानों में से भारतीय संविधान कम कठोर है तथा यह कुछ लचीला भी है।

व्यवहार में भारतीय संघवाद
(Indian Federalism in Working)

भारत की राजनीतिक परिस्थितियों के साथ संघवाद के स्वरूप में भी परिवर्तन आता रहा है। भारत की संघ व्यवस्था को राजनीतिक तत्त्वों के बदलते परिप्रेक्ष्य में निम्न लिखित चार प्रकार से चित्रित किया जा सकता है :

1. केन्द्रीक त संघवाद का युग
2. सहयोगी संघ वाद का युग
3. एकात्मक संघवाद का युग
4. सौदेबाजी वाली संघ व्यवस्था

1. केन्द्रीक त संघवाद का युग :

सन् 1950 से 1967 तक 'केन्द्रीक त संघवाद का युग' कहा जा सकता है। सन् 1950 से 1964 तक का भारतीय राजनीति युग 'नेहरू युग' कहलाता है। इस युग में केन्द्र त्याग राज्यों के सम्बन्ध मधुर बने रहे और उनमें उग्र मतभेद अभरकर

सामने नही आए। इस कारण व्यवहार मे कुछ ऐसे राजनीतिक तथ्य उभरे जिन्होंने भारत में केन्द्रीकरण की प्रव ति को पनपने में मदद दी। केन्द्र में नेहरू, पटेल जैसे नेता मौजूद थे। केन्द्र तथा राज्यों में काग्रेंस को एकछत्र शासन था, अतः मतभेदों को दल के संगठन स्तर पर ही हल कर लिया जाता था। नेहरू के व्यक्तित्व तथा नेत त्व-शांति का कोई राज्य विरोध करने तथा कोई नेता मतभेद उत्पन्न करने का साहस नही करता था। योजना आयोग तथा राष्ट्रीय विकास परिषद संघ तथा राज्यों के बीच तालमेल हेतु 'सुपर केबिनेट' के रूप मे कार्य कर रही थी और एक दल की प्रधानता के कारण इसके कार्यो को चुनौती नही दी जा सकती थी। इस काल में केन्द्रीकरण की सशक्त प्रव तियों के परिणामस्वरूप भारतीय संघवाद राजनीतिक समन्वय और आर्थिक विकास के दोहरे उदेश्यों की पूर्ति का साधन बना।

2. सहयोगी संघवाद का युग :

सतिलवाड के अनुसार " चतुर्थ आम चुनाव (1967) के पश्चात शक्ति का सन्तुलन राज्यों की ओर झुका। काग्रेंस का एकछत्र शासन समाप्त हुआ, केन्द्र में नेहरू जैसा व्यक्तित्व नहीं रहा और राष्ट्रीय विकास परिषद में अनेक दलों के मुख्यमंत्री अपनी केन्द्र विरोधी आवाज बुलन्द करने लगे। राज्यों में नेहरू के बाद मुख्यमंत्री शक्ति के केन्द्र बन गए और वे केन्द्र को प्रभावित करने लगे। काग्रेंस दल में विभाजन के (1969) पश्चात लोकसभा में शासक दल अल्पमत में आ गया जिससे केन्द्रीय नेत त्व को राज्यों की मांगे के आगे झुकना पड़ा।

1967 के चुनावों के पश्चात संघ व राज्यों के पारम्पारिक संवैधानिक सम्बन्धों के विषय में मतभेद काफी उग्र रूप से उत्पन्न हुए। अधिकतर राज्यों में गैर - काग्रेंसी दलों की सरकारें बनी। ये सरकारें संघ सरकार के नियन्त्रण में उसे सीमा तक नहीं रहना चाहती थी। जिस सीमा तक काग्रेंस दल की प्रार्दशिक सरकारें पहले रहती थी। प्रत्येक राज्य चाहता था कि केन्द्र द्वारा प्रस्तावित औद्योगिक संस्थानो को उसी के क्षेत्र में स्थापित किया जाए। भाषा के प्रश्न को लेकर सघर्ष उत्पन्न हुआ। केन्द्रीय रिर्जव पुलिस को लेकर मतभेद उत्पन्न हुए और राज्यपालों की नियुक्ति का प्रश्न भी विवाद का कारण बन गया।

केन्द्र और राज्यों के बीच विवादों के उपरान्त भी सहयोग बना रहा और 'सहयोगी संघवाद' के युग का सूत्रपात हुआ। सहयोगी संघवाद का प्रमुख लक्षण केन्द्र और राज्यों की सरकारों की एक-दूसरे पर निर्भरता है। इस व्यवस्था मे केन्द्रीय सरकार शक्तिशाली तो होती है, किंतु राज्य सरकारें भी अपने क्षेत्र में कमजोर नहीं होती। चौथे आम चुनाव के बाद प्रधानमंत्री श्रीमति इन्दिरा गांधी को मद्रास के श्री अन्नादुराई, उड़ीसा के आ॰एन॰, सिंहदेव, उत्तर प्रदेश के चरण सिंह तथा पंजाब के गुमनाम सिंह जैसे गैर-काग्रेंसी मुख्यमन्त्रियों का विश्वास प्राप्त करने में सफलता मिली। यहां तक कि अक्सर ये मुख्यमंत्री अपनी कठिनाइयों में तथा अपने साझीदारों में मतभेद पैदा होने पर उनसे सलाह लेते थे।

3. एकात्मक संघवाद का युग :

सन् 1971 के पांचवें लोकसभा के चुनाव तथा 1972 के राज्य विधानमण्डलों के चुनावों और जनवरी 1980 के लोकसभा एवं बाद के विधानसभा चुनावों से दो तथा उभरे प्रथम भारतीय राजनीति में श्रीमति गांधी और संजय गाधी ही सर्वमान्य नेता है तथा द्वितीय काग्रेंस दल ही जनता का नेत त्व कर सकता है। इससे शक्ति का सन्तुलन केन्द्र की ओर झुक गया जिस द्रुतगति से संविधान में संशोधन किए गए उससे तो ऐसा प्रतीत होने लगा कि भारत एकात्मकता की ओर उन्मुख हो रहा है। जून 1975 से मार्च 1977 तक तो भारतीय राज्य एकात्मक राज्य में परिवर्तित कर दिया गया था। समूची शक्तियां केन्द्रीय सरकार के हाथों में आ गई। राज्यों के मुख्यमंत्रियों की स्थिति केन्द्रीय सरकार के हाथों में आ गई। राज्यों के मुख्यमंत्रियों की स्थिति केन्द्रीय सरकार के सूबेदार जैसी हो गई। आपातकाल के दौरान मुख्यमन्त्रियों का एक पैर अपने राज्य में रहता था तथा दूसरा दिल्ली में 1 जनवरी 1980 के लोकसभा चुनावों के बाद केन्द्रीय सरकार ने नौ राज्यों की गैर-काग्रेंसी विधान सभाओं को भंग कर दिया। ऐसा लगने लगा कि देश पुनः एक दल प्रधान व्यवस्था की और उन्मुख हो रहा है।

4. सौदेबाजी वाली संघ व्यवस्था :

छठे आम चुनावों के परिणामों से भारतीय राजनीति में आमूलचूल परिवर्तन आया। केन्द्र में जनता पार्टी की सरकार स्थापित हुई और राज्यों में विविध दलों की सरकारों की स्थापना हुई। उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश, उड़ीसा, दिल्ली, राजस्थान, हरियाणा व हिमाचल प्रदेश में जनता पार्टी सत्ता में आई। पंजाब में जनता व अकाली दल, पश्चिमी बंगाल में माकर्सवादी दल, तमिलनाडु व पाण्डिचेरी में अन्नाद्रमुक, कश्मीर में नेशनल कान्फ्रेंस, केरल में साम्यवादी दल के नेत त्व वाला मोर्चा, कर्नाटक और आन्ध्रप्रदेश में काग्रेंसी सरकारें पदासीन थी। केन्द्र की जनता सरकार एक दुर्बल सरकार थी क्योंकि यह विभिन्न घटकों से बनी एक मिली-जुली सरकार के समतुल्य थी। अतः राज्यों की सरकारों ने सौदेबाजी करने का अनवरत यत्न किया। यहां तक कि शांतिमय गैर-जनता राज्य सरकारों ने 'राज्य-स्वायत्तता' का नारा बुलन्द किया। वित्तीय स्त्रोतों के वितरण को लेकर पश्चिम बंगाल की मार्क्सवादी सरकार ने सदैव केन्द्रीय सरकार से दबाव एवं सौदेबाजी की भाषा में बातचीत करने का प्रयत्न किया।

1989-1999 के चुनावों से यह इंगित होता है कि भारत में संघ व्यवस्था का 'सौदेबाजी वाला प्रतिमान' ही कार्यरत है। विश्वनाथ प्रतापसिंह (1989), चन्द्रशेखर (1990) पी॰वी॰ नरंसिंहराव (1991) श्री एच॰डी॰ देवेगौडा (1996) तथा श्री इन्द्रकुमार गुजरात के नेत त्व में बनने वाली सभी केन्द्रीय सरकारों अल्पमतीय सरकारें थी जिन्हें सत्ता में बने रहने के लिए उन दलों का सहारा लेना पड़ा जो राज्यों में शक्ति के पुंज है। अनेक राज्यों में क्षेत्रीय दलों की सरकारें सतारूढ़ है। जिनके कन्धों पर केन्द्रीस सरकार टिकी हुई थी और अनेक मसलों पर वे केन्द्र से सौदेबाजी करने से नहीं हिचकिचाती, फरवरी 1998 के लोक सभा चुनावों में किसी भी गठबंधन को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नही हुआ और भाजपा नेता अटल बिहारी वाजपेयी द्वारा केन्द्र सरकार बनाने के दावे को उस समय बड़ा धक्का लगा जब अन्नाद्रमुक नेता जयललिता ने अपने समर्थन की कीमत वसूलने के लिए शंतिमय शर्ते रखी जैसे : कावेरी ट्राइव्यूनल के फैसले पर अमल, सभी नदियों का राष्ट्रीयकरण, 69 प्रतिशत आरक्षण को संवैधानिक संरक्षण, राज्यों को आरक्षण का कोटा अपनी जरूरत के हिसाब से तय करने का अधिकार महिलाओं के लिए 33 प्रतिशत आरक्षण और आठंवी अनुसूची की सभी भाषाओं को राज्यभाषा का दर्जा देना, बीजू जनता दल ने उड़ीसा को विशेष दर्जा प्रान्त राज्य घोषित करने की मांग की। 1999 के चुनाव के बाद श्री अटल बिहारी वाजपयी फिर से प्रधानमंत्री बने। इस सरकार में चूंकि अनेक सदस्य ऐसे हैं जो अन्य दलों से सम्बन्ध रखते हैं, जिनकी अपने राज्यों में सरकार हैं संघीय सरकार द्वारा क्षेत्रीय दलों के दबाव में रहना स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक क्षेत्रीय दल केन्द्रीय सरकार को समर्थन देने के बदले में अपने क्षेत्र (राज्य) के लिए विशेष रियायते की मांग कर रहा है।

अध्याय-17
भारत में राज्य स्वायत्तता की मांग
(Demand for State Autonomy in India)

भारत में केन्द्र और राज्यों के बीच शाक्तियों का वितरण आरम्भ से ही वाद-विवाद का विषय रहा है। संविधान द्वारा केन्द्र सरकार को विस्त त शाक्तियां प्रदान की गई है और राज्यों को निस्सेदंह कम शक्तिशाली बनाया गया है। संविधान लागू होने के बाद से 1967 के चौथे आम चुनाव तक भारत में केन्द्र और राज्य सरकारों के बीच मैंत्रीपूर्ण सम्बन्ध रहे और उनके बीच कोई विशेष संवैधानिक गतिरोध पैदा नही हुआ। जिसका मुख्य कारण केन्द्र और अधिकांश राज्यों में एक ही राजनीतिक दल (काग्रेंस दल) का सत्तारूढ़ होना था। सन् 1967 के आम चुनावों में एक दलीय आधिपत्य का अन्त कर दिया और भारतीय संघ के आठ घटक राज्यों में काग्रेंस दल को बहुमत प्राप्त न हो सका। फलस्वरूप इन राज्यों में गैर-काग्रेंसी मिली-जुली सरकारों का निर्माण हुआ जिसके बाद केन्द्र और राज्यों के बीच शक्त्यिों के वितरण और सांमजस्य की समस्या उत्पन्न हुई। राज्य सरकारों की ओर से सवायत्तता की मांग की गई और यह मांग तमिलनाडु में अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई जहां डी॰एम॰के॰ (द्रविड़ युनेज कड़गम) जैसे प्रादेशिक दल ने भारतीय संघ से प्रथक होने की धमकी दी और यह नारा दिया कि भारत भारतवालों के लिए और तमिलनाडु तमिल लोगों के लिए।

1977 के लोकसभा एवं राज्य विधानसभाओं के चुनाव का विलिक्षण परिणाम रहा है। केन्द्र में सत्तारूढ़ पार्टी से भिन्नता रखने वाली पार्टियों का राज्य में उदय। फलस्वरूप केन्द्र-राज्य सम्बन्ध पर नए सिरे से बहस महत्वपूर्ण हो गई। राज्यों में शासन करने वाली पार्टियों केन्द्र से और अधिक स्वतंत्र होने की मांग करने लगी। राज्यों की केन्द्र पर अत्याधिक वित्तीय निर्भरता की स्थिति ने एक बड़ी सीमा तक सत्ता के केन्द्रीकरण की प्रव ति को बढ़ाय; अतः केन्द्र पर राज्यों की वित्तीय निर्भरता दूर करने के लिए पश्चिमी बंगाल की धर्मपन्थी सरकार ने मांग की कि केन्द्र के राजनीतिक और आर्थिक अधिकारों में कमी करके राज्यों को अधिक से अधिक स्वायत्तता प्रदान की जाए।

राज्यों की स्वायत्तता का अर्थ :-
(Meaning of State Autonomy)

भारतीय संघ में राज्यों की स्वायत्तता से अभिप्राय है कि राज्यों के आन्तरिक मामलों में केन्द्रीय सरकार की दखलन्दाजी कम हो तथा संविधान द्वारा प्रदत विषयों पर उन्हें निरपेक्ष सत्ता प्रयोग करने का अधिकार हो। राज्यों को अपने कार्यक्षेत्र में पूर्ण स्वायत बनाया जाए ताकि वे जनकल्याण के कार्यो को अपनी योजनाओं और विचारों के अनुसार स्वतन्त्र और निबोर्ध रूप से कर सकें। यह स्वायत्तता वित्तीय क्षेत्र में लगभग पूरी हो। केन्द्र की राजनीतिक और प्रशासनिक शक्त्तियां भी न्यून्तम रहें। उसका कार्य विदेश सम्बन्ध, रक्षा, मुद्रा और जनसंचार के विषयों तक सीमित और संकुचित कर दिया जाए। उसकी कराधान की शक्ति मात्र इतनी हो जिससे वह इन कार्यो के लिए पर्याप्त साधन जुटा सकने में समर्थ हो। केन्द्र को मजबूत रखते हुए भी राज्यों को इतनी वित्तीय शक्ति प्रदान की जाए जिससे वे साधनों के अभाव में अपने को असहाय और अप्रभावशाली महसूस न करें।

राज्यों की स्वयत्तता का अर्थ न तो राज्यों की स्वतंत्रता से है और न सम्प्रभुता से। यह एक ऐसा वैधानिक दर्जा हैं जिसमें राज्यों को व्यक्तिमय निदिर्ष्ट क्षेत्रों में पूर्ण स्वतंत्रता तथा कम से कम केन्द्रीय हस्तक्षेप का आश्वासन प्राप्त होता है। राज्यों को अपने एक निश्चित क्षेत्र में स्वतंत्रतापूर्वक कार्य करने का अधिकार ही स्वायत्तता है।

राज्य स्वायत्तता की मांग
(Demand for State Autonomy)

केन्द्र-राज्य सम्बन्धों को सुचारू रूप से चलाने के लिए आवश्यक सहयोग व सहमति का आधार संविधान में मौजूद है। लेकिन पिछले दशकों के दौरान यह आधार कमजोर हुआ है। इसकी जगह 'टकराव' की राजनीति ने ले ली है। राज्य अपने आपको स्वायत्तता से वंचित पाते हैं जबकि संविधान में राज्यों को काफी स्वायत्तता दी गयी है। दुर्भाग्य की बात यह है कि केन्द्र में सत्ता परिवर्तन के बावजूद भी केन्द्रीकरण की प्रव ति कम नही हुई है। इसलिए राज्यों ने अधिकारों के उचित बंटवारे की भाग जोरदार ढंग से उठाई है। 1967 के आम चुनावों में आठ राज्यों में काग्रंस की पराजय के बाद राज्यपालों की विवादास्पद भूमिका के परिवेश मे केन्द्र-राज्य सम्बन्धों की आलोचना की गयी। चौतरफा आलोचना का असर यह हुआ कि 1967 में केन्द्र सरकार ने जब प्रशासनिक सुधार आयोग का गठन किया तो इसे केन्द्र व राज्यों के बीच प्रशासनिक सम्बन्धो की पड़ताल का काम भी सौपा। आयोग ने यह सुझाव दिया कि राज्यो को अधिक अधिकार दिये जाए। आयोग का मानना था कि केन्द्रीय नियोजन प्रक्रिया ने राज्यों द्वारा अपनी नीतियों व कार्यक्रमों के क्रियान्वयन मे अत्याधिक हस्तक्षेप किया है। राज्यपाल के पद के बारे में भी आयोग ने सुझाव दिये और संविधान की धारा 263 के अन्तर्गत एक अंतरराष्ट्रीय परिषद की सिफारिशे की लेकिन आयोग की सिफारिश फाइलों में धूल चाटती रही और केन्द्रीकरण की प्रक्रिया और मजबूत होती चली गयी।

1969 में तामिलनाडू सरकार ने केन्द्र-राज्य सम्बन्धों की पड़ताल करने के लिए राजमन्नार समिति का गठन किया। समिति ने 1971 में अपनी रिर्पोट पेश की। समिति में सिफारिश की कि संविधान की आठवीं अनुसूचि में संशोधन कर, अवशिष्ट अधिकार राज्यों को सौंप दिए जाए। धारा 249 को समाप्त कर दिया जाए और वित्त आयोग व योजना आयोग की सरंचना में बदलाव किया जाए।

दिसम्बर, 1977 में पश्चिम बंगाल सरकार ने केन्द्र राज्य सम्बन्धों पर एक ज्ञापन प्रकाशित करवाया। इस ज्ञापन में कहा गया कि जाति, धर्म व संस्क ति विविधताओं वाले देश भारत में स्वैच्छिक प्रयासों से ही राष्ट्रीय एकता कायम रखी जा सकती है। विखंडनकारी प्रव तियों पर रोक लगाने के लिए राज्यों को अधिकार दे कर विकेंद्रीकरण करना आवश्यक है। संविधान की प्रस्तावना में 'यूनियन' हटाकर 'फेटरत्न' शब्द का उल्लेख करने की मांग की गयी। इस ज्ञापन में संविधान की धारा 356, 357 व 360 को समाप्त करने का सुझाव भी दिया गया। यह मांग भी की गयी कि नये राज्यों के गठन और राज्यों का क्षेत्र, सीमा या नाम में परिवर्तन के लिए राज्यों की सहमति लेने को अनिवार्य बनाया गया।

इसके बाद अकाली दल ने 1978 में आनंदपुर साहिब प्रस्ताव का संशोधित संस्करण जारी किया। इस प्रस्ताव में राज्यों के लिए और स्वायत्तता की मांग की गयी और केन्द्र के अधिकारों को न्युनतम करने का सुझााव दिया गया। इस प्रस्ताव के अनुसार केन्द्र सरकार के अधिकार : रक्षा, विदेश मामले, संचार, रेलवे व मुद्रा तक सीमित रहने चाहिए और अवशिष्ट अधिकारों राज्यों को हस्तांतरित कर दिए जाने चाहिए।

1980 के दशक में अनेक विपक्षी पार्टियों का स्वरूप लगभग क्षेत्रीय हो गया है। इसलिए राज्यों की स्वायत्तता की मांग और जोर पकड़ने लगी है। विजयवाड़ा, दिल्ली व श्री नगर में आयोजित सम्मेलनों में फारूक अब्दुल्ला एम करूणानिधि, सुरजीत सिंह बरनाला, रामक ष्ण हेगडे, एन॰टी॰ रामाराव और प्रफुल्ल कुमार मंहत सरीखे प्रमुख विपक्षी नेताओं ने बढ़ चढ़कर हिस्सा लिया। इसके अतिरिक्त राज्यों की स्वायत्तता की मांग के समर्थन में कई गोष्ठियों का भी आयोजन किया गया। विपक्षी पार्टीयों के विजयवाड़ा सम्मेलन में राज्यों के अधिकारों में हस्ताक्षेप करने की केन्द्र सरकार की नीतियों की जमकर आलोचना की गयी। अक्तूबर 1983 में श्रीनगर में आयोजित तीन दिवसीय सम्मेलन में जनता से आह्वान किया गया कि अधिकारों के केन्द्रीकरण व संविधान में विक तियों के कारण राष्ट्रीय एकता पर मंडरा रहे खतरों से देश को बचाने के लिए आगे आए। इस सम्मेलन में आप सहमति से बयान जारी किया गया कि केन्द्र-राज्य सम्बन्धों की समीक्षा की जाए। केन्द्रीकरण की प्रव ति से संविधान के संकीय ढांचे की रक्षा की जाए और आर्थिक व वित्तीय प्रशासन के कंद्रीकरित ढांचे में बदलाव लाया जाए। केनद्र व राज्यों के बीच तनाव व विवादों को समाप्त करने के लिए यह जरूरी है कि राज्यों के मामलों मे केन्द्र की मनमानी को रोका जाए। इस सम्मेलन में संविधान की धारा 356 में संशोधन करने की मांग की गई। संवैधानिक संकट उत्पन्न होने पर छह महीने के

भीतर चुनाव करवाने की मांग भी इस सम्मेलन में उठी।

अधिकारों के विकेंद्रीकरण व राज्यों की स्वायत्तता के समथर्को का मानना है कि राष्ट्रीय एकता को अक्षुण रखने और राष्ट्रीय एकता की ताकतों को मजबूत बनाने के लिए देश की विविधताओं को स्वीकार करते हुए इन्हें स्थानीय स्तर पर सुरक्षित करने की कोशिशों को बढ़ावा दिया जाना चाहिए। इन विविधताओं से निपटने के लिए केन्द्रीय स्तर पर की गयी कोशिशों से केन्द्र- राज्य सम्बन्धों में तनाव और बढ़ेगा। दूसरी तरफ, केन्द्र के अधिकारों को मजबूती प्रदान करने के पक्षधरों का तर्क है कि राष्ट्रीय शक्तियों को बढावा देकर ही राष्ट्रीय एकता की रक्षा की जा सकती है। मजबूत केन्द्र के समथकों का मानना है कि केन्द्र को कमजोर करने का कोई भी प्रयास अतंतः भारत को सोवियत संघ की राह पर धकेल देगा। इस द ष्टिकोण के अनुसार राष्ट्रीय एकता को मजबूत करने में सिर्फ केन्द्र ही सक्षम है और क्षेत्रीय ताकतों को बढ़ावा देने से विखंड़नकारी शक्तियों को बल मिलेगा। लेकिन भारत व विश्व के अन्य देशों का अनुभव बताता है कि अधिकारों के केन्द्रियकरण के कारण विंखडनकारी शक्तियों को बढ़ावा मिलता हैं जबकि विकेंद्रकारण के फलस्वरूप जनता की उम्मीदें को पूरा करने का अवसर पैदा होता है।

सरकारिया अयोग
(Srkaria Commission)

जब केन्द्र-राज्यों के सम्बन्धों में तनाव बढ़ने लगे तो स्थिति पर काबू पाने के उपायों पर चर्चा शुरू हुई। इसी संदर्भ में केन्द्र सरकार ने 24 मार्च 1983 को एक आयोग के गठन की घोषणा की। इस आयोग को केन्द्र व राज्यों के बीच मौजूदा व्यवस्था की समीक्षा करने और इसमें वांछित बदलाव के लिए सिफारिशें देने का काम सौंपा गया। अवकाश प्राप्त न्यायमूर्ति आर॰एस॰ सरकारिया इस आयोग के अध्यक्ष नियुक्त किये गए। केन्द्र-राज्य सम्बन्धों पर सुझाव देते समय आयोग को सामाजिक व आर्थिक विकास, संविधान की संरचना और राष्ट्रीय एकता व अखंडता का ध्यान रखने को कहा गया आयोग ने 27 अक्तूबर 1987 को अपनी रिपोर्ट पेश की।

सरकारिया आयोग का यह मानना था कि मौजूदा संवैधानिक ढांचा दुरूस्त है। आवश्यकता इस बात की है कि सामूहिक निर्णय प्रक्रिया को बढावा देने के उपाय किए जाए। आयोग ने इस सम्बन्ध में 265 सिफारिशें दी हैं। इसकी प्रमुख सिफारिशें इस प्रकार है :

1. संविधान की धारा 258, जिसमें केन्द्र को यही अधिकार है कि वह राज्यों को अधिकार सौपें, का पहले के मुकाबले अधिक उदारता के साथ उपयोग किया जाए।
2. अखिल भारतीय सेवाओं को विघटित करने की कोई भी कोशिश या राज्यों को इस व्यवस्था से बाहर रखने का अधिकार देने से देश पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। अखिल भारतीय सेवाओं को और मजबूत किया जाना चाहिए।
3. जब केन्द्र सरकार समवर्ती सूची के तहत कोई कानून बनाने का प्रस्ताव लाये, तो इससे पूर्व वह सभी राज्यों से अलग -अलग तथा सामूहिक रूप से सलाह मशविरा करे।
4. योजना आयोग व राष्ट्रीय विकास परिषद् में सुधार किया जाए और यह सुनिश्चित किया जाए कि नियोजन प्रक्रिया में राज्यों से सलाह-मशविरा हो ताकि राज्यों को इस प्रक्रिया में अपनी बराबर कॊ भागीदारी का अहसास हो।
5. राज्य सरकार के अनुरोध के बैगर अगर केन्द्र सरकार किसी राज्य में अपने सुरक्षा बलों को तैनात करती है या राज्य के किसी क्षेत्र को 'गड़बड़ी वाला' घोषित करती है तो इससे पूर्व राज्यों से सलाह-मशिवरा किया जाए। हांलाकि इस मामले में कार्यवाही करने से पहले राज्यों से सलाह करना केन्द्र के लिए अनिवार्य नहीं लेकिन इस सदर्भ में राज्यों का सहयोग हासिल करने की कोशिश की जानी चाहिए।
6. अपना पद छोड़ने के बाद राज्यपाल को केन्द्र या राज्य सरकार से लाभ का कोई पद नही दिया जाना चाहिए।
7. राष्ट्रपति की मंजूरी के लिए आरक्षित राज्य सरकारों के विधेयकों पर चार माह के भीतर निर्णय कर दिया जाना चाहिए।

8. धारा 356 का इस्तेमाल केवल विशेष परिस्थितियों में, जब सभी विकल्प विफल हो जाए, किया जाना चाहिए।
9. हाईकोट के जजों को तबदली उनकी मर्जी से ही करने की स्वस्थ परम्परा का निर्वाह किया जाए। किसी जज के तबादले पर अपनी राय बनाने से पहले भारत के मुख्य न्यायाधीश को उच्चतम न्यायालय के दो वरिष्ठ जजों से परामर्श कर लेना चाहिए।
10. भोजना आयोग केन्द्रीय सहायता प्राप्त स्कीमों की समय-समय पर समीक्षा करें और यह समीक्षा राष्ट्रीय विकास परिषद के विचारर्थ पेश की जाए।
11. कर व्यवस्था में सुधारों पर सुझाव देने के लिए केन्द्र एक विशेषज्ञ समिति का गठन करे। इस समिति में राज्यों के प्रतिनिधियों को शामिल किया जाए।
12. राष्ट्रीय विकास परिषद् का पुनगर्ठन कर इसका नाम राष्ट्रीय आर्थिक विकास परिषद कर दिया जाए।
13. राज्यों से सलाह मशिवरा कर धारा 269 के अन्तर्गत लगाए जाने वाले करों व भुलकों की व्यवस्था की समीक्षा करने के लिए एक विशेषज्ञ समिति का गठन किया जाए।
14. किसी राज्य के लिए राज्यपाल की नियुक्ति के सम्बन्ध में उस राज्य के मुख्यमंत्री से विचार-विमर्श सुनिश्चित करने के लिए धारा 155 में संशोधन के द्वारा यह व्यवस्था की जाए।
15. करों के सम्बन्ध के अवशिष्ट अधिकार संसद के पास रहने दिया जाए और करों के इलावा शेष अवशिष्ट अधिकारों को समवर्ती सूची में शामिल कर दिया जाए।
16. धारा 356 के अन्तर्गत राष्ट्रपति शासन को जारी रखने के मामले की समीक्षा करने का अधिकार संसद को देने के लिए इस धारा में ही इस आशय के उपायों को शामिल किया जाए।
17. संविधान में उचित संशोधन कर, करपोरेट टैक्स में राज्यों को हिस्सा देने की व्यवस्था की जा सकती है।
18. उत्तर-राज्यीय नदी जल विवाद अधिनियम मे संशोधन कर केन्द्र सरकार के लिए एक अनिार्य बनाया जाए कि इस सम्बन्ध में राजयों के आवेदन आने के एक साल के भीतर ट्रिब्यूनल का गठन करे।

केन्द्र-राज्य सम्बन्धों में विचार विमर्श, सहयोग व भागीदारी को बढ़ावा देने के लिए सरकारिया आयोग ने संविधान की धारा 263 के अन्तर्गत एक स्थायी अंतर-राज्यीय परिषद् के गठन का सुझााव दिया।

राज्य स्वायत्तता के समर्थन में तर्क
(Argumants in favour of State Autonomy)

राज्यों के समर्थन में निम्नलिखित तर्क दिए जाते है :

1. स्वायत्तता स्वतंत्रता नही है और स्वायत्तता की मांग संघीय ढांचे में की जा रही है। अतः इससे विघटन का खतरा नहीं है।
2. राज्यों के कार्य दिन प्रतिदिन बढ़ते जा रहे है। आर्थिक नियोजन और ग्रामीण विकास सम्बन्धी बढ़ते हुए कार्यो को देखते हुए उन्हें वित्तीय साधनों की द ष्टि से केन्द्र का मोहताज बनाए रखना ठीक नहीं। आप के प्रथक वित्तीय साधन होने से विकास सम्बन्धी कार्य व दायित्वों के निर्वाह में अधिक सुविध होगी।
3. केन्द्र और राज्यों में प थक-प थक राजनीतिक दलों की सरकारें होना स्वाभाविक हैं, किन्तु यह देखा गया है कि राज्यों को अनुदान देते समय केन्द्रीय सरकार सौतेला व्यवहार करती है। वह उन राज्यों के साथ सौम्य व्यवहार करती है जहां उससे मेलजोल रखने वाली सरकारें है और उन राज्यों के साथा कठोर रूख अपनाती है जहां उसकी विचारधारा से भिन्नता रखने वाली राज्य सरकार है। राज्य स्वायत्तता से यह दोहरा मापदण्ड समाप्त हो जाऐगा।
4. राज्य स्वायत्तता से भारत में सच्ची संघात्मक व्यवस्था की स्थापना हो सकेगी।
5. राज्य स्वायत्तता से राज्यों में उत्तरदायित्व की भावना विकसित होगी।

राज्य स्वायत्तता के विपक्ष में तर्क
(Arguments Against State Autonomy)

केन्द्रीय सरकार की द ष्टि से राज्य स्वायत्तता की अवधारणा से संघ व्यवस्था दुर्बल होगी और राष्ट्रीय एकता की द ष्टि से खतरनाक परिणाम होगें इसके विपक्ष में निम्नलिखित तर्क दिए जाते है।

1. कुल मिलाकर देश की सुद ढ़ता ही राज्यों की स्वायत्तता की सर्वोतम गारण्टी है क्योंकि किसी प्रकार वह मजबूती समाप्त हो जाए तो न भारतीय संघ की प्रभुसता रहेगी और न ही राज्यों की स्वायत्तता रह सकेगी।
2. राजमनार समिति के सुझाव तो संविधान की आत्मा को ही बदलने वाले खतरनाक विचार है। समिति का प्रतिबेदन क्षेत्रीयता को बढ़ाने वाला और राष्ट्रीय एकता को क्षति पहुँचाने वाला है।
3. राज भारतीय संघ के घटक राज्य स्वायत्तता की मांग कर रहे है और स्वायत्तता के बाद उनकी अगली मांग स्वयत्तता और प्रभुसता हो सकती है। प्रार्दशिक दलों द्वारा शासित राज्य सरकारों की स्वायत्तता की मांग के पीछे कही विदेशी ताकतों का हाथ तो नहीं जो भारत को खण्डित करना चाहती है।
4. राज्यों को और अधिक स्वायत्तता देने से राज्यों में छोटी-छोटी तानाशाहियां स्थापित हो जाएगी। राज्य के भीतर निर्णय और कार्य की शक्ति मुख्यमंत्रियों के हाथों में घनीभूत हो जाऐगी, साम्राज्य निर्माण की प्रव ति बढ़ेगी और देश का सन्तुलन लड़खडा जाएगा।
5. क्षेत्रीय दलों और उनके नेताओं द्वारा राज्यों की स्वायत्तता की मांग एक सुनियोजित और गम्भीर राजनीतिक चाल है, जिसके द्वारा कुछ तत्व अपने न्यस्त राजनीतिक स्वार्थो की पूर्ति करना चाहते है।

निष्कर्ष :

कमजोर केन्द्र बिखराव को प्रोत्साहित करता है तथा दूसरी और कमजोर राज्यों के कारण केन्द्र में तानाशाही प्रव तियों के उभरने का खतरा भी है। आपातकाल का अनुभव इसका ताजा उदाहरण है जबकि राज्यों की आज्ञाकारी शिशुओं से बदतर बना दिया गया और केन्द्र द्वारा संवैधानिक शक्तियो के अपहरण पर राज्य सरकारें चूं तक नहीं कर सकी। अतः केन्द्र और राज्यों के बीच सम्बन्धों की एक सन्तुलनकारी स्थिति को अपनाए जाने की आवश्यकता है।

राज्यो की वित्तीय दुर्दशा ऐसी है कि राज्य सरकारें अपने बलबूते पर कोई योजना चालू नही कर सकती और अकाल, सूखा व बाढ़ जैसे प्राक तिक प्रकोपों का सामना करने के लिए केन्द्र से अनुभव विनय करती है। हर छोटे काम के लिए मुख्यमंत्रियों को बार-बार दिल्ली दरबार में हाजिरी देनी पड़ती हैं राज्य विधानसभा द्वारा पारित प्रस्ताव राष्ट्रपति की स्वीक ति की प्रतिक्षा में पड़े रहते है।

राष्ट्रीय एकता व सुरक्षा की द ष्टि से केन्द्र के सशक्त हाने की आवश्यकता निर्विवाद है तो जनहितकारी कार्यो के विस्तार तथा सेवाओं को क्षमतावान बनाने के लिए राज्यों की अधिकारिता भी तर्कसंगत ठहरती है। अतः राज्यों की स्वायत्तता एवं उनके शासनाधिकार के विस्तार का प्रश्न चतुपरक कसौटी पर जांचा व परखा जाए। इस प्रश्न पर विचार करते समय देश की स्थिति अब तक का अनुभव एवं देशवासियो की आकांक्षा व अवाश्यकताओं को आधार बनाया जाना चाहिए। भारत की संघात्मक व्यवस्था और केन्द्र-राज्य सम्बन्धों का सर्वाधिक प्रमुख तथ्य यह है कि राज्यों को सशत्य बनाने का अर्थ केन्द्र को अशक्त बनाना नहीं है और केन्द्र राज्य सम्बन्धों की कोई ऐसी समस्या नहीं है जो संविधान के वर्तमान ढांचे में हल न की जा सके।

अध्याय-18
केन्द्र-राज्य सम्बन्ध
(Centre-State Relations)

संघीय संविधान, राष्ट्रीय प्रभुता तथा राज्य प्रभुता के दावों के बीच, जो कि उपरी द ष्टि से विरोधी जान पड़ती है, सामजस्य पैदा करने का प्रयत्न करता है। संविधान के अन्तरंग में ही कुछ ऐसे उपबन्ध होते है जो सामंजस्य के तोर-तरीकों पर प्रकाश डालते हैं। केन्द्र एवं राज्य सरकारों के बीच सांमजस्यपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना करने वाली संघ प्रणाली को 'सहयोगी संघवाद' की संज्ञा दी जाती हैं इस व्यवस्थ में संघीय सरकार शक्तिशाली तो होती है, किन्तु राज्य सरकारें भी अपने क्षेत्र मे कमजोर नही होती, साथ ही दोनों ही सरकारों की एक-दूसरे पर निर्भरता इस व्यवस्था का मुख्य लक्षण होता है। संघवाद का बुनियादी तत्व है शक्तियों का विभाजन। सहयोगी संघवाद में शक्तियों के विभाजन के उपरान्त भी केन्द्र एवं राज्यों के बीच अन्तः क्षेत्रीय सहयोग पर बल दिया जाता है। यह सहयोग केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों के बीच ही नहीं अपितु विभिन्न राज्य सरकारों एवं असंख्या राजनीतिक सरंचनाओं के मध्य भी दिखलाई देता ह।

वस्तुतः कोई भी संघीय शासन प्रणाली वाला देश आज यह दावा नहीं कर सकता कि वह केन्द्र-राज्य मतभेदों की समस्या से पूर्णतया उन्मुक्त है। यथार्थ में संघ व्यवस्था जिसका आधार परम्परा सांमजस्यपूर्ण हिस्सेदारी की भावना है, को तनावों का संस्थाकरण (Institutionalised tensires) करने वाली व्यवस्था भी कहा जाता है।

भारत के संविधान में केन्द्र तथा राज्यों के बीच शक्तियों के वितरण की एक निश्चित सुस्पष्ट योजना अपनाई है। संविधान के आधार पर संघ तथा राज्यों के सम्बन्धों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है।

1. केन्द्र तथा राज्यों के विधायी सम्बन्ध
2. केन्द्र तथा राज्यों के प्रशासनिक सम्बन्ध
3. केन्द्र तथा राज्यों के वित्तीय सम्बन्ध

केन्द्र-राज्य विधायी सम्बन्ध :
(Centre-State Legistative Relations) :

संघ व राज्यों के विधायी सम्बन्धों का सचालंन उन तीन सूचियों के आधार पर होता है। जिन्हें संघ सूची (Union List) राज्य सूची (State List) व समवर्ती सूची (Concurnent List) का नाम दिया गया है। इन सूचियों को सातवीं अनुसूची में रखा गया है।

संघ सूची (Union List) :

इस सूचि में राष्ट्रीय महत्व के ऐसे विषयों को रखा गया है। जिनके सम्बन्ध में सम्पूर्ण देश में एक ही प्रकार की नीति का अनुकरण आवश्यक कहा जा सकता है। इस सूची के सभी विषयों पर विधि निर्माण का अधिकार संघीय संसद को प्राप्त है। इस सूची में कुल 97 विषय है जिनमें कुछ प्रमुख हैं- रक्षा वैदिशक मामले, मुद्धे व सन्धि, रेल डाक, तार तथा टेलिफोन।

राज्य सूची (State List) :

इस सूची में साधारणतया वे विषय रखे गए हैं जो क्षेत्रीय महत्व के हैं। इस सूची के विषयों पर विधि का निर्माण का अधिकार सामान्यतया राज्यों की विधानमण्डलों को ही प्राप्त है। मूल संविधान के अनुसार इस सूची में 66 विषय थे, लेकिन 42 वे संवैधानिक सशोधन से इस सूची के चार विषय शिक्षा, वन, जगली जानवरों और पक्षियों की रक्षा तथा नापतोल, राज्य सूची से समवर्ती सूची में कर दिए गए है। राज्य सूची के कुछ प्रमुख विषय है। पुलिस, न्याय,

जेल, सिचांई और सड़के आदि।

समवर्ती सूची (Concurrent List) :

इस सूची में साधारणतया वे विषय रखे गए हैं जिनका महत्व क्षेत्रीय व संघीय दोनों ही द ष्टियों से है। इस सूची के विषयों पर संघ तथा राज्य दोनों को ही विधियां बनाने का अधिकार प्राप्त है। यदि इस सूची के विषय पर संघीय तथा राज्य विधानमण्डल द्वारा निर्मित कानून परस्पर विरोधी हो, तो सामान्यतः संघ का कानून मान्य होगा। इस सूची में कुल 47 विषय हैं। जिनमे से कुछ प्रमुख ये हैं - विवाह और विवाह विच्छेद श्रमिक संघ, औद्योगिक विवाद, आर्थिक और सामाजिक योजना, सामाजिक सुरक्षा और सामाजिक बीमा आदि।

अवशेष विषय (Residuary Subjects) :

भारतीय संघ में कानून के संघ की तरह अवशेष विषयों के सम्बन्ध में कानून निर्माण की शक्ति संघीय संसद को प्रदान की गई है।

राज्य सूची के विषयों पर संसद की व्यवस्थापन शक्ति
(Parilament Can Legistate on the Subjects of the State List)

सामान्यतः संविधान द्वारा दिए गए इस शक्ति-विभाजन का उल्लघंन किसी भी सत्ता द्वारा नहीं किया जा सकता। संसद द्वारा राज्य सूची के किसी विषय पर और किसी राज्य की विधानमण्डल द्वारा संघीय सूची के किसी विषय पर निर्मित कानून अवैध होगा, लेकिन संसद के द्वारा कुछ विशेष परिस्थितियों के अन्तर्गत राष्ट्रीय हित तथा राष्ट्रीय एकता हेतु राज्य सूची के विषयों पर भी कानूनों का निर्माण किया जा सकता है। संसद को इस प्रकार की शक्ति प्रदान करने वाले संविधान के कुछ प्रावधान निम्नलिखित है :

(i) राज्य सूची का विषय राष्ट्रीय महत्व का होने पर :-

संविधान के अनुच्छेद 249 व के अनुसार, यदि राज्य सभा अपने दो-तिहाई बहुमत से यह प्रस्ताव स्वीकार कर लेती है कि राज्य सूची में निहित कोई विषय राष्ट्रीय महत्व का हो गया है, तो संसद को उस विषय पर विधि निर्माण का अधिकार प्राप्त हो जाता है। इसकी मान्यता केवल एक वर्ष तक रहती है। राज्यसभा द्वारा प्रस्ताव पुनः स्वीक त करने पर इसकी अवधि में एक वर्ष की व द्धि और हो जाएगी। इसकी अवधि समाप्त हो जाने के उपरान्त यह 6 माह तक प्रयोग में आ सकता है

(ii) राज्यों की विधानमण्डलों द्वारा इच्छा प्रकट करने पर :-

अनुच्छेद 252 के अनुसार, यदि दो या दो से अधिक राज्यों के विधानमण्डल प्रस्ताव पास कर यह इच्छा व्यक्त करते है कि राज्य सूची के किन्ही विषयों पर संसद द्वारा कानून निमार्ण किया जाए, तो उन राज्यों के लिए उन विषयों पर अधिनियम बनाने का अधिकार संसद को प्राप्त हो जाता है। राज्यों के विधानमण्डल न तो उन्हें संशोधित कर सकते है और न ही इन्हें पूर्णरूप से समाप्त कर सकते हैं।

(iii) सकंटकालिन घोषणा होने पर (अनुच्छेद 250) :-

सकंटकालीन घोषणा की स्थिति में राज्य की समस्त विधायिनी शक्ति पर भारतीय संसद का अधिकार हो जाता है। इस घोषणा की समाप्ति के 6 माह बाद तक संसद द्वारा निर्मित कानून पूर्ववत् चलते रहेगें।

(iv) विदेशी राज्यों से हुई सन्धियों के पालन हेतु (अनुच्छेद 253) :-

यदि संघ सरकार ने विदेशी राज्यों से किसी प्रकार की सन्धि की है अथवा उनके सहयोग के आधार पर किसी नवीन योजना का निर्माण किया है, तो इस सन्धि के पालन हेतु संघ सरकार को सम्पूर्ण भारत के सीमा क्षेत्र के अन्तर्गत पूर्णतया हस्तक्षेप और व्यवस्था करने का अधिकार होगा। इस प्रकार इस स्थिति में भी ससंद को राज्य सूची के विषय पर कानून का अधिकार प्राप्त हो जाता है।

(v) राज्य में संवैधानिक व्यवस्था भंग होने पर (अनुच्छेद 356) :-

किसी राज्य में संवैधानिक संकट उत्पन्न हो जाये या संवैधानिक तत्व विफल हो जाए तो राष्ट्रपति राज्य विधानमण्डल के समस्त अधिकार भारतीय ससंद को प्रदान कर सकता है।

(vi) कुछ विधेयको ंको प्रस्तावित करने और कुछ की अन्तिम स्वीक ति के लिए केन्द्र का अनुमोदन आवश्यक

उपयुक्त परिस्थितियों में तो संसद द्वारा राज्य सूची के विषयों पर कानूनों का निर्माण किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त भी राज्य विधानमण्डलों की राज्य सूची के विषयों पर कानून निर्माण की शक्ति सीमित है। अनुच्छेद 304 (ख) के अनुसार कुछ विधेयक ऐसे होते हैं, जिनके राज्स विधानमण्डल में प्रस्तावित किए जाने से पूर्व राष्ट्रपति की पूर्व स्वीक ति की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए, वे विधेयक, जिनके द्वारा सार्वजनिक हित की द ष्टि उस राज्य के अन्दर या उसके बाहर वाणिज्य या मेल-जोल पर कोई प्रतिबन्ध लगाए जाने हो।

अनुच्छेद 31 (ग) के अनुसार, राज्य सूची के ही कुछ विषयों पर राज्यों की विधानमण्डलों द्वारा पारित विधेयक उस दशा में अमान्य होगें, यदि उन्हें राष्ट्रपति ने विचारार्थ रोक रखा हो और उन पर राष्ट्रपति को स्वीक ति ने प्राप्त कर ली गई हो। उदाहरण के लिए किसी राज्य द्वारा सम्पति को अधिग्रहण के लिए बनाए गए कानूनों का समवर्ती सूची के विषयों के बारें में ऐसे कानूनों, जो ससंद के उससे पहले बनाए गए कानूनों के प्रतिकूल हो या उन पर जिनके द्वारा ऐसी वस्तुओं की खरीद और बिक्री पर लगाया जाने वाले कर हो, जिन्हें संसद ने समाज के जीवन के लिए आवश्यक घोषित कर दिया है, राष्ट्रपति की स्वीक ति आवश्यक है।

अनुच्छेद 200 के अन्तर्गत राज्यपाल किसी भी विधेयक के बारे में अपनी सहमति देने से इन्कार कर सकता है और उसे राष्ट्रपति के विचारार्थ आरक्षित रख सकता है। राष्ट्रपति बिना कोई कारण बताए विधेयको के अस्वीकार कर सकता है।

केन्द्र के द्वारा उन संवैधानिक प्रावधानों के आधार पर व्यवहार में भी अपने आपको शक्तिशाली बनाने का कार्य किया है। उदाहरण के लिए, 1954 में त तीय संशोधन के आधार पर समवर्ती सूची के विषयों में व द्धि की गई, जिससे कि खाद्यान्न के अभाव में उत्पन्न स्थिति का सामना करने के लिए केन्द्रीय सरकार आवश्य कदम उठा सके।

उपयुक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारत में साधारणतया संघीय संसद तथा राज्यों की विधानमण्डलों के कार्यक्षेत्र संविधान द्वारा विभाजित हैं, लेकिन विशेष परिस्थितियों में सघं सरकार द्वारा राज्य सरकार के कार्यक्षेत्र का अतिक्रमण किया जा सकता है। पायली के अनुसार विधायी सता के वितरण की सूची योजना से निःसन्देह केन्द्रीकरण की एक प्रबल प्रव ति प्रकट होती है।

केन्द्र-राज्य प्रशासनिक सम्बन्ध
(Centre - State Administative Relations)

संघात्मक शासन प्रणाली की सबसे कठिन समस्या संघ तथा राज्यों के प्रशासनिक सम्बन्धों का समायोजन करना है। यदि संविधान में तत्सम्बन्धी स्पष्ट तथ्य उपलब्ध न हों तो दोनों को अपना दायित्व निभाने में यदि कठिनाई का अनुभव होता है। इसलिए भारतीय संविधान निर्माताओं ने इस सम्बन्ध में विस्त त उपबन्धों की आवश्यकता अनुभव की ताकि प्रशासनिक क्षेत्र में संघ तथा राज्यों के मध्य किसी प्रकार के विवाद उत्पन्न न हो।

प्रशासनिक सम्बन्ध : संवैधानिक परिप्रेक्षप में
(Administrative Relations : Consitutional Aspect)

भारतीय संविधान के ग्यारहवें भाग के दूसरे अध्याय में केन्द्र और राज्यों के बीच प्रशासनिक सम्बन्धों की चर्चा की गई है। संविधान के अनुच्छेद 73 के अनुसार, केन्द्र की प्रशासनिक शक्ति उन विषयों तक सीमित है जिन पर संसद को विधि का अधिकार प्राप्त है। इसी प्रकार संविधान के अनुच्छेद 162 के अनुसार राज्यों की प्रशासनिक शक्तियां उन विषयों तक सीमित हैं जिन पर राज्य विधानसभाओं को कानून बनाने का अधिकार है। समवर्ती सूची के विषयों में प्रशासनिक अधिकार साधारणतया राज्यों में निहित है किन्तु इन विषयों पर राज्य की प्रशासनिक शक्तियों को संघ की ऐसी प्रशासनिक शक्तियों

द्वारा सीमित रखा गया हैं जो या तो संविधान द्वारा या संसदीय विधि द्वारा प्रदत है।

प्रशासनिक सम्बन्धों में केन्द्र को राज्यों के ऊपर नियन्त्रण रखने का अधिकार प्रदान किया गया है, किन्तु इसके बावजूद राज्यों को स्वायत्तता एवं जिम्मेदारी का बड़ा क्षेत्र मिला हुआ है। फिर भी कुछ विद्वानों को महसूस होता है कि इन सम्बन्धों ने राज्यों की स्वायत्तता को कम किया हैं क्योंकि एक ही दल का बोलबाला है और "राज्यों के मुकाबले एक अत्यन्त शक्तिशाली संस्था के रूप में केन्द्रीय कार्यपालिका का उदय हुआ है तथा केन्द्र को अधिक अधिकार मिल गए हैं।"

राज्यों के उपर संघीय नियन्त्रण की विधियां :-

संविधान के अन्तर्गत केन्द्र-राज्य प्रशासनिक सम्बन्धों का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्रीयश एकता की द ष्टि से संघीय सरकार को राज्यों के सम्बन्ध में कतिमय प्रशासनिक शक्तियां प्राप्त है जो निम्नवत् हैं :

1. राज्यों का दायित्व :

संविधान के अनुसार राज्यों को अपनी कार्यपालिका शक्ति का उपयोग इस प्रकार करना चाहिए जिससे संसद द्वारा निर्मित कानूनों का पालन होता रहे। हर राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह संसद के कानूनों को अमल में लाने के लिए हर सम्भवं उपाय काम में लाए। राज्यों का यह भी दायित्व हैं कि केन्द्रीय प्रशासन में कोई बाधा उत्पन्न न होने दे।

2. केन्द्र सरकार राज्यों को निर्देश दे सकती है :

केन्द्र को यह अधिकार दिया गया है कि वह राज्यों का यह निर्देश दिया गया हैं कि वह राज्यों को यह निर्देश दे सके कि उन्हें अपनी कार्यकारी शक्ति का उपयोग किस प्रकार करना चाहिए। राष्ट्रीय व सैनिक महत्व के मार्गो व पुलों आदि का निर्माण साधारणतया केन्द्रीय सरकार ही करती है, परन्तु केन्द्र को यह अधिकतर प्राप्त है कि इस प्रकार के मार्गो के निर्माण व उनके उचित रखरखाव के लिए वह राज्यों को आवश्यक निर्देश दे सके। इसी प्रकार रेलमार्गो तथा रेलगाड़ियों की सुरक्षा के लिए भी निर्देश जारी किए जा सकते हैं

3. केन्द्र राज्यों की सरकारों का उपयोग अपने एजेन्ट के रूप में कर सकता है :

राष्ट्रपति राज्यों की सरकारों अथवा उसके पदाधिकारियों को अपने ऐजन्ट के रूप में कोई भी कार्य करने की जिम्मेदारी सौंप सकता है। इसका अभिप्रायः यह है कि संघ सूचि में दिए गए किसी भी विषय से सम्बन्धित कोई भी कार्य राज्यों के पदाधिकारियों को सौपां जा सकता है।

4. सरकारी क त्यों अभिलेखों और न्यायिक कार्यवाही को पूरी मान्यता दी जाएगी :

केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकार दोनों का यह कर्त्तव्य है कि वे सभी सरकारी क त्यों का आदर करे और देश के सभी न्यायालयों द्वारा किए गए अन्तिम निर्णयों को लागू करें।

5. दो या अधिक राज्यों में बहने वाले जलाशयों व नदियों के जल का बटंवारा :

ससंद को यह अधिकार है कि अन्तर्राष्ट्रीय नदियों के बटंवारे से उत्पन्न विचार को निपटाने के लिए वह उचित कानून बनाए। संसद किसी भी नदी या नदी घाटी परियोजना के पानी के इस्तेमाल, वितरण या नियन्त्रण सम्बन्धी विवाद के सिलसिले में मध्यस्तथता की व्यवस्था कर सकती हैं ससंद, सर्वोच्य न्यायालय या किसी अन्य न्यायालय को इस प्रकार के विवादों पर विचार करने से रोक सकती है। यह एक महत्वपूर्ण अधिकार है और इसका इस्तेमाल क षि व औद्योगिक विकास के लिए पानी और बिजली जैसी सुविधा की व्यवस्था के लिए किया जा सकता है। साथ ही इसका उपयोग दामोदर घाटी निगम जैसी बहु-उदेशीय परियोजनाओं के लिए किया जा सकता है।

6. अर्न्तराज्यीय परिषद् की स्थापना :

संविधान राष्ट्रपति को अधिकार देता है कि वह एक अर्न्तराज्यरय परिषद् की स्थापना करे, जिसके निम्नलिखित तीन विशेष कार्य होगें :

(i) राज्यों के बीच उठ खड़े होने वाले विवादों की जांच करना तथा उनके सम्बन्ध में सलाह देना।

(ii) उन विषयों पर छानबीन कर विचार करना जिनमें राज्यों की एक समान दिलचस्पी हो।

(iii) इन विषयों, और विशेषकर इनसे सम्बन्धित नीति एवं कार्य के बेहतर समन्वय के सम्बन्ध में सिफारिशें करना राष्ट्रपति इस परिषद के संगठन और प्रक्रिया को निर्धारित एवं इसके कर्त्तव्यों की परिभाषित कर सकता है।

7. अखिल भारतीय सेवाएं :

संघ द्वारा राज्यों को नियन्त्रित करने का एक महत्वपूर्ण तरीका है आखिल भारतीय सेवाएं। यद्यपि राज्यों और केन्द्र की प थक सेवाएं और लोकसेवा आयोग है, फिर भी संविधान अखिल भारतीय सेवाओं की स्थापना के लिए संघ को अधिकार देता है। संघ को इन सेवाओं के सदस्यों को राज्यों के महत्वपूर्ण प्रशासनिक पदों पर रखने का अधिकार होता है।

8. राज्यपाल :

राज्यों के राज्यपाल राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किए जाते है और एक प्रकार से वे राज्यों में केन्द्र के ऐजन्ट के नाते कार्य करते हैं। उनके माध्यम से केन्द्रीय सरकार राज्यों के शासन पर अंकुश रख सकती है।

इनके अतिरिक्त कार्यलय ऐसे भी विषय है जिनका सम्बन्ध यद्यपि दोनों सरकारों से है तथापि जिनका निर्धारण केन्द्रीय सरकार ही करती है। उदाहरण के लिए निर्वाचनए लेखा परीक्षण आदि।

संविधान के अनुच्छेद 365 के अनुसार यदि राज्य की सरकार केन्द्र के निर्देशों का पालन न करे तो राष्ट्रपति यह घोषणा कर सकता है कि राज्य का संवैधानिक ढांचा विफल हो गया है। इस घोषणा का परिणाम यह होगा कि राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू हो जाएगा।

सक्षेंप में, संविधान केन्द्रीय कार्यपालिका के प्राबलय का प्रावधान करता है। संघीय प्रशासनिक सम्बन्धों की क्रिया के कारण राज्यों की स्वायत्तता में इतनी कमी आ गई है कि संघीय राज्यतंत्र के सहकारी स्वरूप पर आघात पहुँचा है।

केन्द्र-राज्य वित्तीय सम्बन्ध
(Centre-State Financial Relations)

संघात्मक शासन व्यवस्था में केन्द्र और राज्यों की सरकारों के बीच केवल विधायी और प्रशासनिक शक्तियां का ही विभाजन नही होता अपितु वित्तीय स्त्रोतों का बंटवारा होता है। वित्तीय स्त्रोतों के विभाजन को लेकर राज्यों के बीच मतभेद और तनाव उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। यह समस्या उतनी ही पुरानी है जितनी कि सघांत्मक शासन प्रणाली और यह विश्प की अधिकांश संघ व्यवस्थाओं को सकंटग्रस्त करती रही है।

केन्द्र-राज्य वित्तीय सम्बन्ध : संवैधानिक प्रावधान :

केन्द्र तथा राज्यो के मध्य राजस्व के साधनों के विभाजन के आधारभूत सिद्धान्त है : कार्यक्षमता, पर्याप्तता तथ उपयुक्ता। इन तीनों उदेश्यों की एक साथ ही प्राप्ति अत्यन्त कठिन थी, अतः भारतीय संविधान में समझौते की कोशिश की गई। संविधान द्वारा केन्द्र तथा राज्यों के मध्य वित्तीय सम्बन्धों का निरूपण निम्न प्रकार से किया गया है :

1. कर निर्धारण, शांति का वितरण और करों से प्राप्त आय का विभाजन :

भारतीय संविधान में वित्तीय प्रावधानां की दो विशेषताएं है। प्रथम, संघ तथा राज्यों के मध्य कर निर्धारण की शक्ति का पूर्ण विभाजन कर दिया गया है और द्वितीय करों से प्राप्त आय का बटंवारा होता है।

संघ के प्रमुख राजस्वस्त्रोत इस प्रकार है : निगम कर, सीमा कर, निर्यात शुल्क, क षि, भूमि को छोड़कर अन्य सम्पति पर सम्पदा शुल्क, विदेशी ऋण रेले, रिर्जव बैंक, शेयर बाजार आदि। राज्यों के राजस्व स्त्रोत है : प्रति व्यक्ति कर, क षि भूमि पर कर, सम्पदा शुल्क, भूमि और भवनों पर कर, पशुओं तथा नौकाओं पर कर, बिजली के उपयोग तथा विक्रय पर कर, वाहनों पर चुंगी कर, आदि।

संघ द्वारा आयोजित तथा सग्रंहित विनियोजित किए जाने वाले शुल्कों के उदाहरण है : बिल विनयमों, प्रोमिसरी नोटों,

हुण्डियों, चैकों आदि पर मंद्राक शुल्क और दवा तथा मादक द्रव्य पर कर, शौक-श्रंगार की चीजों पर कर तथा उत्पादन शुल्क।

संघ द्वारा आरोपित तथा सग्रंहीत किन्तु राज्यों को सौपें जाने वाले करों के उदाहरण है। क षि भूमि के अतिरिक्त अन्य सम्पति के उत्तराधिकार पर कर, क षि भूमि के अतिरिक्त अन्य सम्पति पर सम्पदा शुल्क, रेल, समुंद्र, वायु द्वारा ले जाने वाले माल तथा यांत्रियों पर सीमान्त कर, रेल भाड़ों तथा वस्तु भाड़ों पर कर, शेयर बाजार तथा सट टा बाजार के आदान प्रदान पर कर, मुद्रांक शुल्क के अतिरिक्त कर, समाचार पत्रों के क्रय-विक्रय तथा उनमें प्रकाशित किए गए विज्ञापनों पर और समाचार पत्रों से अन्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा वाणिज्य के माल के क्रय-विक्रय पर कर।

कतिमय कर संघ द्वारा आरोपित तथा सग्रंहित किए जाते हैं, पर उनका विभाजन संघ तथा राज्यों के बीच होता है। आप कर का विभाजन संघीय भू-भाग के लिए निर्धारित निधि तथा संघीय खर्च को काटकर शेष राशि में से किया जता है। आय-कर के अतिरिक्त दवा तथा शौक-श्रंगार सम्बन्धी चीजों के अतिरिक्त अन्य चीजों पर लगाया गया उत्पादन शुल्क इसके अन्तर्गत आता है।

2. सहायक अनुदान तथा अन्य सार्वजनिक उदेश्यों के लिए दिया जाने वाले अनुदान :

संविधान के अन्तर्गत केन्द्र तथा राज्यों को चार तरह के सहायता अनुदान प्रदान करने की व्यवस्था की गई है। प्रथम, पटसन व उससे बनी वस्तुओं के निर्यात से जो शुल्क प्राप्त होता है। उसमें से कुछ भाग अनुदान के रूप में जूट पैदा करने वाले राज्यों-बिहार, बंगाल, असम व उड़ीसा- को दिया जाता है। दूसरा, बाढ़, भूकम्प व सूखाग्रस्त क्षेत्रों में पीड़ितों की सहायता के लिए भी केन्द्रीय सरकार राज्यों को अनुदान दे सकती है। तीसरा, आदिम जातियों व कबीलों की उन्नति व उनके कल्याण की योजनाओं के लिए भी सहायक अनुदान दिया जाता है। चौथा, राज्य को आर्थिक कठिनाइयों से उबारने के लिए केन्द्र राज्यों की वित्तीय सहायता कर सकता है।

3. ऋण लेने सम्बन्धी उपबन्ध :

संविधान केन्द्र को यह अधिकार प्रदान करता है कि वह अपनी संचित निधि की साख पर देशवासियों व विदेशी सरकारों से ऋ ण ले सके। ऋ ण लेने का अधिकार राज्यों को प्राप्त होता हैं, परन्तु वे विदेशों से धन उधार नहीं ले सकते। यदि किसी राज्य सरकार पर संघ सरकार का कोई कर्ज बाकी है तो राज्य सरकार अन्य कर्ज संघ सरकार की अनुमति से ही ले सकती है। इस प्रकार का कर्ज देते समय संघ सरकार किसी भी प्रकार की शक्ति लगा सकती है।

4. करो से विभुक्ति :

राज्यों द्वारा संघ की सम्पति पर कोई कर तब तक नहीं लगाया जा सकता जब तक संसद विधि द्वारा कोई प्रावधान न कर दे। भारत सरकार या रेलवे द्वारा प्रयोग में आने वाली बिजली पर संसद की अनुमति के अभाव में राज्य किसी प्रकार का शुल्क नही लगा सकते। इसी प्रकार संघ सरकार भी राज्य सम्पति और आय पर कर नहीं लगा सकती।

5. भारत के नियन्त्रक महालेखा परीक्षक द्वारा नियन्त्रण :

भारत के नियन्त्रक महालेख परीक्षक की नियुक्ति केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल के परार्मश से राष्ट्रपति करता है यह भारत सरकार तथा राज्य सरकरों के हिसाब का लेखा रखने के ढंग और उनकी निष्पक्ष रूप से जांच करता है। नियन्त्रक तथा महालेखा परीक्षक के माध्यम से ही भारतीय संघ राज्य की आप पर अपना नियन्त्रण करती है।

6. वित्तीय सकंटकाल :

वित्तीय संकटकालीन घोषणा की स्थिति में राज्यों की आय सीमा राज्य सूची में चर्चित करों तक ही सीमित रहती है। वित्तीय संकट के प्रवर्तन काल में राष्ट्रपति को संविधान के उन सभी प्रावधानों को स्थगति करने का अधिकार है जो सहायता अनुदान, आदि संघ के करों की आय में भाग बंटाने से सम्बन्धित हो। केन्द्रीय सरकार वित्तीय मामलों में राज्यों को निर्देश भी दे सकती है।

निष्कर्ष में यह कहना उचित है कि भारतीय संघवाद की समान्य प्रक ति अर्थात 'केन्द्रीयता' के अनुकूल हो उपबन्धों

की योजना हुई है। केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारों की अपेक्षा वित्तीय क्षेत्र में अधिक शक्तिशाली है। प्रो॰ एम॰बी॰ पायली के शब्दों में, "वर्तमान स्थिति में राज्यो के पास सीमित साधन है और अपनी अधिकांश विकास योजनाओं के लिए उन्हें केन्द्र की सहायता की आवश्यकता रहती है। इसलिए उन्हें केन्द्र को नेत त्व स्वीकार करना पड़ता है। कभी-कभी केन्द्र के आदेशों के आगे भी झुकना पड़ता हैं।"

केन्द्र राज्य सम्बन्धों की विशेषताएं
Features of Centre-State Relations

संविधान द्वारा प्रस्तुत केन्द्र-राज्य सम्बन्धो का विश्लेषण करने से निम्न तथ्य उभरते है :

1. शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार :

संविधान निर्माताओं ने केन्द्रीय सरकार को अत्यन्त शक्तिशाली बनाया है। वह किसी भी सूची के विषयों पर कानून बना सकती है। वह अवशिष्ट शक्तियों का उपयोग कर सकती है और राज्यपालों द्वारा राज्यों पर पूर्ण नियन्त्रण रखती है। उसकी आय के साधन अधिक है और वह राज्यों को ऋण भी दे सकती है।

2. राज्यों की स्थिति नगरपलिकाओं के समतुल्य :

संघ एवं राज्यों के बीच शक्तियों का वितरण इस प्रकार किया गया है कि राज्यों की स्थिति नगरपालिका के बराबर है। जिस प्रकार नगरपालिकाएं राज्य सरकारों पर पूर्णत : निर्भर है, उसी प्रकार राज्य सरकारें भी सभी क्षेत्रों में संघ सरकार पर निर्भर है।

3. सहयोगी संघवाद :

ग्रेनविल ऑस्टिन के अनुसार, "भारत की विशिष्ट आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संविधान सभा के एक विशिष्ट प्रकार के संघवाद को जन्म दिया है।" जिसे ए॰ एच॰ बर्च ने 'सहयोगी संघवाद' की संज्ञा दी है। इस व्यवस्था में संघीय सरकार शक्तिशाली होती हैं, किन्तु राज्य सरकारें भी अपने क्षेत्रों में कमजोर नहीं होती साि ही दोनों की सरकारों की एक-दूसरे पर निर्भरता इस व्यवस्था का मुख्य लक्षण होता है।

4. भारतीय संघ को आत्मा एकात्मक :

राष्ट्रपति द्वारा आपातकाल की घोषणा किए जाने पर राज्यों की स्वायत्तता को स्थतिगत किया जा सकता है और इस दशा में राष्ट्रपति राज्य का सारा काम काज अपने प्रतिनिधि राज्यपाल के माध्यम से चला सकता है। केन्द्र की शक्तियां आपातकाल में नहीं अपितु सामान्यकाल में भी बढ़ाई जा सकती है। अतः भारतीय संघ की आत्मा एकात्मक कहीं जा सकती है।

निष्कर्ष में हम कह सकते है कि केन्द्रीय सरकार की अपेक्षाक त शक्तिशाली स्थिति ने राज्य सरकारों की स्थिति को प्रभावित किया है। किन्तु फिर भी राज्य केन्द्रीय सरकार की प्रशासनिक इकाइयां मात्र नही है। ग्रेनविल आस्टिन के अनुसार, "भारत नई दिल्ली नहीं हैं बाकी राज्यों की राजधानियां भी है। राज्य केन्द्रीय सहायता के आंकाक्षी है, किन्तु राज्यों के सहयोग के बिना संघ बहुत दिनो तक कायम नहीं रह सकता। राज्य सरकारें केन्द्रीय सरकार की नीतियों का माध्यम हो सकती है, किन्तु उनकी सहायता के बिना केन्द्रीय सरकार अपनी योजनाओं को क्रियान्वित नहीं कर सकती। वस्तुतः दोनों ही एक दूसरे पर निर्भर हैं।"

भाग-IV

अध्याय-20
राजनीतिक दल
(Political Parties)

भारत एक लोकतंत्रीय राज्य है, जिसमें राजनीतिक दलों का होना स्वाभाविक हैं। लोकतंत्र तथा राजनैतिक दलों में इतना गहरा सम्बन्ध है कि एक के बिना दूसरे की उन्नति असंभव है। राजनैतिक दल की देश में राष्ट्रीय महत्व के विषयों पर जनमत तैयार करते हैं। लोगों को राजनैतिक शिक्षा प्रदान करते हैं। लोगों को राजनैतिक शिक्षा प्रदान करते है तथा स्थायी सरकार की स्थापना करते हैं वे चुनावों में अपने उम्मीदवार खड़े करते हैं और विधानमंडल में बहुमत प्राप्त करके सरकार पर नियंत्रण प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। चुनावों में जिस राजनैतिक दल को विधानमंडल में बहुमत प्राप्त हो जाता है। वह दल सरकार का गठन करता है। अन्य राजनैतिक दल विरोधी दल का निर्णय करते हैं और सरकार को स्वेच्छाचारी बनने से रोकते हैं तथा उसकी निख्युशता पर अंकुश लगाते हैं।

भारत में राजनीतिक दलों के विकास को मुख्य रूप से दो भागों में बांटा जा सकता है :

(1) स्वतंत्रता से पूर्व राजनैतिक दलों का विकास

(2) स्वतंत्रता प्राप्ति से लेकर अब तक राजनैतिक दलों का विकास।

(1) स्वतंत्रता से पूर्व राजनैतिक दलों का विकास :-

भारत में राजनैतिक दलों का विकास ब्रिटिश शासन के विरूद्ध स्वतंत्रता आन्दोलन के रूप में आरम्भ हुआ था। 19वीं शताब्दी के 'पूना सार्वजनिक सभा' मद्रास में 'महाजन सीभा' तथा कत्मकता में भारतीय ऐसोसिएशन तथा मुबंई प्रैजीडेंसी ऐसोसिएशन जैसे सगठनों की स्थापना हुई। परन्तु भारत के सबसे पहले राजनीतिक दल काग्रेंस की स्थापना 1885 में हुई और धीरे -धीरे करके सभी वर्गो के लोग इसमें शामिल होने लगे।

ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेंस का विरोध करने के लिए सन् 1906 में 'मुस्लिम लीग' (Muslim Leagee) की स्थापना करवाने में सहयोग दिया। इसके विरोध में हिंदुओं ने अपने को संगठित करने तथा अपने अधिकारों की रक्षा करने के लिए सन् 1916 में हिन्दू महासभा (Hindu Maha Sabha) की स्थापना की। सन् 1924 में भारत में साम्यवादी दल (Communist Party) की स्थापना हुई। सन् 1934 में काग्रेंस के भीतर ही जवाहरलाल नेहरू तथा कुछ अन्य नेताओं ने मिलकर 'समाजवादी दल' की स्थापना की। सन् 1938 में सुभाष चन्द्र बोस ने काग्रेंस पार्टी से त्यागपत्र देकर अपने अलग दल 'फारवर्ड ब्लाक' (Farward Block) की स्थापना की।

स्वतंत्रता प्राप्ति से लेकर अब तक राजनीतिक दलों का विकास :-

स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारत में मुख्य रूप से दो राजनैतिक दल मौजूद थे। काग्रेंस तथा साम्यवादी दल। सन् 1948 में राम राज्य परिषद की स्थापना हुई और उसके बाद सन् 1949 में तमिलनाडु में डी॰ एम॰ के॰ (D.M.K.) की स्थापना हुई। सन् 1951 में डा॰ श्यामाप्रशाद मुकर्जी के नेत त्व में भारतीय जन संघ (Bhartiya Jan Sangh) की स्थापना हुई। सन् 1952 में जब देश में पहले आम चुनाव हुए तो उस समय 14 दलों ने राष्ट्रीय स्तर पर तथा 51 दलों ने क्षत्रीय (राज्य) स्तर पर इनमें भाग लिया।

सन् 1959 में स्वतंत्र पार्टी (Swatantra Party) का जन्म हुआ जिसे 1962 में राष्ट्रीय राजनैतिक दल के रूप में मान्यता प्राप्त हो गई सन् 1962 तथा 1967 के बीच भारत में अनेक दल विकसित हुए।

सन् 1969 में काग्रेंस के फूट पड़ गई और वह दो दलों इंदिरा काग्रेंस तथा संगठन काग्रेंस में बंट गई। सन् 1974 में भारतीय लोकदल की स्थापना हुई। जिसमें भारतीय क्रांति दल, स्वतंत्र दल, उत्कल कांग्रेंस तथा मजदूर दल आदि शामिल हो गए।

सन् 1977 में संगठन कांग्रेंस, जलसंघ, भारतीय लोकदल तथा समाजवादी दल ने मिलकर जनता पार्टी का गठन किया जनता पार्टी लगभग दो वर्ष ही केन्द्र में सत्ता में रह पाई और इस दल में फूट पड़ गई। वह पुनः चार दलों जनता पार्टी, भारतीय जनता पार्टी, लोकदल तथा जनता (एस) के विभाजित हो गई। सन् 1989 में हुए लोकसभा के चुनाव के समय 'जनता दल' का गठन किया गया। यद्यपि चुनावों में इस दल को पूर्ण बहुमत प्राप्त नहीं हुआ, फिर भी भारतीय जनता पार्टी तथा साम्यवादी दलों की सहायता से दल ने 2 दिसम्बर 1989 को सरकार की स्थापना की।

16 अप्रेल 1991 को चुनाव आयोग ने कुल 9 राष्ट्रीय दलों को मान्यता दी थी। 22 फरवरी 1992 को चुनाव आयोग ने काग्रेंस (एस) लोकदल और जनता दल (समाजवादी) को राष्ट्रीय राजनैतिक दलों के रूप में मान्यता समाप्त कर दी थी। 1996 में हुए लोकसभा चुनावों के समय चुनाव आयोग द्वारा 8 राष्ट्रीय दलों तथा 39 क्षेत्रीय दलों को मान्यता प्रदान की गई। सन् 1998 में हुए लोकसभा चुनावों के समय चुनाव आयोग द्वारा मान्यता प्राप्त 7 राष्ट्रीय दल थे। 1 जनवरी 2002 को 7 दलों को राष्ट्रीय के रूप में मान्यता प्राप्त हैं।

दलीय व्यवस्था की विशेषतांए :-

भारतीय दलीय व्यवस्था में तीन अवसर ऐसे आऐ है, जब इसमें मूलभूत परिवर्तन घटित हुए। उदाहरणतः 1977 में विरोधी दलों द्वारा संचालित जनता सरकार का केन्द्र में सत्ता रूढ़ होना। इससे पहले 1967 में लगभग 8 राज्यों में (हरियाणा सहित) पहली बार विरोधी दलों ने अपनी सरकारे बनाई जो काग्रेंस पार्टी के एकाधिकार को एक गहरा झटका माना गया। 1987 मे भी एक बार विरोधी दलों ने मिलकर राष्ट्रीय मोर्चा की सरकार स्थापित की। 1991 में कांग्रेंस राष्ट्रीय सत्ता से हाथ धो बैठी उसके बाद तो विरोधी दालों के गठबन्धन की सरकारें ही केन्द्र में चल रही है। इस प्रकार एकल दल अधिपत्य टूट गया तथा बहुल दलीय व्यवस्था का पर्दापण हुआ। इस परिपेक्ष में भारतीय दल व्यवस्था की विशेषतांए निम्न है :

1. बहुदलीय पद्धति :-

भारत में ब्रिटेन अथवा अमरीका की तरह द्वि दल-पद्धति नही, वरन् बहुदलीय पद्धति है। चुनाव आयोग के अनुसार जनवरी 1998 में देश में सात राष्ट्रीय दलों सहित 654 राजनीतिक पार्टियां हैं। इनमें से 35 पार्टियां राज्य स्तर की हैं और 612 पंजीक त गैर मान्यता प्राप्त दल हैं।

2. व्यक्तिगत नेत त्व पर आधारित :-

भारत में दल व्यक्तिगत नेत त्व पर आधारित है। 1951 से 1964 तक काग्रेंस में जवाहर लाल नेहरू की प्रधानत रही। 1970-76 और 1980-84 में इन्दिरा गाँधी का व्यक्तित्व पार्टी पर छाया रहा। 1984 के बाद राजीव गांधी का प्रभाव रहा। 1991 के बाद अटल बिहारी वाजपेयी के व्यक्तित्व पर भारतीय जनता पार्टी टिकी हुई है। उधर विरोधी दल काग्रेंस में सोनिया गांधी का प्रभाव है।

3. राजनैतिक दलों में निरन्तर विभाजन एवं विघटन की प्रव ति :-

अब तक काग्रेंस पार्टी के तीन बार विभाजित हो चुकी है। 1969 के बाद 1978 और 1995 में काग्रेंस में विघटन हुआ। 1977 में गठित जनता पार्टी में विभाजन हुआ जनता दल का विभाजन सबसे अधिक और अतिशीघ्रता में हुआ। अजय प्रमुख दलों में भी विघटन हुआ है।

4. अवसरवादिता की उभरती प्रव ति :-

भारतीय राजनीति में अवसरवादिता सदैव से विद्यमान रही है और अभी हाल ही के वर्षो में यह निरन्तर उग्र रूप ग्रहण

कर रही है। रजनी कोहारी के अनुसार, " व्यक्ति का महत्व अभी भी राजनीति में बहुत है। भारत में एक ही संगठन के अभिन्न अंग अलग-अलग काम करते है। एक ही दल के राष्ट्रीय और राज्य शाखांए प्रतिकूल दिशाओं में चलती हैं और ऐसे गुटों व तत्वों से हाथ मिलाती है जो विचारधारा और नीति में उनसे भिन्न है। जनवरी 1980 के केरल विधानसभा चुनावों में इन्दिरा काग्रेंस और जनता पार्टी के परम्पर सहयोग करते हुए एक ही फ्रण्ट के अन्तर्गत चुनाव लड़ा, जबकि राष्ट्रीय स्तर पर ये दल एक दूसरे के कट्टर विरोधी थे। इस प्रकार की अवसरवादिता के अन्य अनेक उदाहरण उपलब्ध है।

5. राजनीतिक दलों की नीतियां और कार्यक्रम में स्पष्ट भेद का अभाव :-

भारत के राजनीतिक दलों की नीतियों और कार्यक्रमों में स्पष्ट भेद का अभाव है और इसी कारण वे जनता के सम्मुख स्पष्ट विकल्प प्रस्तुत करने में असमर्थ रहे हैं। इस प्रकार के विचार भेद के अभाव का एक कारण यह है कि आज भारत के राजनीतिक रंगमंच पर जितने भी पात्र द ष्टिगोचर हैं, उन सबकों राजनीतिक प्रशिक्षण राष्ट्रीय आन्दोलन में ही प्राप्त हुआ है, लेकिन इसका दूसरा और अधिक प्रमुख कारण यह है कि स्वंय राजनीतिक दलों की नीतियां और कार्यक्रम अत्याधिक अस्पष्ट और अनिश्चित हैं। काग्रेंस के अतिरिक्त अन्य लगभग एक दर्जन छोट-बड़े राजनीतिक दल भी समाजवाद के ही अपना लक्ष्य घोषित किये हुए हैं। अनेक राजनीतिक दलों के पास अपना कोई निश्चित कार्यक्रम न होने के कारण उनके द्वारा विध्वंसकारी कार्यो का आश्रय लिया जाता है और विघटनकारी तत्वों को प्रोत्साहित किया जाता हैं।

6. साम्प्रदायिक और क्षेत्रिय दल :-

भारत में अनेक राजनीतिक दल साम्प्रदायिक और क्षेत्रिय आधार पर गठित हैं। ऐसे दलों में अन्ना द्रविड मुनेज कड़गम (Anna D.M.K.) द्रविड मुनेज कड़गम (D.M.K.) आकाली दल, हिन्दू महासभा, नेशनल काफ्रेंस, असम गण परिषद् सिक्कीम संग्राम परिषद और अन्य अनेक दलों का नाम लिया जा सकता है। लोकसभा चुनावों में तो ये साम्प्रादयिक और क्षेत्रिय दल अपनी शक्ति तथा प्रभाव का सीमित परिचय ही दे पाते है, लेकिन विधानसभा चुनावों में अपनी शक्ति का परिचय देने में सफल रहते हैं। 1989-97 में शिव सेना ने भी अपनी शक्ति में पर्याप्त व द्धि की जो एक साम्प्रदायिक दल तथा क्षेत्रीय भी।

7. राजनीतिक दलों की आन्तरिक गुटबन्दी :-

भारत की दल प्रणाली की एक प्रमुख विशेषता विभिन्न दलों की आन्तरिक गुटबन्दी है। लगभग सभी राजनीतिक दलों में छोटे-छोटे गुट पाये जाते हैं, एक वह गुट जो सता में है और दूसरा असन्तुष्ट गुट। इन गुटों में पारस्परिक मतभेद इस सीमा तक पाया जाता है कि कभी कभी निर्वाचन में एक गुट के समर्थन प्राप्त उम्मीदवार को दूसरे गुट के सदस्य पराजित करने का भरसक प्रयत्न करते हैं।

8. राजनीतिक दल-बदल :-

भारत में दल बदल की स्थिति सदैव से विद्यमान रही है, लेकिन 1967 से 1970 के वर्षो में यह प्रव ति बहुत अधिक भीषण रूप में देखी गयी। 1971 और 1972 के लोकसभा तथा विधानसभा चुनावों के बाद दल-बदल की लगभग समाप्ति की आशा की गयी थी और जनता में यही आशा मार्च 1977 तथा जनवरी 1980 के लोकसभा चुनावों के बाद जगी थी, लेकिन ऐसा नही हो पाया। दल-बदल राजनीतिक आस्थिरता का कारण और परिणाम दोनों ही रहा है और इसने राजनीतिक वातावरण को दूषित करने का ही कार्य किया हैं।

9. निर्दलयी सदस्यों की संख्या मे कमी :-

1952 के लोकसभा चुनाव में निर्दलीय सदस्यों की संख्या 849 थी जो 1996 में बढ़कर 10535 हो गई। परन्तु 1998-99 में चुनाव सुधार के सम्भतः प्रावधानों के कारण इस समस्या में भारी कमी आई और ये केवल 1915 ही रह गए।

10. राजनीतिक दलों का ढीला-ढाला संगठन :-

भारत में अधिकांश दलों का संगठन बहुत ढीला ढाला है तथा सदस्यों में अनुशासन का अभाव है। अधिकतर दलीय

नेता अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए दलीय अनुशासन की परवाह नही करते। यदि दल के सदस्य की चुनाव का टिकट नही मिलता, तो वह दल से त्यागपत्र देकर दल के उम्मीदवार के ही विरूद्ध चुनाव में खड़ा हो जाता है। कई बार तो ऐसे सदस्य अपना अलग दल भी बना लेते हैं।

11. राजनीतिक दलों में लोकतंत्र का अभाव :-

भारतीय राजनतिक दलों की एक ही महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि राजनीतिक दलों का आंतरिक ढांचा लोकतांत्रिक सिद्धान्तों तथा मूल्यों पर आधारित नही है। राजनीतिक दलों के अपने सगठनात्मक चुनाव वर्षो तक नही होते। अप्रेल 1992 में 22 वर्षो के बाद काग्रेंस (आई) के संगठनात्मक चुनाव हुए हैं। संगठनात्मक चुनाव न होने से प्रायः सभी दलों में आतंरिक प्रजातंत्र की स्थापना नही हो पाती, तब तक राष्ट्र की राजनीति में लोकतांत्रिक सिद्धान्तों तथा मूल्यों की स्थापना होना असंभव हैं।

भारतीय राजनीतिक दलों का वर्गीकरण
(Classification of Indian Palitical Parties)

भारतीय राजनीतिक दलों को चार भागों में बांटा जा सकता है :

1. राष्ट्रीय और धर्मनिरपेक्ष दल
2. क्षेत्रीय अथवा राज्यस्तरीय दल
3. स्थानीय, किन्तु जातीय साम्प्रदायिक दल और
4. तदर्थ दल।

1. राष्ट्रीय और धर्मनिरपेक्ष दल :-

निर्वाचन आयोग ने राजनीतिक दलों के मान्यता सम्बन्धी नियमों में परिवर्तन के लिए 1968 के चुनाव चिन्ह (आरक्षण एवं अबाण्टन) आदेश में संशोधन करते हुए। दिसम्बर 2000 को अधिसूचना जारी की है। नए नियमों के अर्न्तगत राष्ट्रीय स्तर के दल का दर्जा प्राप्त करने के लिए सम्बन्धित राजनीतिक दल को लोकसभा चुनाव अथवा विधान सभा चुनावों के किन्हीं चार अथवा अधिक राज्यों के कुल डाले गए वैध मतों के 6 प्रतिशत मत प्राप्त करने के साथ ही किसी राज्य अथवा राज्यों से लोकसभा की कम से कम 4 सीटें जितनी होगी अथवा लोकसभा में उसे कम से कम 2 प्रतिशत सीटें (मौजूदा 543 सीटों मे कम से कम 1 सीटें) जितनी होगी जो कम से कम तीन राज्यों से हासिल की गई हो। ऐसे दल दो प्रकार के हैं - बिना विचारधारा के और विचारधारा पर आधारित दल। बिना विचारधारा वाले दलों में काग्रेंस को लिया जा सकता है। विचारधारा से अभिप्रायः है किसी विशिष्ट सामाजिक और आर्थिक दर्शन में विश्वास और प्रतिबद्धता व्यक्त करना काग्रेंस को वैचारिक द ष्टि से तटस्थ दल कहा जा सकता है। काग्रेंस एक ऐसा दल है जिसमें अनेक विचारधारा और हितों के व्यक्ति शामिल हो सकते हैं। इसे दल के बजाय एक सार्वजनिक मंच (प्लेटफार्म) कहा जा सकता है।

विचारधारा में विश्वास करने वाले राष्ट्रीय दलों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। दक्षिण पन्थी और वामपन्थी। दक्षिणपन्थी दल जहां यथास्थिति को बनाये रखना चाहते हैं वहां वामपन्थी दल आर्थिक और सामाजिक ढांचे में आमूत चूल परिवर्तन चाहते हैं। स्वतंत्र दल, जनसंघ, और भारतीय लोकदल को दक्षिणपंथी दल कहा जाता था क्योंकि भारतीय परिप्रेक्ष्य में इनके द ष्टिकोण ब्रिटिश अनुदारवादी दल से मिलते जुलते हैं। वामपन्थी दल भी दो प्रकार के हैं - उदार और उग्र। उदार दलों में सभी समाजवादी दलों को लिया जा सकता है तथा उग्र दलों में सभी प्रकार के साम्यवादी दलों को स्थान दिया जा सकता हैं उदारवादी दल, गाधींवाद, मार्क्सवा और फेबियनवादी सिद्धान्तों में विश्वास करते है जबकि साम्यवादी दल क्रान्तिकारी साधनों में विश्वास करते है, समस्त प्रकार के अखिल भारतीय दलों का द ष्टिकोण धर्मनिरपेक्ष है उनकी सदस्यता सभी धर्मो और जातियो के लिए खुली है।

2. क्षेत्रीय अथवा राज्यस्तरीय दल :

ये वे दल हैं जिनका प्रभाव राज्य की सीमा तक ही है। इनमें तेयगू देशम्, शिव सेन्य, डी.एम के अन्ना डी.एम. के. असम

गण परिषद, सिक्कीम सग्रांम परिषद, समाजवादी पार्टी, तमिल मनीला काग्रेंस, त णपूल काग्रेंस, हरियाणा विकास पाटी आदि प्रमुख है। आन्ध्रप्रदेश, तमिलनाडु असम सिक्किम आदि राज्यों मे ये दल प्रभावशाली हैं।

3. स्थानीय किन्तु जातीय साम्प्रदायिक दल :-

कातिण्य दल विशेष जाति या सम्प्रदाय तक ही सीति हैं केरल की मुस्लिम लीग, उत्तरप्रदेश की बहुजन समाज पार्टी, पंजाब का अकांली दल आदि पार्टी ऐसे ही दल हैं।

4. तदर्थ दल :-

भारत में ऐसे भी दल है जो बनते और बिगड़ते रहते हैं। इन्हें छोटे-छोटे गुट कहा जा सकता है। ऐसे दलों में काग्रेंस (तिवारी) केरल काग्रेंस बंगला कांग्रेस, हरियाणा काग्रेंस, रामराज्य परिषद आदि को याद किया जा सकता है। ऐसे दल कब बनते है और कब अस्त हो जाते है इसका पता लगाना कठिन है। ये विभिन्न दलों से निकले असन्तुष्ट नेताओं द्वारा निर्मित गुट है।

प्रमुख राष्ट्रीय राजनीतिक दल और उनके कार्यक्रम
(Major Matinal Parties and their Programmes)

1 जनवरी 2002 में निम्नलिखित 7 दलों को राष्ट्रीय दल के रूप में मान्यता प्राप्त है :

भारतीय राष्ट्रीय काग्रेंस, भारतीय जनता पार्टी भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, (मार्क्सवादी) जनता दल (यु) राष्ट्रीय काग्रेंस पार्टी तथा बहुजन समाजपार्टी।

इनमें से हम कुछ प्रमुख राष्ट्रीय दलों की विचारधारा, कार्यक्रम, संगठन एवं भूमिका का वर्णन करेगें।

काग्रेंस पार्टी : काग्रेंस (इ)
(Congress Party : Congress (1)

काग्रेंस की स्थापना सन् 1885 में हुई। 1907 तक काग्रेंस का लक्ष्य विदेशी शासन पर दबाव डालना मात्र था। 1907 से 1919 तक काग्रेंस उदारवादियों और उग्रवादियों में विभक्त रही। सन् 1920 से 1947 तक काग्रेंस का नेत त्व महात्मा गांधी ने किया और देश को स्वतंत्रता प्राप्त हुई। स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरान्त काग्रेंस एक राजनीतिक दल में परिवर्तित हो गयी तथा केन्द्र और राज्यों के निर्वाचनों में प्रचण्ड बहुमत प्राप्त कर सत्ता का उपयोग करने लगी सन् 1967 के आम चुनाव में कांग्रेंस की स्थिति दुर्बल हुई। सन् 1969 में काग्रेंस दो भागों में विभक्त हो गयी तथा 1971 एवं 1972 के चुनावों में काग्रेंस का पुनः प्रचण्ड विजय प्राप्त हुई। काग्रेंस किसका प्रतिनिधित्व करती है? इस प्रश्न का जवाब 15 सितम्बर, 1931 में ही महात्मा गांधी ने लन्दन में 'फेडरल स्ट्रक्च कमेटी' में भाषण के दौरान किया था, काग्रेंस मूलतः भारत में 7 लाख गांवों में बसे मूक, अद्यभूत करोड़ो लोगों का प्रतिनिधित्व करती है - चाहे वे तथाकथित ब्रिटिश भारत पर भारतीय भारत के हो। काग्रेंस यह मानती है कि उन्हीं हितों की सुरक्षा की जानी चाहिए जो इन करोंड़ो मूक लोगों के हितों का साधन करते हैं।" उन ऐतिहासिक दिनों से लेकर आज तक करोड़ो मूक लोगों तथा राष्ट्रीय हितों और दूसरी और कुछ वर्गीय हितों में सघर्ष छिड़ा काग्रेंस अपनी अधिकांश जनता के हितों के साथ द ढ़ प्रतिज्ञ रही।"

संगठन :-

कांग्रेंस की सदस्यता दो प्रकार की है - प्रारम्भिंक और सक्रिय। कोई भी ऐसा व्यक्ति जिसकी आयु 18 वर्ष हो, काग्रेंस का सदस्य बन सकता है। सदस्य बनने के लिए दल के उदेश्यों में लिखित विश्वास प्रकट करना पड़ता हैं प्रारम्भिंक और सक्रिय सदस्यों के चन्दे तथा अधिकारों में अन्तर है। सगंठन की दष्टि से ग्राम या मोहल्ला काग्रेंस सीमित संगठन की आधारभूत इकाई हैं। ग्राम और मोहल्ला काग्रेंस समितियों के उपर तहसील समितियों होती है। इसके उपर जिला सीमितयां और प्रान्तीय समितियां होती हैं। संगठन की द ष्टि से सम्पूर्ण देश पच्चीस प्रदेशों में विभक्त है। प्रान्तीय काग्रेंस समीतियों के उपर काग्रेंस का राष्ट्रीय या अखिल भारतीय सगंठन होता है जो एक अध्यक्ष एक कार्यकारणी समिति, एक अखिल भारतीय काग्रेंस समिति

और काग्रेंस के खुले वार्षिक अधिवेशन से मिलकर बनता हैं काग्रेंस ने विधान में एक नये संशोधन द्वारा अध्यक्ष कार्यकारणी समिति में अध्यक्ष के अतिरिक्त 20 अन्य सदस्य होते है। कार्यकारिणी समिति के 10 सदस्य अखिल भारतीय काग्रेंस समिति द्वारा निर्वाचित किए जाते है और 10 सदस्य कांग्रेंस अध्यक्ष द्वारा मनोनीत किए जाते है। कार्यकारिण समिति में ही काग्रेंस की सर्वोच्य शक्ति निहित हैं अखिल भारतीय कांग्रेंस समिति में तीन प्रकार के सदस्य होते है। निर्वाचित प्रदेन और सम्बद्ध संस्थाओं के प्रतिनिधि। काग्रेंस के ससंदीय कार्यो के नियंत्रण और समन्वय के लिए काग्रेंस कार्यकारिणी समिति एक संसदीय बोर्ड की स्थापना करती है, जिसमें काग्रेंसाध्यक्ष और पांच अन्य सदस्य होते हैं।

काग्रेंस (आई) की नतियाँ और कार्यक्रम

(Programme and Policies of the congress (1))

जनवरी 1980 के लोकसभा के चुनावों के समय इस दल ने जो चुनाव आविस-पत्र (Election Mainifeslo) जारी किया था और उसके बाद इस दल ने जो नीति प्रस्ताव समय-समय पर पारित किये हैं उसके अनुसार इस दल के कार्यक्रम और नीतियों को हम निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत वर्णन कर सकते है :

1. धर्म निरपेक्ष समाज
(Secular Society) :

इस दल ने यह वचन दिया था कि यह दल धर्म-निरपेक्ष की स्थापना के लिए वचनबद्ध है और इस मन्तव्य के लिए यह दल ऐसी कार्यवाहिया करेगा जिससे साम्प्रदायिक एकता और धार्मिक सहन शक्तियां विकसित हो सके। इस दल ने अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा और राष्ट्रीय जीवन में उनके प्रभावशाली सहभागिता को यकीनी बनाने के लिए आवश्यक पग उठाने का भी वचन दिया था। यह दल इस मत का समर्थक है कि सवैधानिक व्यवस्थाओं के अनुसार अल्पसंख्यकों के द्वारा स्थापित की गई शैक्षणिक संस्थाओं को पूर्ण सुरक्षा और धार्मिक तथा सांस्क तिक व्यवहार की पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त होनी चाहिए। धर्म-निरपेक्षता को शक्तिशाली बनाने के लिए यह उन राजनीतिक सास्ंक तिक और सामाजिक संस्थाओं के विरूद्ध आवश्यक कार्यवाही करने के पक्ष में है जो संस्थाए भारतीय शासन प्रणाली के मूल सिद्धान्तों को नष्ट करने के लिए साम्प्रदायिक वर्गो या जात-पात सम्बन्धी भावनाओं को उत्तेजित करती हैं।

2. अल्पसंख्यक
(Ministeis)

इस दल ने यह वचन दिया था कि साम्प्रदायिक हिंसा (Communal Violence) को समाप्त करने के लिए यह दल एक विशेष शक्ति (Force) स्थापित करेगा जिसका उदेश्य साम्प्रदायिक शक्ति स्थापित करने में सहायता करना होगा इस शक्ति में अल्पंसख्यकों, अनुसूचित जातियों और अनुसूचित कबिलों के लोग भर्ती किए जायेगें। अल्पसख्यंकों की आर्थिक स्थिति को सुधारने के प्रति भी यह दल विशेष ध्यान देने का सर्मथक हैं। अपने चुनाव आविस-पत्र में इस दल ने अल्पसंख्यकों को विश्वास दिलाया था कि सुरक्षा सेवाओं और सरकार की अन्य सेवाओं में उन्हें उचित रोजगार अवसर प्रदान किए जांएगे। इस दल ने यह भी विश्वास दिलाया कि अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के अल्पसंख्यक स्वरूप को यकीनी बनाया जायेगा और यह दल अल्पसंख्यकों के निजी कानून (Personal Law) में हस्तक्षेप नहीं करेगा।

3. प्रजातंत्र को शक्तिशाली बनाना
(Strengthaning of Demcracy) :

इस दल ने यह विश्वास प्रकट किया था कि कुछ विशेष हितों के द्वारा धन का अधिक प्रयोग और शरीरिक पक्ष से डराने धमकाने (Physcial Inlimidalious) की कार्यवाहियों को रोकने के लिए आवश्यक पग बने उठाने की तत्काल आवश्यकता हैं। इस दल के विचार में कार्यवाहियां विशेष करके पिछड़े क्षेत्रों में अत्याधिक घटती हैं और जब तक इन कार्यवाहियों को समाप्त नही किया जाता तक तक भारतीय लोकतंत्र शक्तिशाली नहीं बन सकता। इस दल ने जनता दल की सरकार पर यह दोष लगाया था कि इस सरकार ने प्रजातंत्र विरोधी ऐसी कार्यवाहियों को रोकने

के लिए कोई यत्न नहीं किये हैं, अपितु इसके विपरीत चुनावों में विजय प्राप्त करने के लिए जनता दल की सरकार ने स्वंय उन कार्यवाहियों का सहारा लिया हैं। जनता सरकार ने दल परिवर्तन को भी उत्साहित किया था और भी कुछ ऐसी कार्यवाहियाँ की थी जिनके कारण भारतीय प्रजातंत्र कमजोर है। इसलिए काग्रेंस (आई) ने इस बात पर बल दिया था कि भारतीय प्रजातंत्रीय प्रणाली में जो भी अभाव या पथभ्रष्टता प्रवेश कर गई है, उन सभी को दूर करने के लिए यह दल ठीक रूप से कार्यवाही करेगा।

4. प्रजातन्त्रीय विकेन्द्रीकरण (Democratic Decentalisation) :

इस दल ने अपने चुनाव आविस-पत्र में प्रजातंत्रीय विकेन्द्रीकरण पर द ढ़ विश्वास प्रकट किया था। इस दल का विचार है कि राजनीतिक सामाजिक और आर्थिक गतिविधियों में लोगों को विशाल स्तर पर शामिल करने के लिए प्रजातन्त्रीय विकेन्द्रीकरण की क्रिया को कार्यान्वित रूप देना अनिवार्य है। इस दल का यह मत हैं कि प्रजातन्त्रीय विकेन्द्रीकरण की क्रिया निम्न स्तर पर आरंभ होना अनिवार्य हो ताकि लोग सरकार के साथ सम्बन्धित स्थानीय स्तर के कार्यो से क्रियाशील सहयोगी बन सके।

5. आर्थिक कार्यक्रम (Economic Programme)

यह दल समाजवादी समाज (Socialist Society) स्थापित करने के लिए वचन बद्ध है। यह दल ऐसी अर्थ-व्यवस्था स्थापित करना चाहता है जो शोषण से मुक्त हो। इस उदेश्य की प्राप्ति के लिए ही यह दल योजना बन्दी का पुर्ननिमार्ण करने का समर्थक है। अर्थव्यवस्था को द ढ़ बनाने के लिए इस दल की द ष्टि से अधिक से अधिक वे वैज्ञानिक और औद्योगिक विकास की आवश्यकता है। मुद्रा स्फीति (Implation) के प्रसार को रोकन के लिए मांग और पूर्ति में ठीक संतुलन स्थापित करने के लिए यह दल उचित वित्तीय नीतियों को ग्रहण करना चाहता हैं। इस दल को विश्वास है कि इन मन्तव्यों को प्राप्ति के लिए उत्पादन को विशाल स्तर पर बढ़ाना अति आवश्यक है और यह तब ही सम्भवं हो सकता है, यदि ऐसा आर्थिक वातावरण विकसित किया जाये जिसमें लागे औद्योगिक धन्धों में पैसा लगा सके। इसके अतिरिक्त इस दल का यह विश्वास है कि जब तक आवश्यक कच्ची सामग्री उचित मात्रा में उत्पादकों को प्राप्त नही होती तब तक उत्पादन के निश्चित लक्ष्यों को प्राप्त नहीं किया जा सकता। इस मन्तव्य की प्राप्ति के लिए इस दल ने परिवहन के साधनों की योग्यता में सुधार करने, बिजली के उत्पादन को बढ़ाने और स्मगालिंग, जखीराबाजी और अन्य आर्थिक अपराधों को कठोरता सहित निपटाने के लिए आवश्यक कार्यवाहियाँ करने का विश्वास दिया था।

6. रोजगार (Employment) :

यह दल रोजगार के अवसरों को बढ़ाने के लिए औद्योगिक विकास के साधन को विशाल स्त पर अपनाना चाहता है। इस दल का विचार है कि बेरोजगारी की समस्या का समाधान करने के लिए ऐसी औद्योगिक योजनाओं को प्राथमिकता दी जाये जो रोजगार के अधिक से अधिक अवसर प्रदान करती हो। अधिक से अधिक रोजगार को यकीनी बनाने के लिए यह दल ग्रामीण और नगर क्षेत्रों में कारीगरों को अधिक से अधिक सुविधाएं देने था। समर्थन करता है ताकि वह अपने लिए आप रोजगार पैदा कर सकें। यह दल रोजगार के अवसरों को बढ़ाने के मन्तव्य से वनों का विकास, दरियाओं और सिचांई की नहरों में से रेत निकालने के कार्यो आदि को विशाल स्तर पर ग्रहण करना चाहता है। शिक्षक और योग्य युवक पुरूषों और स्त्रियों की सहायता करके उन्हें अपना करोबार चलाने के योग्य बनान इस दल के कार्यक्रम में शामिल है।

7. काश्तकारी (Agriculture) :

यह दल काश्तकारी का आधुनिकीकरण के लिए काश्तकारी की उपज को अत्याधिक बढ़ाने के पक्ष में है। इस दल ने अपने चुनाव आविस-पत्र में यह दावा किया था कि कांग्रेंस शासन के दौरान की 'लघु क षक विकास संस्था' (Small Farmer's Development Agency) स्थापित की गई थी। अत्याधिक संस्था में छोटे क षकों ने इस संस्था से अनेकों

प्रकार की रियायतें और लाभ प्राप्त किये थे। लघु क षक विकास संस्था' की गतिविधियों का सम्पूर्ण देश में विस्तार करना और इसके कार्यक्रमों का आधुनिकीकरण करना इस दल के कार्यक्रम में शामिल है।

8. उद्योग
(Industry):

यह दल छोटे ग्रामीण स्तर और विशाल स्तर के उद्योग के सामूहिक विकास पर विश्वास रखता है। उद्योग में श्रमिकों की सहभागिता को यकीनी बनाना इस दल के प्रमुख उद्देश्यों में से एक है।

9. कमजोर वर्ग
(Weaker Sections) :

इस दल ने अपने चुनाव घोषणा पत्र में यह विश्वास दिया था कि कमजोर वर्गो के लिए एक विश्वास कार्यक्रम लागू करेगा। पांच वर्षो के समय में सभी गावों को पीने के शुद्ध पानी का प्रबन्ध करना, कमजोर वर्गो के लोागों को मकान बनाने के लिए मुफत भूमि देना, शहरी क्षेत्रों में गन्दे उपनिवशों की सफाई कराना, सफाई कर्मचारियों के प्रति विशेष ध्यान देना, ग्रामीण क्षेत्रों में कर्जदारी समाप्त करना, और वचनबद्ध (bouded labour) का अन्त करना कमजोर वर्गो की स्थिति को सुधारने सम्बन्धी ग्रहण किये जाने वाले कार्यक्रम के विशेष लक्षण होंगे। काग्रेंस (आई) ने 20 सूत्रीय कार्यक्रम को फिर से लागू करने के लिए अपने चुनाव घोषणा पत्र में घोषणा की।

विदेश नीति
(Foragin Policy) :

विदेश नीति पर निम्नलिखित बातों पर बल दिया गया :

(i) आणविक तकनीति का विकास शान्तिपूर्ण क्षेत्रों के लिए जारी रहेगा।

(ii) पार्टी देश की गरिमा और सुरक्षा कायम रखेगी।

(iii) अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व और गुट-निरपेक्षता की नीति का द ढ़ता के साथ पालन किया जाएगा।

(iv) अर्न्तराष्ट्रीय मामलों में राष्ट्रीय हित और आत्मसम्मान को सर्वोपरि रखने का वचन दिया गया।

12वीं लोकसभा के चुनाव (फरवरी 1998) और काग्रेंस का चुनाव घोषणा पत्र

लोकसभा के फरवरी 1998 में सम्पन्न हुए मध्यावधि चुनावों के अवसर पर जारी चुनाव घोषणा पत्र में काग्रेंस ने बाबरी मस्जिद को ध्वस्त होने से नहीं बचा पाने के कारण बिना शर्त माफी मांगी और इसके लिए अपनी तत्कालीन सरकार के पूर्व प्रधानमंत्री पी॰वी॰ नरसिंह राव को पूरी तरह जिम्मेदार ठहराया। घोषणा पत्र में सयुक्त मोर्च को अनुमति का कुनवा बताया। जनता दल को 'एमीबा' कीड़े की तरह घोषित किया गया। इसे निराशा और घमण्डी लोगों का जमावड़ा बताया गया। कांग्रेंस ने जैन आयोग की रिर्पोट के मुद्दे पर संयुक्त मोर्चा सरकार से समर्थन वापसी को उचित ठहराया और कहा कि वह किसी भी परिस्थिति में अपने नेता राजीव गांधी की हत्या पर समझौता नहीं कर सकती।

काग्रेंस ने चुनाव घोषणा पत्र में अल्पसंख्यकों से अनेक वादे किये। कहा गया कि अल्पसंख्यकों और मानवाधिकारों के लिए एक नया मन्त्रालय गठित किया जायेगा। संविधान में संशोधन करके अल्पंसख्यक शैक्षाणिक संस्थाओं के लिए एक आयोग स्थापित करेगी। उर्दू को उसका उचित स्थान दिलाया जायेगा पार्टी भारतीयों के लिए समान निजी कानून बनाने के विचार को नहीं मानती। काग्रेंस अल्पसंख्यकों के सामाजिक और शैक्षणिक रूप से पिछड़े लोगों को आरक्षण की सुविधा देगी। उन्हें पिछड़े वर्गो के लोगों को दी जाने वाली विशेष सुविधाओं का भी लाभ देगी।

काग्रेंस ने चुनाव घोषणा पत्र में कहां है कि देश के आहिवासी क्षेत्रों में विशेष न्यायालयों को स्थापित किया जाएगा। बैकों द्वारा अनुसूचित जाति और जनजाति किसानों के लिए शुरूकी गई सौ करोड़ रूपए की विशेष ऋण व्यवस्था की राशि को दुगुना कर दिया जाएगा। उद्योगों में कर्मचारियों की हिस्सेदारी को प्रोत्साहित किया जाऐगा। पूर्व सैनिकों के पुनर्वास के लिए नए कार्यक्रम शुरू किए जायेगें। महिलाओं और लड़कियों के खिलाफ भेदभाव को समाप्त करने के लिए पार्टी एक

राजनीतिक अभिमान शुरू करेगी। कांग्रेंस सभी स्कूलों में एन॰सी॰सी॰ को अनिवार्य कर देगी। काग्रेंस यह सुनिश्चित करेगी कि सार्वजनिक वितरण प्रणाली का लाभ सिर्फ गरीब और जरूरतमन्द लोगों को मिले। वर्तमान परिवार नियोजन की खमियों को एक सुनिश्चित तरीके से दूर करने का प्रयास किया जायेगा। चुनाव घोषणा पत्र मैं काग्रेंस ने अपने आर्थिक ऐज्ण्डा की भी रूपरेखा निर्धारित की। कहा गया कि क षि और ग्रामीण बुनियादि ढांचे में विशेषकर पिछड़े इलाकों में वास्तविक पूंजी निवेश बढ़ाना होगा। ऋण प्रणालियों को फिर सशक्त बनाना होगा। बिजली, सड़क, बन्दरगाह, कोयला, तेल और गैस, खनन और दूरसंचार जैसे क्षेत्रों में घरेलू और विदेशी, सार्वजकिनक और निजी, पूंजी निवेश बढ़ाना होगा। पूंजी बाजार में फिर से उत्साह का संचार करना होगा। रोजगार परक आर्थिक गतिविधियों को नीति का विकास बनाकर उन पर विशेष ध्यान देना होगा। इनमें निर्यात्, क षि, पशुधन और पशुपालनन, सूचना टेक्नॉलोजी, आवास और निर्माण, नवीकरण, छोटे और ग्रामीण उद्योग, कपड़ा तथा पर्यटन आदि उद्योग शामिल है।

काग्रेंस ने चुनाव घोषणा पत्र में कहा कि वह विदेश नीति को देश की आर्थिक प्राथमिकताओं और चिंताओं से जोड़ेगी। कांग्रेंस देश में पाकिस्तान के सहयोग से चल रही आंतकवादी और घुसपैठ की गतिविधियों का डटकर मुकाबला करेगी। हमारी परमाणु नीति शन्तिपूर्ण और विकासात्मक बनी रहेगी। लेकिन जरूरत पड़ने पर हम अपने अन्य विकल्पों को भी खुला रखेंगे। काग्रेंस अमरीका के साथ सम्बन्धों को और मजबूत करेगी, यूरोपीय संघ के साथ समझौतों के सिलसिले को आगे बढ़ाया जाएगा। जापान के साथ और निकट के आर्थिक तथा निवेश सम्बन्ध स्थापित करने का विशेष अभिमान चलाया जाएगा। रूस के साथ ऋण समस्या का मान्य हल खोजने के प्रयास किए जांएगे। काग्रेंस पूर्ण निरशस्त्रीकरण के प्रयास जारी रखेगी। काग्रेंस ने धर्मनिरपेक्षता की अपनी नीति को फिर दुहराया। घोषणा पत्र में कहा गया कि धर्मनिरपेक्ष होने का दावा करने वाले वामंपथी मोर्दे ने सन् 1989 के चुनावों में भाजपा को सम्मान दिया। वह राष्ट्रीय मोर्चा सरकार को समर्थन देने में भी भाजपा के साथ रहा। काग्रेंस ने ही भाजपा से न कभी समझौता किया और न करेगी। पार्टी ने देश में आर्थिकस्वरूप की स्थापना को अपना लक्ष्य बताया।

"पूरे भारत से नाता है, सरकार चलाना आता है" के उद्घोष के साथ काग्रेंस ने विश्वास व्यक्त किया है कि स्थायित्वपूर्ण और धर्मनिरपेक्ष सरकार के लिए एक बार फिर उसे भारत की जनता को समर्थन मिलेगा।

13वीं लोकसभा में चुनाव (सितम्बर-अक्टूबर 1999) और काग्रेंस का घोषणा पत्र।

1999 में 13 वीं लोकसभा का चुनाव काग्रेंस ने श्रीमति सोनिया गांधी के नेत त्व में लड़ा। पिछले वर्ष सोनिया के अध्यक्ष पद सम्भालने से पार्टी को नया वशंगत उत्तरधिकारी मिल गया। सोनिया गांधी के इस चनाव में अल्पसंख्यकों और दलितों का समर्थन फिर से पाने के साथ साथ अभिजात वर्ग की सद्भावना का पहले जैसा लाभ उठाने का भरसक कोशिश की। मध्यम वर्ग का दिल जीतने के लिए पार्टी ने चुनाव घोषणा पत्र में रोजगार पर जोर देते हुए कहा कि 'एक करोड़ नए रोजगार के अवसर बनाए जाएगें'। अल्पसंख्यकों के लिए विशेष पैकेज की चर्चा करते हुए प्राथमिक शिक्षा पर जोर दिया गया।

चुनाव घोषणा पत्र के प्रमुख बिन्दु

मुद्रा स्फीति के नियन्त्रण के लिए केबिनेट समिति का गठन ।

सन् 2003 तक आपात लाइसेन्स का खात्मा करना।

छोटे किसानों को मिलने वाले कर्ज की मात्रा दोगुनी करना।

दूरसंचार में विदेशी निवेश की सीमा पर पुनविचार करना।

प्रतिरक्ष सुधारों के लिए समिति का गठन करना।

राष्ट्रीय वरिष्ठ नागरिक कोष की स्थापना।

राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा परिषद का गठन करना।

श्रम कानूनों का पुनरीक्षण तथा नई कपड़ा नीति।

भारतीय जनता पार्टी
(Bharatiya Janta Party)

भारतीय जनता पार्टी देश का एक महत्वपूर्ण राष्ट्रीय दल है। इस दल की स्थापना का मुख्य कारण जनता पार्टी की राष्ट्रीय कार्यसमिति द्वारा दोहरी सदस्यता को अस्वीकार करना था। 4 अप्रैल 1980 को जनता पार्टी के एक और विभाजन की भूमिका तैयार हो गई जब दल की राष्ट्रीय कार्यकारिणी ने अपने संसदीय बोर्ड के प्रस्ताव का अनुमोदन कर दल के विधायकों तथा पदाधिकारियों पर राष्ट्रीय स्वंय सेवक संघ के कार्यो में भाग लेने पर रोक लगा दी। इसके परिणामस्वरूप 5 अप्रैल 1980 को भूतपूर्व जनसंघ के सदस्यों ने नई दिल्ली में दो दिन का सम्मेलन बुलाया और एक नए दल की स्थापना करने का निश्चय किया। इस सम्मेलन की अध्यक्षता श्रीमति विजयराजे सिंधिया ने की। 16 अप्रैल, 1980 को 'भारतीय जनता पार्टी' की स्थापना की गई और श्री अटल बिहारी वाजपेयी को इसका अध्यक्ष निर्वाचित किया गया। इस सम्मेलन में लगभग 4 हजार प्रतिनिधि ा शामिल हुए थे। भारतीय जनता पार्टी का चुनाव/चिन्ह 'कमल का फूल' हैं।

नीति तथा कार्यक्रम
(Policy and Programme) :

भारतीय जनता पार्टी के संविधान की धारा 2 में कहा गया है कि "पार्टी राष्ट्रीय समन्वय, लोकतंत्र, सकारात्मक धर्म निरपेक्ष, राजनीति के लिए क तसंकल्प है। पार्टी आर्थिक तथा राजनीतिक सत्ता के विकेंद्रीकरण में विश्वास रखती है।"

सन् 1998 में हुए लोकसभा चुनावों से पूर्व 3 जनवरी 1998 को भारतीय जनता पार्टी द्वारा जारी किए गए अपने चुनाव घोषणा पत्र में निम्नलिखित मुख्य बातें शामिल थी :-

1. अयोध्या में राम मंदिर के निर्माण के लिए सभी प्रयास किऐ जायेगें।
2. उत्तरांचल, वनाचल, विदर्भ तथा छतीसगढ़ को प थक राज्यों का दर्जा दिया जाएगा।
3. राजधानी दिल्ली को पूर्ण राज्य का दर्जा दिया जाएगा।
4. प्रतिवर्ष एक करोड़ नौकरियां तथा बीस लाख नये मकान।
5. सरकारिया आयोग की सिफारिशों पर तुरन्त अमल किया जायेंगा।
6. महिलाओं के लिए शिक्षा तथा संसद में 33% आरक्षण।
7. अनुच्छेद 356 के दुरूपयोग को रोकने के लिए कदम उठाए जायेंगे।
8. अनुच्छेद 370 को जम्मू व कश्मीर के विशेष स्तर से सम्बन्धित है, को समाप्त किया जायेगा।
9. भ्रष्टाचार को रोकने के लिए योजनाबद्ध तरीके से कदम उठाने की घोषणा करते हुए कहा गया है कि लोकपाल की नियुक्ति की जायेगी और प्रधानमंत्री सहित सार्वजनिक पदों पर प्रतिष्ठित सभी लोग उसकी परिधि में आयेंगे।
10. प्रत्येक निर्वाचित प्रतिनिधि को 90 दिन के भीतर अपने तथा अपने परिवार जनों की सम्पति का ब्यौरा देना होगा।
11. सी॰बी॰आई॰ को और अधिक स्वायत्तता दी जायेगी।
12. न्यायिक व्यवस्था में सुधार किया जाएगा और पार्टी शीघ्र ही निष्पक्ष एवं कम खर्चीला न्याय दिलाने के लिए अनेक कदम उठायेगी।
13. गतयंवाद का सामना करने के लिए पार्टी उपयुक्त कानून बनायेगी शांति एवं व्यवस्था को बनाए रखने के लिए राज्य सरकारों को समय पर सहायता उपलब्ध कराऐगी, अवैध शस्त्रों का पता लगाने तथा उनकी तस्करी को रोकने के

लिए देशव्यापी अभियान चलायेगी।

14. घोषणा पत्र में कहा गया है कि भारत को ऐसी नीतियां अपनानी चाहिए जिससे सकल घरेलू उत्पाद में 8-9 प्रतिशत की व द्धि दर वार्षिक रूप से बनाई जा सके।

15. पार्टी सभी मान्यता प्राप्त राजनीतिक दलों के चुनाव खर्च के लिए सरकारी सहायता देने की एक योजना लागू करने पर विचार करेगी।

16. 'स्वदेशी' पर अपना द ष्टिकोण स्पष्ट करते हुए घोषणा पत्र में कहा गया है कि इसका सीधा-साधा अर्थ है -सर्वप्रथम भारत। सभी राष्ट्रो का यह मुख्य सिद्धान्त है कि अपने देश की वस्तुओं को प्राथमिकता दी जाये।

17. संविधान की समीक्षा के लिए एक आयोग का गठन किया जायेगा।

18. अर्थव्यवस्था के वैश्वीकरण पर जोर, कर सम्बन्धी मामलों का सरलीकरण तथा कर दायरें को व्यापक बनाना।

19. देश को आंतक और दगों से मुक्ति।

20. घोषणा पत्र में भाजपा ने वायदा किया है कि देश की सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए परमाणु अस्त्रों के निर्माण के विकल्प को खुला रखा जाऐगा। इस सम्बन्ध में वह किसी का भी आदेश नही मानेंगे।

21. विदेश नीति के सम्बन्ध में घोषणा पत्र में ये कहा गया है कि भाजपा सभी देशों के साथ शांति स्थापित करने, भारत के आकार और उसकी क्षमता के अनुसार विश्व के मामलों में भारत की भूमिका और उसकों समुचित स्थान दिलाने सयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद् में भारत को स्थाई स्थान दिलाने के लिए जोरदार प्रयत्न करेगी।

13वीं लोकसभा के चुनाव (सितम्बर-अक्टूबर 1999) तथा भारतीय जनता पार्टी का घोषणा पत्र

13 वीं लोकसभा चुनावों के अवसर पर भाजपा ने अपना प थक घोषणा-पत्र जारी नही किया। राष्ट्रीय जनतान्त्रिक गठबन्धन का प्रमुख घटक होने के कारण पार्टी ने राजग घोषणा पत्र के आधार पर ही चुनाव लड़ा। इस चुनाव में पार्टी ने राम मन्दिर, अनुच्छेद 370, समान नागरिक संहिता जैसे विवादास्पद मुद्धों को फिलहाल ठण्डे बस्ते में डाल दिया। 24 दलों के राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबन्धन को साथ लेकर अटल बिहारी वाचपेयी के नेत त्व में भाजपा ने 339 सीटों पर प्रत्याशी खड़े कर 182 सीटें हासिल की।

चुनाव : 1999 : राष्ट्रीय जनतान्त्रिक गठबन्धन के घोषणा-पत्र के प्रमुख बिन्दु।

1. विदेशी मूल के लोगों को विद्यापिका, न्यायपालिका और कार्यपालिका में उच्च पद देने पर पाबन्दी।
2. लोकसभा अपना कार्यकाल पूरा करें, इसकी पक्की व्यवस्था।
3. घरेलू उद्योग को खास महत्व।
4. नई सूचना प्रौद्योगिकी नीति।
5. रोजगार और महिलाओं के उद्यमों को कर्ज देने के लिए बैंक की स्थापना।
6. राष्ट्रीय बचत को सकल घरेलू उत्पाद के 24 प्रतिशत से बढ़ाकर 30 प्रतिशत करना।
7. योजना राशि का 60 प्रतिशत क षि और ग्रामीण विकास पर।
8. निजी आपरेटरों की नियन्त्रित के लिए प्रसारण विधेयक।

भारतीय जनता पार्टी का चेन्नई घोषणा पत्र :

28-30 दिसम्बर 1999 को भाजपा की राष्ट्रीय परिषद ने अपनी चेन्नई बैठक में चेन्नई घोषणा-पत्र की स्वीक ति प्रदान की। ग हमंत्री लाल क ष्ण अडवाणी के अनुसार यही घोषणा पत्र अब भाजपा की आगे की सोच है। घोषणा पत्र में राम जन्मभूमि सहित सभी विवादित मुद्धों को दरकिनारा कर राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबन्धन (राजग) के ऐजण्डे को निष्ठापूर्वक लागू करने का

संकल्प व्यक्त किया गया है। प्रारम्भ में कहा गया है कि हर कार्यकर्ता को यह अच्छी तरह समझना चाहिए कि राजग के ऐजेण्डे को छोड़कर पार्टी का अपना कोई ऐजेण्डा नहीं है। अल्पसंख्यकों के बारे में पार्टी का द ष्टिकोण स्पष्ट करते हुए घोषणा पत्र में कहा गया है कि भाजपा कभी एक-दूसरे के धर्म में मतभेदों को राष्ट्र निर्माण के मार्ग में बाधक नहीं बनने देगी।

संक्षेप में, भाजपा ने अपने को नई सदी के लिए तैयार करने के लिए जारी चेन्नई घोषणा-पत्र के प्रारूप में रामजन्म भूमि सहित सभी विवादित मुद्धों को अलग रखकर राजग के ऐजेण्डे को निष्ठापूर्वक लागू करने तथा देश को बहुंसख्यकों और अल्पसंख्यकों के क त्रिम विभाजन से मुक्त करने का संकल्प लिया है।

भारतीय साम्यवादी दल
(Communist Party of India)

भारत में साम्यवादी दल की स्थापना सन् 1924 में हुई, परन्तु सन् 1934 में इस दल को, अवैध घोषित कर दिया तथा इसके नेताओं को बंदी बना लिया गया। द्वितीय महायुद्ध में जब रूस भी अग्रेंजों के साथ शामिल हो गया तो इस दल ने अग्रेंजों का समर्थन करना आरम्भ कर दिया जिसके परिणामस्वरूप 1943 में इस दल पर से प्रतिबंध हटा लिया। इस काल में अनेक साम्यवादी नेता काग्रेंस में शामिल हो गए, परन्तु 1945 में जब काग्रेंसी नेता जले से छूटकर आए तो इन साम्यवादियों को काग्रेंस से बाहर निकाल दिया गया।

भारत की स्वतंत्रता के बाद इस दल ने काफी प्रगति की। सन् 1957 में इसे केरल में प्रथम गैर-काग्रेंसी सरकार बनाने का अवसर मिला, परन्तु 1962 के भारत-चीन युद्ध के बारे में इस दल में फूट पड़ गई। इसके एक गुट ने भारत सरकार का समर्थन किया परन्तु दूसरे गुट ने चीन को ठीक बतलाया और भारत सरकार से अनुरोध किया कि वह चीन के साथ वाती आरम्भ करें।

सन् 1964 में इस दल का विभाजन हुआ और इस में वामंपथी सदस्यों ने श्री गोपालन के नेत त्व में एक अन्य दल साम्यवादी दल मार्क्सवादी [C.P.I. (M)] की स्थापना की।

सन् 1996 में हुए लोकसभा चुनावों से पूर्व पार्टी में महासचिव की इद्रंजीत गुप्त द्वारा 27 मार्च 1996 को पार्टी का जो घोषणा पत्र जारी किया गया था। उसमें मुख्य रूप से निम्नलिखित बातें शामिल थी :-

1. आर्थिक क्षेत्र में उदारीकरण, भूमंडलीकरण और निजीकरण की नीतियों को रोका जाएगा।
2. सार्वजनिक क्षेत्र के प्रतिष्ठानों के प्रबन्ध को व्यवसायिक बनाया जाएगा और मजदूरों की भागीदारी के जरिए उसका लोकतंत्रीकरण किया जाएगा।
3. बजट का 50 प्रतिशत क षि, बागवानी, मत्सय पालन, पशुपालन आदि के विकास के लिए निर्धारित किया जाएगा।
4. क षि उत्पादों के लिए लाभकारी मूल्य और उपभोक्ताद्धों के लिए युक्तिसंगत कीमतें तय की जाऐगी।
5. छोटे उद्यामियों एवं स्वरोजगार शुदा लोागों के लिए अवसरों का विस्तार किया जाएगा।
6. काला धन (Black Money) को बाहर निकालने के लिए कठोर प्रयास किए जांएगे।
7. केवल कुछ विशेष क्षेत्रों में विदेशी निवेश की अनुमति दी जाएगी और जहां उच्च टेक्नालोजी की आवश्यकता हो, वहीं बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को स्वीक ति दी जाएगी।
8. सभी गांवों तथा शहरी गरीबों के इलाकों में स्वच्छ पीने के पानी की व्यवस्था की जाएगी।
9. काम के अधिकार को (Right to work) संविधान में मौलिका अधिकार के रूप में शामिल किया जाएगा और बेकारी भत्ता (Unemployment allowance) देने की शुरूआत की जाएगी।
10. 14 वर्ष की आयु तक के सभी बच्चों के लिए नि:शुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था की जाएगी।
11. बाल मजदूरी व बंधुआ मजदूरी को समाप्त किया जाएगा।
12. दलितों और पिछड़े वर्ग के लोगो के लिए आरक्षण सम्बन्धी नीतियों को लागू किया जाएगा।

13. अलग उत्तराखंड राज्य की स्थापना के लिए संवैधानिक तथा प्रशासनिक कदम उठाए जाएगें।
14. महिलाओं और पुरूषों के लिए समान परिश्रमिक की व्यवस्था लागू की जाएगी।
15. एक लोकतांत्रिक आवास नीति बनाई जाएगी तथा मध्यवर्गीय लोगों को सस्ता आवासीय कर्ज दिया जाएगा।
16. धर्मनिरपेक्षता की सभी प्रकार की साप्रंदायिकता शक्तियों के प्रहार में रक्षा की जाएगी।
17. आपराधिक रिकार्ड (Criminal Record) वाले व्यक्तियों को चुनाव में उम्मीदवार नही बनाया जाएगा।
18. व्यापक रूप से चुनाव सुधार लागू किए जांएगे और आचार संहिता (Code of Conduct) लागू की जाऐगी।
19. गुटनिरपेक्ष आंदोलन (Non-Alignment Movement) को सशक्त बनाया जाएगा और नाभिकीय अप्रसार सन्धि पर हस्ताक्षर करने से मना किया जाएगा।
20. उर्दू तथा सिंधी को संवैधानिक मान्यता प्रदान की जाएगी।
21. सरकारिता आयोग की सिफारिशों के अनुसार राज्यों को अधिक वित्तीय अधिकार देने, अंतर्राज्यीय परिषद का पुनर्गठन करने, लोकपाल व्यवस्था लागू करने तथा स्थानांतरण (Transfer) और नियुक्ति में भ्रष्टाचार को रोकने का भी पार्टी द्वारा वायदा किया गया।

भारतीय साम्यवादी दल (मार्क्सवादी)
Communist Party of India (Marxist)

सन् 1998 में हुए लोकसभा चुनावों से पहले वाम मोर्चा (मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी, कम्युनिस्ट पार्टी, राष्ट्रीय सोशलिस्ट पार्टी और आल इंडिया फार्रवड ब्लाक) द्वारा सयुंक्त चुनावी घोषणा पत्र 16 जनवरी 1998 को जारी किया गया। इस घोषणा पत्र में मुख्य रूप से निम्नलिखित बातें शामिल हैं :

1. मोर्चा के सत्ता में आने पर धर्म को राजनीति से अलग करने के लिए कानून बनाया जाएगा अयोध्या विवाद को निपटाने के लिए पार्टी इस मामले को उच्चतम न्यायालय में ले जाएगी।
2. घोषणा-पत्र में कहा गया है कि तेजी से उदारी करण की और दौड़ रही अर्थ व्यवस्था पर रोक लगाई जाएगी और निजीकरण को रोका जाएगा। बीमार मिलों और कारखानों को पुनः चलाने का प्रयास किया जाएगा। देश में विदेशी पूंजी का अंधाधुंध प्रवेश रोका जाएगा।
3. बैंकिग व्यवस्था के निजीकरण पर भी पूरी रोक लगाई जाएगी और नए प्राइवेट बैंक नही खोलने दिये जाऐगे।
4. जम्मू व कश्मीर से सम्बन्धित संविधान के अनुच्छेद 370 को बनाए रखा जाएगा। साथ ही राज्य को अधिक स्वतंत्रता भी दी जाएगी।
5. उत्तर-पूर्वी राज्यों को विघटन से रोकने के लिए विघटनकारी तत्वों से खुलकर बातचीत की जायेगी।
6. घोषणा पत्र में कहा गया हैं कि देश में सम्पूर्ण सामाजिक न्याय को साकार बनाने के लिए क षि मजदूरों के लिए केन्द्रीय कानून बनाया जाएगा, फसल तथा पशुओं के बीमा की व्यवस्था की जाएगी।
7. काले धन को रोकने के लिए कड़े उपाय किये जायेंगे।
8. सार्वजनिक वितरण प्रणाली को और व्यापक बनाया जाएगा। गरीबी रेखा से नीचे के लोगों को केन्द्र से घोषित कीमतों से आधी कीमत पर खाद्यन्न उपलब्ध कराया जाएगा।
9. 14 वर्ष तक की आयु के बच्चों को निःशुल्क शिक्षा देने का वादा किया गया और कहा गया कि केन्द्रीय बजट में शिक्षा पर कम से कम दस प्रतिशत और राज्यों में इस मद पर तीस प्रशित खर्च होना चाहिए।
10. घोषणा पत्र में महिलाओं को समान अधिकार देने संसद एवं राज्य विधानसभाओं में एक तिहाई आरक्षण आदि अनुसूचित जाति तथा जनजातियों के आरक्षण कोटे को पूरी तरह से भरने की बात कही गई।
11. दलित ईसाइयों के लिए भी आरक्षण का वादा किया गया।

12. अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा, उर्दू भाषा के सरक्षंण तथा प्रसार भारती को मजबूत बनने की बात भी कही गई है।

13. संविधान के अनुच्छेद 356 में समुचित संशोधन सुनिश्चित वामपंथी दल करेंगें ताकि राज्य सरकारों को बर्खास्त करने के केन्द्र के निरकुश अधिकारो पर रोक लग सके।

14. विदेशी नीति के बारे में वामपंथी दलों ने कहा कि वह अप्रसार सन्धि या व्यापक परीक्षण प्रतिबंध सन्धि पर भारत के हस्ताक्षर न करने पर जोर देंगे, क्योंकि यह भारत के प्रति भेदभाव जनक है। वे दक्षिण एशियाई देशों से सहयोग बढ़ाना चाहेंगे तथा अपने को मजबूत करेंगें।

15. वामंपथी दल-बदल विरोधी कानून में संशोधन सुनिश्चित करेंगे ताकि अपनी पार्टी छोड़ने वाले निर्वाचित प्रतिनिधि के लिए अपनी सीट छोड़ना अनिवार्य हो जायेगा।

16. घोषणा पत्र में प्रधानमंत्री समेत सभी लोकसेवकों के खिलाफ भ्रष्टाचार के मामलों में जांच और अभियोग चलाने के लिए लोकपाल कानून बनाने का वायदा किया गया है।

17. घोषणा पत्र में कहा गया है कि वामंपथी दल पार्टियों और मित्रों के चुनाव खर्च को भी प्रत्याशी के खर्च में शामिल करने पर जोर देगी तथा चुनाव खर्च की अधिकतम सीमा सम्बन्धी प्रावधान का परिपालन सुनिश्चित करने के लिए जन प्रतिनिधित्व अधिनियम में संशोधन का मुद्दा उठाएगी।

18. मोर्चा सत्ता में आने पर प्रसार भारती निगम को मजबूत करने तथा प्रिंट और इलैक्ट्रानिक मीडिया में एकाधिकारवाद को रोकने के लिए काम करेगी।

अध्याय-21
भारतीय राजनीति में दबाव समूह
(Pressure Groups in Indian Politics)

राजनीतिक प्रक्रिया में दबाव समूहों का विशेष महत्व है। ऐसा भी समय था जब दबाव तथा हित समूहों को अनैतिक माना जाता था। किन्तु आधुनिक काल मे दबाव तथा हित समूहों को लोकतन्त्र का पक्षपोषक एवं सहयोगी माना जाने लगा है। विभिन्न देशों की राजनीतिक व्यवस्था में इन समूहों का महत्व और योगदान इतना अधिक बढ़ गया हैं कि इन्हें न केवल एक आवश्यक बुराई माना जाता है अपितु राजनीतिक क्रियाशीलता एवं सार्वजनिक नीतियों के प्रभावशाली क्रियान्वयन के लिए स्वास्थ्य जनक तत्व भी स्वीकार किया जाता है।

दबाब समूह : अर्थ एवं परिभाषा
(Pressure Groups : Meaning and Definition)

दबाव समूहों को विभिन्न नामों से सम्बोधित किया गया है हित समूह, गैर-सरकारी संगठन, लॉबीज, अनौपचारिक संगठन, गुट आदि शब्दों का प्रयोग दबाव समूहों के लिए किया जाता रहा है। दबाव समूहों तथा अन्य संगठन में अन्तर आवश्य है। सभी संगठन दबाव समूह नहीं होते और न हित समूह और दबाव समूह समान ही है। प्रत्येक देश और समाज में सैकड़ो हित समूह होते है, किन्तु जब वे सत्ता को प्रभावित करने के इरादे से राजनीतिक द ष्टि से सक्रिय हो जाते हैं तो 'दबाव समूह' बन जाते है। व्यक्तियों के ऐसे समूहों को दबाव समूह कहा जाता है जो किसी कार्यक्रम के आधार पर निर्वाचको को प्रभावित नही करतें, लेकिन जिनका सम्बन्ध विशेष मामलों से होता है। ये राजनीतिक संगठन नहीं होते और न ही चुनावों में अपने प्रत्याशी खड़ा करते है।

ओडिगार्ड के अनुसार, "दबाव समूह ऐसे लोगों का औपचारिक संगठन है जिनके एक अथवा अधिक सामान्य उद्धेश्य या स्वार्थ होते हैं और वे घटनाओं के क्रम को विशेष रूप से सार्वजनिक नीति के निर्माण एवं शासन को इसलिए प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं कि अपने हितों की रक्षा एवं व द्धि कर सके।" माइनर वीनर के शब्दों में," दबाव समूहों से हमारा तात्पर्य शासकीय व्यवस्था के बाहर किसी भी ऐसे ऐच्छिक, किन्तु संगठित समूह से है जो शासकीय अधिकारियों की नामजदगी अथवा नियुक्ति, सार्वजनिक नीतिक के निर्धारण, उसके प्रशासन और समझौता व्यवस्था को प्रभावित करने का प्रयास करता है।

वास्तव मे दबाव समूह ऐसा माध्यम है जिनके द्वारा सामान्य हित वाले व्यक्ति सार्वजनिक मामलों को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं। इस अर्थ में ऐसा कोई भी सामाजिक समूह जो प्रशासनिक और संसदीय दोनों ही प्रकार के प्रदाधिकारियों को, सरकार पर नियन्त्रण प्राप्त करने हेतु कोई प्रयत्न किये बिना ही प्रभावित करना चाहते हैं तो दबाव गुट की श्रेणी में आयेगें। दबाव समूहों की तुलना 'अज्ञात साम्राज्य' (Anonymous Empire) से की जाती है। जबञ्इनके हित संकट में होते है अथवा जब इन्हें कतिपय स्वार्थो की प्राप्ति करनी होती है तो वे सक्रिय बन जाते हैं। अन्यथा वे हित समूहों के रूप में निष्क्रिय ही बने रहते हैं।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर दबाव समूहों के प्रमुख लक्षण इस प्रकार है:

(i) दबाव समूह अपने उद्धेश्यों की प्राप्ति के लिए नीति-निर्माताओं को प्रभावित करते हैं।

(ii) दबाव समूहों का सम्बन्ध विशिष्ट मसलों (Special Issues) से होता है।

(iii) ये राजनीतिक संगठन नहीं होते और न ही ये चुनाव में भाग लेते है।

(iv) दबाव समूहों को अज्ञात साम्राज्य कहा गया है। जब उनके हित खतरे में होते है तो वे सक्रिय बन जाते है।

दबाव समूहों का महत्व
(Importance of Pressure Groups)

दबाव समूहों का महत्व अत्यन्त व्यापक बनता जा रहा है। अधिकांश देशों में संविधान इस बात को स्वीकार करते हैं कि वहां पर इस प्रकार के समूहों के विकास के लिए उपयुक्त सुविधाएं प्रधान की जायें। ये समूह प्रशासन को जन-इच्छा के अनुकूल बनाने में महत्वपूर्ण कार्य करते हैं। दबाव समूहों की उपयोगिता तथा महत्व निम्नलिखित रूप से वर्णित किया जा सकता है:

(i) जनतान्त्रिक प्रक्रिया की अभिव्यक्ति के लिए दबाव समूह :

दबाव समूहों को लोकतन्त्र की अभिव्यक्ति का साधन माना जाता है। लोकतन्त्र की सफलता के लिए लोकमत तैयार करना आवश्यक है ताकि विशिष्ट नीतियों का समर्थन अथवा विरोध किया जा सके। विभिन्न देशों में दबाव समूह विभिन्न तरिकों से अपनी बात मनवाने के लिए प्रयत्नयशील रहते हैं। लोकमत को शिक्षित करके, आंकड़े इक्ठठे करके, नीति निर्माताओं के पास आवश्यक सूचनाएं पहुंचाकर अपने अभीष्ट की प्राप्ति करना आज जनतान्त्रिक प्रक्रिया का अंग बन गया है।

(ii) शासन के लिए सूचनाएं एकत्रित करने वाले संगठनों के रूप मे दबाव समूह :

प्रत्येक देश में सरकार तथा शासन के पास आवश्यक सुचनाएं पर्याप्त रूप से होनी चाहिए। शासन की सूचनाओं के गैर-सरकारी स्त्रोतों के रूप मे दबाव समूह महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते है। दबाव समूह आंकड़े इक्ठठे करते है, शोध करते हैं तथा सरकार को अपनी कठिनाइयों से परिचित कराते है।

(iil) शासन को प्रभावित करने वाले संगठन के रूप में दबाव समूह :

आजकल दबाव समूहों का अस्तित्व एक ऐसी संस्था के रूप मे हैं जिनके पास इस द ष्टि से काफी शक्ति होती है कि वह स्वार्थ या हित विशेष की रक्षा के लिए सरकारी मशीनरी पर उपयोगी व सफल प्रभाव डाल सकें।

(iv) सरकार की निरकुंशता को सीमित करना :

प्रत्येक शासन-व्यवस्था में केन्द्रीकरण की प्रव ति बढ़ रही है और समूची शक्तियां सरकार के हाथों में केन्द्रित होती जा रही हैं। दबाव समूह अपने साधनों द्वारा सरकारी निरकुंशता को परिसीमित करते है।

(v) समाज और शासन में सन्तुलन :

दबाव समूहों के अस्तित्व का एक लाभ यह है कि विभिन्न हितों के बीच सन्तुलन सा बना रहता है और इस प्रकार केाई भी एकामात्र प्रभावशाली सत्ता उदित नहीं हो पाती। व्यापारी, श्रमिक, किसान, जातीय समुदाय, स्त्रियां और धार्मिक समुदाय, आदि सभी अपने स्वयं के हितों को प्राप्त करना चाहते है, किन्तु उनको एक-दूसरे से प्रतियोगिता करने के लिए मजबूर किया जाता है। इसके परिणामस्वरूप समाज और शासन में सन्तुलन स्थापित हो जाता है और यह सन्तुलन कर्त्ता प्रवति (Countervailing Tendency) समाज को उस स्थिति से बचाती है जिसमें कि वह व्यक्तिगत समुदाय ही सारी शक्ति को हथिया लेते हैं।

व्यक्ति और सरकार के मध्य संचार के साधन

दबाव समूह लोकतान्त्रिक राज्य-व्यवस्था में व्यक्तिगत हितों का राष्ट्रीय हितों के साथ सांमज्य स्थापित करते हैं। ये समूह नागरिक और सरकार क बीच संचार साधन का कार्य करते हैं।

विधानमण्डल के पीछे विधानमण्डल का कार्य :

दबाव समूह विधि निर्माण में विधायकों की सहायता करते हैं। अपनी विशेषता तथा ज्ञानगुरूता के कारण ये विधि-निर्माता समितियों के सदस्यों को आवश्यक परामर्श देते हैं। इनका परामर्श और सहायता दोनों ही इतनी उपयोगी होती है कि इन्हें विधानमण्डल के पीछे का विधानमण्डल कहा जाने लगा है।

दबाव समूह एवं राजनीतिक दल
(Pressure Groups and Political Parties)

भारत की राज-व्यवस्था में राजनीतिक दलों एवं दबाव समूहों में अन्तर करना एक कठिन कार्य है। हमारे देश में बहुदलीय प्रणाली विकसित हुई है तथा दलों की संख्या इतनी अधिक है कि वे गुटीय राजनीति के उपकरण बन जाते हैं फिर भी राजनीतिक दलों और दबाव समूहों में आधारभूत अन्तर है जोकि निम्नलिखित है:

(i) राजनीतिक दल चुनावों में भाग लेते हैं जबकि दबाव समूह चुनावों में अपने प्रत्याशी खड़ा नहीं करते।

(ii) राजनीतिक दलों के विस्त त उद्धेश्य तथा कार्यक्रम होते हैं जबकि दबाव समूहों के संकूचित लक्ष्य होते हैं।

(iii) राजनीतिक दल विधानमण्डलों में कार्य करते है जबकि दबाव समूह विधानमण्डलों के बाहर कार्य करते है।

दबाव समूहों के तरीके
(Pressure Groups Techniques)

दबाव समूह अपने स्वार्थो के लिए उपयुक्त साधन या तरीके अपनाते है। प्राचीन समय मे उनके साधनों को बुरी नजर से तथा घ णा से देखा जाता था, किन्तु आज इन्हें बुरा नहीं माना जाता। दबाव समूह द्वारा अपनाये जाने वाले साधन इस प्रकार है:

(1) प्रचार व प्रसार के साधन

अपने उद्धेश्यों की प्राप्ति के लिए जनता मे अपने पक्ष में सद्भावना का निर्माण करने के लिए और उद्धेश्य प्राप्ति में सहायक सिद्ध होने वालों के द ष्टिकोण को अपने पक्ष में करने के लिए विभिन्न दबाव समूह अथवा वर्गीय या आर्थिक हितों के प्रभावशाली संगठन प्रेस, रेडियों, टेलीविजन और सार्वजनिक सम्बन्धों के विशेषज्ञों की सेवाओं का उपयोग व प्रयोग करते हैं।

आकड़े प्राकशित करना :

नीति-निर्माताओं के समक्ष अपने पक्ष को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करने के लिए दबाव समूह आकड़े प्रकाशित करते हैं, ताकि अपनी बात को पुरा करवा सके।

गोष्ठियाँ आयोजित करना :

आजकल दबाव समूह विचार-विमर्श तथा वाद-विवाद के लिए गोष्ठियाँ, सेमिनार तथा भाषण मालाएं तथा वार्ताएं आयोजिक करते हैं। इन गोष्ठियों में विधायिका तथा प्रशासिका के प्रमुख अधिकारियों को आमन्त्रिण करते हैं और उन्हें अपने मत से प्रभावित करने का प्रयास करते हैं।

संसद की लॉबियों में सक्रिया रहना :

दबाव समूह अपने एजेण्टों के माध्यम से ससंद के सभाकक्षों में जाकर सदस्यों को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं। व्यावसायिक संगठन संसद की लॉबियों में संसद सदस्यों को प्रभावित करने के लिए चतुर वकीलों या एजेण्टों को नियुक्त करते हैं, जो अपने स्वार्थो की पूर्ति हेतु कठोर परिश्रम करते हैं। लॉबी क्षेत्र के एजेन्ट अपने न्यायासंगत अधिकारों की रक्षा हेतू खुले उपायों का भी सहारा लेते हैं। विधायकों के साथ सर्म्पक स्थापित करते हैं, उनकी गतिविधियों पर निगरानी रखते हैं, और विचारधारा को बदलने का प्रयास करते हैं।

रिश्वत तथा बेईमानी :

अपने ध्येय की रक्षा के लिए दबाव समूह रिश्वत व घूस देने में नहीं कतराते। बेईमानी के तरीकों का भी यथासम्भव प्रयोग करते हैं तथा विरूक्ष हितों को अपने स्वार्थ सिद्धि के लिए बदनाम करवा देते है।

लॉबीइंग :

लॉबींड्ंग से अभिप्रायः है 'सरकार को प्रभावित करना'। यह एक राजनीतिक उपाय है। लॉबीस्ट का काय्र करने वाले व्यक्ति दबाव समूह और सरकार के बीच मध्यस्थ होते हैं। ये लॉबीस्ट तीन प्रकार के कार्य करते हैः- सूचनाएं प्रसारित करते हैं, नियोजनकर्ता के हितों की रक्षा करते हैं तथा विधियों के राजनीतिक प्रभावों को स्पष्ट करते है। लॉबीस्ट के माध्यम से दबाव समूह विधि निर्माताओं को प्रभावित करते हैं और वांछित लक्ष्यों की प्राप्ति करते हैं।

संसद सदस्यों के मनोनयन में रूचिः

दबाव समूह ऐसे व्यक्तियों को चुनावों में दलीय प्रत्याशी मनोनीत करवाने में मदद देते हैं जो आगे चलकर संसद में उनके हितों की अभिव द्धि में सहायक हो। ऐसा कहा जाता है कि लोकतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था में संसद सदस्य दबाव समूहों की जेब में होते है। चुनावों में संसद सदस्य को पैसा चाहिए और जिसे दबाव समूह उपलब्ध कराते हैं। वे पैसा की खोज में दबाव समूहों के पास जाते हैं और बदले में उन्हें दबाव समूहों की मांग का समर्थन करना पड़ता है।

प्रदर्शन :

कभी-कभी दबाव समूह उग्र आन्दोलनत्मक तथा प्रदर्शनकारी साधनों का भी प्रयोग करते हैं। प्रायः प्रदर्शनकारी दबाव समूहों द्वारा ही ऐसे साधनों का अधिक प्रयोग किया जाता है। आजकल तो दूसरे अन्य दबाव समूह भी हड़ताल, जुलूस, रैली आदि साधनों का आमतौर से प्रयोग करने में लगे है।

भारत में दबाव समूह
(Pressure Groups in India)

स्वाधीनता से पहले अनेक हित समूह भारतीय राजनीति में क्रियाशील रहे हैं। ब्रह्म समाज, धर्मसभा, तरूण बंगाल ग्रुप, सत्यशोधक समाज, ब्रिटिश इण्डियन ऐशोसिएशन आदि हित समूह समाज-सुधार के रूप में कार्यरत थे। सन् 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस तथा 1906 में मुस्लिम लीग की स्थापना हुई। आमण्ड तथा कोलमेन का मत है कि दक्षिण एशिया के प्रारम्भिक आधुनिक समुदाय यथार्थ में हित समूह ही थे न कि राजनीतिक दल। कांग्रेस, मुस्लिम लीग, इत्यादि का ध्येय तो मात्र मध्यम वर्ग के हितों की ही अभिव द्धि करना था और इसलिए इन्हें प्रारम्भिक हित समूह कहा जा सकता है। बाद में कांग्रेस एक राष्ट्रीय आन्दोलन में परिवर्तित हो गयी। हित समूह से राष्ट्रीय आन्दोलन में परिवर्तन की इस घटना ने भारतीय राजनीति मे उदित होने वाले दबाव समूह के स्वरूप और ढांचे को अत्यधिक प्रभावित किया है। कांग्रेस को एक जन आन्दोलन के रूप में संगठित करने के ध्येय से हमारे राष्ट्रीय नेताओं ने क षक सघों, श्रमिक संघों, छात्र समुदायों, आदि का निर्माण किया। अतः यह कहना उचित होगा कि स्वाधिनता से पूर्व भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस एक ऐसा संगठन था जिससे भांति भांति के हित समुदाय संगठित होकर अपने हितों की अभिव द्धि करते थें। मुस्लिम समाज के हितों की अभिव द्धि के लिए मुस्लिम लीग भी इस काल में काफी सक्रिय रही है। मुस्लिम लीग के प्रभाव को सन्तुलित करने के लिए ही हिन्दू महासभा की स्थापना की गयी थी।

दबाव समूहों के प्रकार
(Kinds of Pressure Groups)

भारत में क्रियाशील दबाव समूहों को आल्मोण्ड तथा पॉवेल मण्डल के आधार पर चार समूहों में विभाजित किया जा सकता हैः

(i) संस्थात्मक दबाव समूह (Institutional Pressure Groups)

(ii) समुदायात्मक दबाव समूह (Associational Pressure Groups)

(iii) असमुदायत्मक दबाव समूह (Non-Associational Pressure Groups)

(iv) प्रदर्शनात्मक दबाव समूह (Anomic Pressure Groups)

(1) भारतीय राजनीति में संस्थामक दबाव समूह
(Institutional Pressue Groups)

संस्थानात्मक दबाव समूह राजनीतिक दलों, विधानमण्डलों, नौकरशाही आदि में सक्रिय रहते है। इनके औपचारिक संगठन होते हैं, ये स्वायत रूप से क्रियाशील रहते हैं अथवा विभिन्न संस्थाओं की छत्रछाया में पोषित होते हैं, ये अपने हितों की अभिव्यक्ति करने के साथ-साथ अन्य सामाजिक समुदायों के हितों का भी प्रतिनिधित्व करते है।

भारतीय राजनीति समूहों में इस स्वरूप के संस्थानात्मक दबाव समूहों में कांग्रेस कार्य समिति, कांग्रेस संसदीय बोर्ड मुख्यमन्त्री क्लब, केन्द्रीय चुनाव समिति, नौकरशाही को लिया जा सकता है।

कांग्रेस न केवल भारत का प्रमुख राजनीतिक दल है अपितु भारतीय सरकार का नेत त्व भी लम्बे समय तक इस दल के हाथों में रहा है। भारत मी राजनीति कांग्रेस के इर्द-गिर्द घूमती है और कांग्रेस कार्य समिति कांग्रेस 'हाईकमान' है। राष्ट्रीय आन्दोलन के युग में 'हाईकमान' की स्थिति बेताज के सम्राट की सी थी। कांग्रेस के अनेक महत्वपूर्ण निर्णय 'हाईकमान' यानि कार्यसमिति द्वारा ही लिये गये तथा उनका क्रियान्वयन भी बड़ी तत्परता से हुआ। स्वाधीनता के बाद वह दलीय 'हाईकमान' हमारी राजनीतिक धुरी का केन्द्र बिन्दु बन गया जिसके चारों ओर सरकार, संसद एवं मन्त्रिमण्डल चक्कर लगाने लगे। यदि 'हाईकमान' को स्वातन्त्र्योतर भारत का किंग मेकर्स कहा जाये तो कोई अतिशयाक्ति नही होगी। श्री नेहरू के दिवगंत होने के बाद श्री लाल बहादुर शास्त्री और श्रीमति इन्दिरा गांधी को प्रधानमन्त्री पद पर आरूढ़ कराने मे कार्य समिति की सक्रिय भूमिका रहीं,

कांग्रेस संसदीय बोर्ड भी प्रभावशील दबाव समूह रहा है। संसदीय बोर्ड का अपना प थक कार्यालय तथा संगठन हैं कांग्रेस दल के महत्वपूर्ण नेता बोर्ड के सदस्य होते हैं प्रारम्भ में कार्यसमिति की तुलना में संसदीय बोर्ड अत्यन्त प्रभावहीन संस्था थी, किन्तु धीरे-धीरे स्वतन्त्रता के बाद राजनीति में बोर्ड ने अपनी शक्तियों में अप्रतिम व द्धि कर ली। सन् 1957 में संसदीय बोर्ड ने नेहरू की उपेक्ष करते हुए डा० राधाक ष्णन् के स्थान पर डा० राजेन्द्र प्रसाद को राष्ट्रपति पद का प्रत्याशी घोषित किया।

राजनीतिक निर्णय-प्रक्रिया में मुख्यमन्त्रियों की भूमिका भी दबाव समूह के ही समान रही है। दंबग और शक्तिशाली मुख्यमन्त्री केन्द्रीय स्तर पर दल तथा सरकार के निर्णयों को लगातार प्रभावित करते रहे है। गैर-कांग्रेसी मुख्यमन्त्री तेा चौथे आम चुनाव के बाद आपस में मिल जुलकर केन्द्रीय सरकार को प्रभावित करते थें। अपने राज्यों के हितों की सुरक्षा के लिए आजकल सभी राज्य नयी दिल्ली में उच्च स्तर के अधिकारियों की नियुक्ति करते हैं जिन्हें 'राज्यलॉबी' कहना अनुचित नहीं होगा। नेहरू के उत्तराधिकारी के चयन में दस राज्यों के मुख्यमंत्रियों की संगठित भूमिका रही और 15 जनवरी 1966 को अनेक मुख्यमंत्रियो ने शास्त्री के उत्तराधिकारी के चयन में श्रीमति गांधी का खुलकर समर्थन किया।

कांग्रेस दल की केन्द्रीय चुनाव समिति भी निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करती है। जन निर्वाचनों में प्रत्याशियों के चयन का भार चुनाव समिति पर ही डाला जाता है और चुनाव समिति हजारों ऐसे प्रत्याशियों का साक्षत्कार करती है जो दलीय टिकट पाने के इच्छुके होते हैं। शास्त्री और मोरारजी ने चुनाव समिति में सक्रिय रूप से काग्र किया था। सिण्डिकेट ने शास्त्री का प्रधानमन्त्री चुनाव में इसलिए पक्ष लिया था कि उन्होंनें चुनाव समिति में कार्य करते हुए सिण्डीकेट समर्थक लोगों की मदद की थी।

नौकरशाही भी संगठित होकर राज-व्यवस्था में क्रियाशील है। उच्च सेवा में कार्यरत अधिकारियों के अपने संघ है जो उनके हितों की सुरक्षा करते है। भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों का ऐसा ही एक संघ है जिसे भारतीय सिविल तथा प्रशासनिक सेवा संघ कहा जाता है। यह अखिल भारतीय संघ है जिसकी शाखाएं राज्यों की राजधानियों मे भी है। प्रो० सी०पी० भाम्भरी का विचार है कि," यदि राननीतिक नेत त्व कमजोर होता हैं तो नौकरशाही के दबाव में व द्धि हो जाती है।"

(2) भारतीय राजनीति में समुदायात्मक दबाव समूह
(Associational Pressure groups in Indian Politics)

समुदायक दबाव समूह हितों की अभिव्यक्ति के विशेषीक त संघ होते हैं। इनकी मुख्य विशेषता विशिष्ट हितों की पूर्ति करना होता है। ये अपने आधुनिक परिवेश में भारतीय राजनीति में सक्रिय है। इनमें प्रमुख हैं, श्रमिक संगठन, व्यावसायिक

संगठन, क षक संगठन इत्यादि।

श्रमिक संगठन श्रमिकों के संघ हैं जो सामूहिक कार्यो द्वारा अपने हितो की रक्षा करते है। स्वाधीनता से पूर्व भी श्रमिक संघ कार्यरत थे और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के कई नेता श्रामिक संघों में सक्रिय रहे थे। राष्ट्रीय आन्दोलन ने श्रमिकों को अपने हितों की पूर्ति के लिए संगठित होने के लिए प्रोत्साहित किया। वर्तमान में मजदूर संघों का सम्बन्ध राजनीतिक दलों से जुड़ा हुआ है। भाजपा के नेत त्व में भारतीय मजदूर संघ, माकर्सवादी साम्यवादी दल के नेत त्व मे यूनाइटेड ट्रेड युनियन कांग्रेस, कांग्रेस के नेत त्व में इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस और साम्यवादी पार्टी के नेत त्व में ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन काग्रेंस क्रियाशील है। सभी मजदूर संघो का ध्येय मजदूरों के आर्थिक, राजनीति, सामाजिक और सांस्क तिक हितों की रक्षा करना है। मजदूर संघों ने सरकारी नीतियों को आंशिक रूप से ही प्रभावित किया है, वे तो राजनीतिक दलों की भुजाएं मात्र है और उनका नेत त्व भी राजनीतिज्ञों के हाथों मे है। न कि श्रामिक नेताओं के हाथों में।

व्यापारियों के हित समूहों में आधुनिक दबाव समूह के रूप में कार्य करने की सामर्थ्य सबसे अधिक है। व्यापारियों के संघ कई प्रकार के हैं : जैसे उद्योग समूह, साम्प्रदायिक समूह, क्षेत्रीय समूह, अखिल भारतीय समूदाय, तथा बड़े व्यावसायिक घराने । व्यापारियों के दबाव समूह संगठित और अधिकारिक रूप से साधन सम्पन्न है। इनके द्वारा अपनायी जाने वाली दबाव की आधुनिक तकनीकों को देखते हुए इनकी तुलना पश्चिमी देशों में पाये जाने वालू दबाव समूहों से की जा सकती है। इनके समाचार पत्र और पत्रिकाएं है, फोरम ऑफ फ्री एण्टरप्राइज द्वारा अपने हितों का प्रचार करते हैं, राजनीतिक दलों को आर्थिक सहायता देते हैं, मन्त्रियों तथा विभागिय सचिवों से व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित करते हैं तथा संसद सदस्यों को अपने हितों से आगाह करते है।

व्यापारियों के संगठनों में आजकल फेडरेशन ऑफ इण्डियन चैम्बर्स ऑफ कॉमर्स एण्ड इण्डस्ट्री' (F.I.C.C.I.) अत्यन्त आधुनिक और प्रभावशाली दबाव समूह माना जाता है। लगभग एक लाख से भी ज्यादा छोटी बड़ी व्यावसायिक इकाइयों का प्रतिनिधित्व करता है। विभिन्न तरीकों से फेडरेशन व्यावसायिक द ष्टिकोणों और भागों को सरकार के सम्मुख रखता है। फेडरेशन का प्रतिवर्ष प्रधानमन्त्री द्वारा उद्घोषित किया जाता है। अन्य मन्त्रीगण जैसे वितमन्त्री और वाणिज्य मन्त्री भी फेडरेशन की वार्षिक बैठकों में भाग लेते है। बड़े -बड़े अधिकारी और सचिव भी बैठकों मे भाग लेते है। विभिन्न अवसरों पर प्रस्ताव पारित करके फेडरेशन ने सरकार की नीतियों को प्रभावित करने का प्रयास किया है। यह बात सच है कि अनेक अविवादास्पद विधेयकों के निमार्ण तथा सुधार में फेडरेशन के निमार्ण तथा सुधार में फेडरेशन ने सराकर को प्रभावित किया है किन्तु प्रमुख आर्थिक प्रश्नों जैसे आर्थिक नियोजन, सार्वजनिक अधम नीति, बैंक राष्ट्रीयकरण आदि पर फेडरेशन का सरकार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। सरकार की अनेक परामर्शात्मक समितियों में फेडरेशन के प्रतिनिधि भाग लेते है और आज फेडरशन देश में संगठित दबाव समूह के रूप में प्रभावशाली भूमिका अदा कर रही है।

क षकों के हित समूह भी राजनीतिक द ष्टि से सक्रिय होते जा रहे है। सन् 1936 से ही अखिल भारतीय किसान सभा (All India Kisan Sabha) एक हित समूह के रूप में सक्रिय रही है किन्तु सभा पर साम्यवादी दल का नियन्त्रण रहा है। आज भी किसान सभा साम्यवादी दल की भूजा के रूप में कार्यरत है। अन्य दलों ने भी अपने-अपने क षक, संगठन बनाये है, जैसे सामाजवादी दल की हिन्द किसान पंचायत तथा वांमपंथी दलो की सयुंक्त किसान सभा कभी-कभी सक्रिय हो जाती है। वास्तव में भारत सरकार की क षि नीतियों को प्रभावित करने में किसान संघो की प्रभावशाली भूमिका नही रही है। फिर भी यह तो मानना पड़ेगा कि आज तक किसान लॉबी के प्रभाव के कारण ही सरकार क षि पर आय कर नहीं लगा पायी। पंजाब, उत्तर प्रदेश व हरियाणा सरकार की नीतियों पर किसान लॉबी का प्रभाव रहा है। आजकल पंचायतों का राजनीतिक महत्व बढ़ता जा रहा है और पंचायतों पर किसानों का प्रभाव हैं, अत- भविष्य में क षक लॉबी अत्यन्त शक्तिशाली हो सकती है।

स्वतन्त्रता संग्राम में युवा वर्ग का सक्रिय सहयोग रहा है और आज भी हमारे विधार्थी राजनीतिक द ष्टि से जागरूक है। विधार्थी संगठनों, का सम्बन्ध विभिन्न राजनीतिक दलों से रहा है और राजनीतिक दलों ने विधार्थी संगठनों का दुरूपयोग किया है। विधार्थी समुदाय श्रमिक संघों के तौर-तरिके अपनाते है ओर कभी-कभी यह मान लेते है कि उनक हित शिक्षको और विश्वविधालयों के अधिकारियों के हितों से टकराते है। विधार्थी परिषद का सम्बन्ध भाजपा से है तो नेशनल यूनियन ऑफ स्टूडेण्टस संगठन कांग्रेस दल का हे। स्टूडेण्टस फेडरेशन का सम्बन्ध साम्यवादी दल से है। इन संघों की आर्थिक सहायता

विभिन्न राजनीतिक दल ही करते हैं और कभी कभी राजनीतिक दलों के आव्हान पर ये संगठन हड़ताल, घेराव, बन्द आदि का सहारा भी लेते है।

सरकारी कर्मचारियों के अपने अपने विशिष्ट संगठन हैं। ये संगठन अपने हितों के संरक्षण के लिए तथा प्रशासन द्वारा अनावश्यक हस्तक्षेप की रोकथाम के लिए विभिन्न स्तरों पर कार्य करते है। इनमें 'ऑल इण्डिया रेलवे मैन ऐसोशियेशन', ऑल इण्डिया टीर्चस एसोशिएशन' आदि प्रमुख है। विगत वर्षो मे कर्मचारियों के दबाव समूहों ने वेतन संशोधनप तथा महंगाई भते की जोरदार मांग रखी है। अपनी मांगों के समर्थन में यदाकदा ये समुदाय हड़ताले ओर बन्द भी आयोजित करते हैं। वास्तव में ये दबाव समूह सराकर की वेतन तथा अन्य सुविधाएं प्रदान करने सम्बन्धी नीति को प्रभावित करते रहे है।

कई प्रकार के साम्प्रदायिक संगठन भी अपने संघो के माध्यम से विशिष्ट हितों की अभिव द्धि में लगे रहते है। इन संघो में हिन्दू सभा, न्यायस्थ सभा, 'भारतीय ईसाइयों की अखिल भारतीय परिषद' 'पारसी ऐशोसिएशन' आदि प्रमुख है। इनकी मांगे विशिष्ट है और वे उसी परिप्रेक्ष्य में सरकारी नीतियों को प्रभावित करते है।

(3) असमुदायात्मक दबाव समूह
(Non-Associational Pressure groups)

असुदायत्मक दबाव समूह अनौपचारिक रूप से अपने हितों की अनिवार्य करते हैं, इनके संगठित संघ नहीं होते और इन परम्परावादी दबाव समूहों में साम्प्रदायिक और धार्मिक समुदाय, जातीय समुदाय, गांधीवादी समुदाय, भाषागत समुदाय आदि प्रमुख है।

साम्प्रदायिक आधार पर गठित समुदायों में मुस्लिम मजलिस, विश्व हिन्दू परिषद बाबरी मस्जिद एक्शन कमेटी, जमायत ऐ-एस्लाम-ए-हिन्द, जमायत-ए-इस्लाम आदि प्रमुख है। जैन सभाएं, चर्च, वैष्णव सामज आदि भी इसी श्रेणी में आते है। इनकी अपनी प थक पाठशालाएं, महाविधालय, छात्रावास आदि है। ये अपनी प थकता बनाये रखने के लिए लगातार कोशिश करते रहते है। ये स्थानीय और राज्य स्तर के प्रशासकों से लाभान्वित होने का प्रयास करते है। चुनावों के दिनों में ये गुट सक्रिय हो जाते है और प्रत्याशियों की जीत बहुत कुछ इनके रूख पर निर्भर करती है।

जातिगत समूहों ने प्रारम्भ से ही भारतीय राजनीति को प्रभावित किया है। आजादी के बाद की राजनीति में जाति का महत्व बढ़ा है। अपने आर्थिक और राजनीतिक हितों की प्राप्ति में जातियां संगठित हेाने लगी और विभिन्न राज्यों में जातिगत राजनीति का उभ्युदय हुआ। जातीय हितों के आधार पर विभिन्न दबाव गुटो का जन्म हुआ और इन जातियों ने संगथ्ठत होकर राजनीतिक प्रतियोगिता में भाग लेना शुरू किया जिससे उनमें राजनीतिक जागरूकता और राष्ट्रीय राजनीति के प्रति रूचि उत्पन्न हुई। रूडेलफ ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि जाति पर आधारित समूहों का निर्माण राजनीतिक आधुनिकरण के आदर्शो को स्थापित करने और संसदीय जनतन्त्र के कुशल संचालन में सहायक हुआ है।

अनेक गांधीवादी संगठन भी शासकीय नीतियों को प्रभावित करते हैं। उदाहरण के तौर पर, सर्वसेवा संघ, सर्वोदय, भूदान खादी ग्रामोद्योग संघ गाधी शान्ति प्रतिष्ठान आदि ऐसे ही समूह हैं। इनका नेत त्व विनोबा भावे, जयप्रकाश नारायण, काका कालेकर, दादा धर्माधिकारी जैसे प्रखर व्यक्तित्व वाले राष्ट्र के जाने माने सन्त करते रहे है। सांसद विधानमण्डलों और मन्त्रीगण इनको आधार की द ष्टि से देखते है और उनकी सम्मतियों और सुझावों का राजनीति में आदर कर राष्ट्रपिता बापू के प्रति अपने श्रद्धा सुमन, अर्पित करते हैं। यह उल्लेखनीय है कि गांधीवादी गुट अपने स्वार्थो एवं हितों के लिए नहीं अपितु सार्वजनिक कल्याण की भावना से कार्यरत है।

भाषा के आधार पर भी दबाव समूह हमारी राजनीति में सक्रिय भूमिका निभाते रहे है। ऐसा माना जाता है कि वर्तमान भाषायी राज्य शक्तिशाली भाषयी दबाव गुटों की राजनीति के ही परिणाम है। भाषीय दबाव गुटों की मांग को पूरा करने के लिए ही गुजरात, तमिलनाडू, पंजाब तथा बंगाल को भाषायी टापू का रूप दिया गया। भाषायी गुटों की मांग को पूरा करने के लिए यदा-कदा नये राज्यों का निर्माण करना पड़ा है।

इस प्रकार असमुदायात्मक दबाव समूह भारतीय राजनीति में काफी प्रभावीशाली रहे हैं। बडे-बड़े मसलों पर सरकारी नीतियों और निर्णयों को न केवल प्रभावित ही किया है अपितु कभी कभी सरकार को इनके दबाव के कारण अपनी नीतियों

में आमूल -चूल परिवर्तन भी करना पड़ा है। ये समुदाय जितने जागरूक हैं, इनके संगठन उतने मुखर नहीं है।

(4) प्रदर्शनकारी दबाव समूह (Anomic Pressure Groups)

प्रदर्शन कारी दबाव समूह वे हैं जो अपनी मांगो को लेकर अवैधानिक उपायों को लेकर अवैधनिक उपायों का प्रयोग करते हुए हिंसा, राजनीतिक हत्या दंगे और अन्य आक्रामक रवैया अपना लेते है। प्रदर्शन कारी विरोध और प्रत्यक्ष कार्यवाही कई प्रकार के है, जैसे जनसभाएं गली-कूचा बैठक पद यात्रा रैली, विरोध दिवस मनाना, हड़ताल, धरना, सत्याग्रह, अनशन, सार्वजनिक सम्पति को हानि पहुंचाना, अग्निदाह, आवागमन अवरूद्ध करना, धेरना आदि। इनके द्वारा संगठित गुट न केवल अपना असन्तोष व्यक्त करते है अपितु सरकार के निवेश तथा निगर्त ढांचे को प्रभावित करते हुए नियम निमार्ण (Rule Making) नियम प्रयुक्त (Rule Application) एवं नियम-अधिनियम यन (Rule adjudication) के स्वरूप को भी छू लेते है। ये गुट किसी विशेष नीति को बनवाने अथवा बदलने के लिए सरकार पर दबाव डालते हे।

भारतीय राजनीति में प्रदर्शनकारी गुटों के उदय का कारण यह मान जाता है कि सरकार लोगों की न्यायोचित मांगो की ओर ध्यान नहीं देती और राजनीतिक दल सभी प्रकार के लोगों की मांगों का समुचित प्रतिनिधित्व नहीं करते। जब शान्तिपूर्ण मांगों की तरफ ध्यान नही दिया जाता तो दबाव समूह वैधानिक ढांचे से हटकर कार्य करना प्रारम्भ कर देते है। मायरन वीनर के अनुसार, "भारत में सरकार दबाव गुटों की मांगो की तरफ उस समय तक ध्यान नही देती जब तक कि जन-आंदोलन के माध्यम से वे अपनी शक्ति का परिचम नहीं देते। सरकार मांगों को इसलिए नहीं मानती कि वे न्यायोचित हैं अपितु इसलिए मानती है कि मांग करने वाले गुट ने उसे ऐसा कने के लिए बाध्य कर दिया हैं।

स्वाधीनता के बाद अनेक महत्वपूर्ण निर्णय प्रदर्शनकारी गुटों के दबाव के फलस्वरूप लिये गये हैं। इन्ही के दबाव के फलस्वरूप मद्रास, बम्बई व पंजाब राज्यों का विभाजन हुआ। पूर्वाचल मे नये राज्यों का निर्माण करना पड़ा। सरकार की गौ-वध नीति के विरोध में साधुओं ने अनशन किया एवं हिन्दी भाषा के सामर्थको ने अंग्रेजी के विरोध में सत्याग्रह किया। बंगाल में नक्सलावादी गुट का उदय हुआ। जिसने हिंसा, हत्या, लूटपात आदि साधनों का प्रयोग करते हुए सरकर का भूमि -सुधार भूमि के न्यायोचित वितरण तथा भू-श्रमिकों की दैनिक मजदूरी बढ़ाने की और ध्यान आकर्षित किया। प्रदर्शनकारी दबाव गुटों में आजकल जम्मू एण्ड कश्मीर लिबरेशन फ्रन्ट (कश्मीर) स्वालिस्तान कंमाडो फोर्स, बब्बर खालसा, सिख स्टूडेण्ट्स फेडरेशन (पंजाब) उल्फा (असम) के नाम उल्लेखनीय है।

दबाव समूहों की विशेषताएं (Features of Pressure groups)

प्रो० मायरन वीनर की रचना 'पॉलिटिक्स ऑफ स्कैरसिटी' भारत में दबाव राजनीति का विश्लेषण करने वाली प्रथम वैज्ञानिक रचना है। वीनर के बाद स्टेनली कोचनीक का ग्रन्थ 'बिजनेश एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया' भारतीय राजनीति में व्यापारियों के दबाव समूहों की भूमिका का सूक्ष्म अध्ययन प्रस्तुत करता है। वीनर तथा कोचनीक के निष्कर्षो के अनुसार भारत मे दबाव व हित समूहों की निम्नलिखित विशेषताएं हैः

(i) भारतीय राजनीति में परम्परावादी दबाव समूह जैसे जाति, समुदाय, धर्म और प्रादेशिक गुट निर्णायक भूमिका अदा कर रहे हैं। अधिकांश राजनीतिक दल जाति और समुदाय के आधार पर ही अपने अनुयायियों को संगठित करते हैं। जातीय समुदाय को आज भी भारत में 'बेताज के सरताज' कहा जा सकता है।

(ii) अधिकांश समुदायत्मक दबाव समूहों पर राजीनतिक दलों का नियन्त्रण है। उनका नेत त्व राजनीतिक दलों के नेताओं के हाथों में है और उन्हें 'दल के पीछे दलीय सत्ता' कहा जा सकता है, किन्तु यह भी एक विचित्र सत्य है कि प्रमुख व्यापार -उद्योग हि समूह दलीय नियन्त्रण से स्वायत हैं।

(iii) स्वाधीनता के बाद सार्वजनिक नीतिक के निर्माण में दवाब समूहों की सीमित भूमिका द्रष्टव्य है। इसके दो कारण थे-प्रथम केन्द्र और राज्यों में शक्तिशाली नेत त्व था और दूसरा सरकार पर कांग्रेस दल का एकाधिकार था। जैसे -जैसे शक्तिशाली नेत त्व का हास होता गया और कांग्रेस का एकाधिकार टूटता गया वैसे-वैसे राजनीति में दबाव

समूहों का प्रभाव भी बढ़ता गया। प्रारम्भ में दबाव गुटों की नकारात्मक भूमिका रही। वे इस बात पर बल देते रहे कि सरकार राष्ट्रीयकरण न करे और भूमि पर कर में अभिव द्धि न करे। किन्तु, वर्तमान में अनेक में अनेक दबाव गुट सकारात्मक रूप से अपने हितों के प्रभावित करने वाली नीतियों के निर्माण में सरकार के साथ सहयोग कर रहे हैं।

(iv) विगत कुछ वर्षो से केन्द्रीय सरकार की नितियों पर भारतीय संघ के राज्यों का भी प्रभाव पड़ने लगा है और राज्य संगठित दबाव डालने का प्रयास करने लगे हैं। राज्य लॉबीडग के लिए अधिकारी रखते है। जिसके वे संसद -सदस्यों से प्रत्यक्ष सर्म्पक स्थापित कर सर्के। संविधान के अनुच्छेद 262 तथा 263 को अन्तर्गत केन्द्रीय संसद को 'अन्तर्राज्यीय नदी-पानी विवाद' तथा 'सीमा विवाद' हल करने की शक्ति प्राप्त हैं और कई राज्यों के बीच ऐसे उग्रतर विवाद उलझे पड़े है। अतः दबाव और लॉबींइग की राजनीति द्वारा वे अपना हित वर्धन करने में लगे है।

(v) राजनीतिक दलों के विद्यमान संस्थागत दबाव समूह ने दलीय व्यवस्था को ही डावांडोल करने की चेष्टा की है। सत्ताधारी और विपक्षी दलों के कार्यरत गुटों ने बहुमत सरकार की कार्य प्रणाली को ही चुनौती दी है।

(vi) समुदायत्मक और प्रदर्शनकारी दबाव समूह हिंसा, जन-आन्दोलन, हड़ताल, अनशन और सत्याग्रह जैसे अवैधानिक साधनों का प्रयोग करते नहीं हिचकिचाते।

(vii) भारत में दबाव समूह मुख्यतया प्रशासकों को प्रभावित करने में लगे रहते है न कि नीति-निर्माण को।

(viii) भारत में आम धारणा दबाव समूहों की कार्य पद्धति के प्रतिकूल है। यह अच्छा नहीं माना जाता कि हित समूह नीति निर्माताओं का मार्गदर्शन करें। ऐसा भी माना जाता है कि यदि एक बार सरकार दबाव गुटों के आगे झुक जाती है तो फिर कोई भी निर्णय सार्वजनिक हित में नहीं लिया जा सकता।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि भारत में असमुदायात्मक दबाव गुट सर्वाधिक प्रभावशाली है और उनमें भी जाति का प्रभाव सर्वत्र द ष्टिगोचर होता है। उसके बाद संस्थानात्मक दबाव समूहों ने राजनीति को प्रभावित किया है। समुदायात्मक दबाव समूहों में केवल 'फेडरेशन ऑफ इण्डियन चैम्बर्स ऑफ कॉमर्स एण्ड इण्डेस्ट्री' को ही आधुनिक दबाव समूह माना जा सकता है। भारतीय दबाव गुटों के स्वरूप से यह धारणा गलत सिद्ध हो जाती है कि परम्परावादी समाज में आधुनिक दबाव समूह विकसित नहीं हो सकते। भारत में परम्परावादी दबाव समूह अपने हितों की अभिव्यक्ति के लिए चुनाव और राजनीतिक दलों का प्रयोग करते हैं जबकि आधुनिक दबाव समूह मन्त्रिमण्डल और नौकरशाही हो अपनी नवीनतम शोध से प्रभावित करते हैं। यदा-कदा प्रदर्शनकारी दबाव समूह भी सक्रिय हो जाते है। ऐसे गुट कभी-कभी राज-व्यवस्था के अस्तित्व के लिए खतरा उत्पन्न कर देते हैं।

दबाव समूहों की आलोचना
(Criticism of Pressure Groups)

विगत वर्षो में दबाव की राजनीति की आलोचना और वाद-विवाद का विषय रही है। आलोचकों ने यहां तक कह डाला है कि ये गुट नवजात भारतीय लोकतन्त्र पर खतरे की काली घटाओं के रूप में मंडरा रहे है। ये सदैव, अपने घटिया स्वार्थो की पूर्ति हेतु सार्वजनिक कल्याणो को तुच्छ निगाह से देखते रहे हैं। इन दबाव गुटों ने हमारे सार्वजनिक जीवन में भ्रष्टाचार घूसखारी, और अनेक घ णित उपायों को आश्रय दे रखा है।

भारत में दबाव समूहों की कार्य-शैली को गुप्त रखा जाता है और जन सामान्य को उसके बार में कोई सूचना प्राप्त नही होती वे गुप्त ढंग से अधिकारियों और नीति-निर्माताओं से परामर्श करते हैं। विद्यनांग के सदस्यों के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वे खुले रूप से यह प्रकट करें कि उनका सम्बन्ध उनसे किन-किन गुटों से है और उन्हें उनसे किस प्रकार का लाभ मिलता है। कभी कभी दबाव गुट रिश्वत देकर भी प्रशासकों को अपने स्वार्थो के अनुकूल बनाने में नहीं हिचकिचाते। दबाव समूहों की सफलता इस तथ्य पर निर्भर करती है कि वे सही मांग प्रस्तुत कर रहें हैं अपितु इस तथ्य पर निर्भर करती है कि उनका गुट कितना विशाल और वित्तीय साधनों से सम्पन्न है। दबाव समूह सरकार के विरूद्ध हिंसात्मक साधनों का भी प्रयोग करते है। हिंसा और जन-आन्दोलन से अराजकता उत्पन्न होती है और ऐसी अव्यवस्था राज-व्यवस्था के अस्तित्व के लिए प्रत्यक्ष खतरा उत्पन्न कर देती हैं। सफेदपोश सरकारी कर्मचारियों के संगठनों के लिए तो हड़ताल, प्रदर्शन करना एक फेंशन हो गया है। सरकारी कर्मचारियों द्वारा अचानक कार्य बन्द कर देने से प्रशासन ठप हो जाता है और आम जनता को काफी

असुविधा होती है। कभी-कभी तो दबाव गुट ऐसी दायित्वहीन मांगे भी प्रस्तुत करते हैं जिनको पूरा करना सरकार के लिए असम्भव होता है।

इन आलोचनाओं में सत्य का अंश अवश्य हैं, किन्तु किसी भी लोकतान्त्रिक व्यवस्था के लिए दबाव व हित समूहों से छुटकारा पाना सभाव नहीं है। वर्तमान लोकतन्त्रीय व्यवस्था में दबाव समूह जब शासक के निर्माता (King Makers) बन बैठे हैं तो हमारी समस्या यह नहीं है कि इन्हें किस प्रकार समाप्त किय जायें, अपितु, हमारी वास्तविक समस्या यह है कि उन्हें सही दिशा में किस प्रकार मोड़ा जाए।

हमारी राज-व्यवस्था की स्थिरता और समुच्चय शक्ति को बढ़ाने के लिए दबाव समूहों को उसमें समुचित निर्णय दिया जाना चाहिए। हमारी

राजनीतिक निर्णय प्रक्रिया में दबाव गुटों को स्थान देने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते हैं:

(i) नीति निर्माण के विभिन्न स्तरों पर शासन को प्रभावित हितों से परामर्श करने की स्थायी और अधिकाधिक आदत डालनी चाहिए।

(ii) राज्य सभा और विधान-परिषदों में हित समूहों के प्रतिनिधियों को अधिकाधिक स्थान दिया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में वर्तमान संविधन में अन्य संशोधन किया जा सकता है।

(iii) संसद की परामर्शदात्री समितियो में हित समूहों के सदस्यों को सह-सदस्यता प्रदान की जानी चाहिए, जिससे राजव्यवस्था की परिपक्वता में व द्धि होगी।

(iv) सरकार के विभिन्न विभागों के साथ कार्यरत प्रतिनिधियों परामर्शदात्री समितियों के सदस्यों का मनोनयन सरकार द्वारा न होकर हित समूह द्वार किये जाने की परम्परा डाली जानी चाहिए।

(v) अधिकांश निर्णय स्थानीय जनता को प्रभावित करते हैं और जिलाधीश व उप-जिलाधीश स्थानीय प्रशासक होते हैं। अतः सामान्य जनता और स्थानीय प्रशासकों के मध्य गहन सम्पर्क सूत्र होना चाहिए। स्थानीय अधिकारियों को किसी भी निर्णय के क्रियान्वयन से पूर्व स्थानीय हितों से परामर्श करने की आदत डालनी चाहिए।

अध्याय-22

जनमत
(Public opinion)

बोलचाल की भाषा में जनमत का अर्थ जनता के मत से है, परन्तु समभवतः ऐसी कोई भी समस्या नहीं है जिस पर समूची जनता का एक ही द ष्टिकोण हो। अतः यह कहा जाता है कि ऐसी स्थिति में बहुमत को ही जनमत माना जाता है। यर्थाथ में ऐसा भी कार्य नहीं होता क्योंकि अधिकांश जनता में चिन्तन और मनन की क्षमता कम होती है, अतः महत्वपूर्ण समस्याओं के बारे में उसकी अपनी कोई राय नहीं होती। वस्तुतः जिसे लोग अपना मत बताते है, वह उनका अपना मत नहीं होता, वह तो वास्तव में उनका दूसरों से उधार लिया हुआ तथा दूसरों के मुंह से सुना-सुनाया हुआ मत होता है। समाज में सोचने का काम तो कुछ चिन्तनशील व्यक्तियों के द्वारा सम्पादित होता है। अतः जब इनके द्वारा विचारा गया मत समाज के द्वारा स्वीकार कर लिया जाता है तो वही जनमत के नाम से जाना जाने लगता है।

जनमत की कसौटी सार्वजनिक हित को बताया गया है। जिस मत की रचना किसी वर्ग विशेष अथवा किसी सम्प्रदाय विशेष के हितों को ध्यान में रखकर हुई हों ध्यान में रखकर हुई हो, उसे जनमत की संज्ञा नही दी जा सकती। वस्तुतः यह कसौटी भी ऐसी है जिसके आधार पर जनमत को पहचाना नहीं जा सकता। 'सार्वजनिक हित' शब्दावली अत्यधिक स्पष्ट है। यथार्थ में जनसाधारण अपने अपने द ष्टिकोण के आधार पर 'सार्वजनिक हित' की कल्पना करते हैं और यह द ष्टिकोण एक बड़ी सीमा तक उनके वर्ग सम्बन्धों से प्रभावित होता है। स्पष्टतः 'सार्वजनिक हित' के सम्बन्ध में एक पूंजीपती की जो कल्पना हैं, वह एक साधारण मजदूर की कल्पना नहीं हो सकती। लॉवेल ने इस सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा है कि किसी भी समुदाय का एक मत नही होता, बहुधा किसी भी प्रश्न पर विभिन्न मत होते हैं। किसी मत को हम केवल उसी स्थिति में जनमत का नाम दे सकते हैं जबकि उसे बहुसख्यक लोग स्वीकार कर ले।

जनमत का महत्व

लोकतान्त्रिक शासन प्रणाली में जनमत के महत्व से इनकार नहीं किया जा सकता। हमारा युग अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र का युग है। आज के विशालकाय राज्यों में प्रत्यक्ष लोकतन्त्र तेा सम्भव ही नहीं है। अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र के सफल परिचालन के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि प्रतिनिधियों और निर्वाचकों के प्रति बराबर सम्पर्क बना रहे। सरकार का यह दायित्व है कि प्रत्येक महत्वपूर्ण विषय पर निर्णय लेने से पूर्व जनता की इच्छा को जानने का प्रयास करे, जनमत सरकार को इस इच्छा से अवगत कराता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जनमत कभी स्थायी नहीं होता, उसमें आये दिन परिवर्तन होते रहते है। अतः सरकार के लिए उचित और वांछनीय यह है कि वह इस प्रकार के सभी परिवर्तनों की जानकारी रखे। यदि सरकार का आचरण जनमत के प्रतिकूल है तो वह सरकार स्थायी नही हो सकती। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि लोकतान्त्रिक शासन प्रणाली में सरकार के लिए लोकमत का आदर करना आवश्यक है।

जनमत सरकार के ऊपर हमेशा एक अकुंश की भाँति काम करता है। उसके भय से स्वार्थी तथा बेईमान राजनीतिज्ञ सरकार को अपने स्वार्थ साधन का यन्त्र नहीं बना सकते। अतः यह आवश्यक हैं कि प्रत्येक देश मे स्वतन्त्र एवं प्रबुद्ध जनमत पाया जायें। लोकतान्त्रिक प्रणाली की सफलता इसी बात पर निर्भरन करती है।

भारत में जनमत :

स्वस्थ जनमत के निमार्ण के लिए जिन बातों को आवश्यक निर्माण के लिए जिन बातों को आवश्यक माना गया है, भारत में वे बातें आमतौर पर अनुपस्थित है। यहाँ की जनता अभी भी निरक्षर है तथा उसकी सार्वजनिक विषयों मे कोई

अधिक रूचि नहीं है। यहाँ के अशिकांश लोग अपने ही जगत में रहते हैं। देश में नाना प्रकार के धर्म पाये जाते हैं। यहाँ का समाज जाति-बिरादरी और प्रान्तियता की भावना से ग्रसित है। अतः इस स्थिति में सार्वजनिक समस्याओं पर यहां मतैक्य पाये जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। समाचार पत्र एकाधिकारी पूँजीपतियों के नियन्त्रण में हैं, अतः जनता को सूचना प्रदान करने वाले साधन ईमानदार और निष्पक्ष नहीं है। देश में ऐसे अनेक दल हैं जिनका आधार साम्प्रदायिक है। इन सब बातों का स्वस्थ जनमत के निर्माण पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। फिर भी पिछले वर्षो में देश की स्थिति तेजी के साथ बदली है। आज देश में पहले की अपेक्षा साक्षरों की संख्या कही अधिक है तथा देश के औधोगिकरण के साथ स्थानीयता और धर्म के बन्धन भी कुछ ढीले हो रहे है। फलतः अनेक समस्याओं के ऊपर जनमत की अभिव्यक्ति बहुत अधिक स्पष्ट रूप से हो सकी है।

भारत में जनमत की रचना में राजनीतिक दलों, दबाव समूहों तथा समाचार पत्र का विशेष योगदान रहा है। राजनीतिक दल लोकमत को अपने पक्ष में बनाने के लिए पार्टी के समाचार पत्र निकालते हैं, अपना साहित्य वितरित करते हैं, सार्वजनिक सभाओं का आयोजन करते हैं तथा चुनावों में भाग लेते हैं। दबाव समूह भी चुनाव लड़ने को छोड़कर अन्य सभी उपायों को काम में लाते हैं। जनमत के निर्माण में अराजनीतिक संगठनों तथा व्यक्तियों का भी हमारे देश में एक योगदान रहा है। वस्तुतः राननीतिक और अराजनीतिक संगठन इस द ष्टि से एक दूसरे के पूरक की भूमिका अदा करते है। उदाहरणार्थ, यदि आर्चाय विनोबा भावे के भूदान-यज्ञ ने भूमि के असमान वितरण की समस्या की और जनसाधारण और सरकार का ध्यान आकर्षित किया तो कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा संचालित 'भूमि हथियाओं' आन्दोलन ने इस बात को भली भांति व्यक्त कर दिया कि भूमि-सुधार की समस्या का समाधान अत्यन्त आवश्यक है।

आधुनिक काल में प्रैस एक शक्तिशाली सामाजिक संस्था का रूप धारण कर चुका है। यह बात इस तथ्य से प्रमाणित है कि उसे चतुर्थ वर्ग (Fourths Estate) के नाम से गौरवान्ति किया गया है। प्रेस के माध्यम से आधुनिक जीवन की समस्त जटिल प्रक्रियाओं का न केवल व्यक्त किया जाता है, अपितु उन्हें एक निश्चित दिशा भी प्रदान की जाती है। उसके माध्यम से अलग समय में ही बड़े पैमाने पर विचारों का आदान-प्रदान सम्भव बनाया जा सकता है। उसकी सहायता से विवादों का निराकरण किया जा सकता है, आन्दोलन संगठित किये जा सकते हैं तथा संस्थाओं का निर्माण किया जा सकता है। प्रेस के द्वारा शासन के ऊपर लोकतान्त्रिक नियन्त्रण कायम किया जा सकता है। अतः यह स्वाभाविक ही है कि देश में जनमत के निर्माण में प्रेस एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करे।

अध्याय-23
किसान आन्दोलन
(Peasants Movement)

भारत एक क षि प्रधान देश है। इसकी जनता का 70 प्रतिशत से अधिक भाग गावों में रहता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय हमारी ग्रामीण क षि व्यवस्था दो गम्भीर समस्याओं का शिकार थी। एक यह अत्यन्त अविकसीत थी। सिंचाई तथा अन्य आवश्यक सुविधायें न के बराबर उपलब्ध थी। परिणाम स्वरूप उपज का स्तर अत्यन्त कम था। दूसरे, क षि भूमि का बंटवारा अत्याधिक असमान था। थोड़े से जमीनदार तथा बड़े किसान भूमि के बहुत बड़े भाग के मालिक थे। ग्रामिण जनसंख्या का एक बड़ा भाग भूमिहीन श्रमिकों का था। मध्य नये छोटे स्तर के किसान भी काफी संख्या में थे। परन्तु इनके पास भूमि की मात्रा अधिक नही थी। कुल मिलाकर भारत में खाद्यानों की कमी थी, क षि में लगा एक बहुत बड़ा भाग निर्धन तथा शोषित था तथा जमींदार और बडे किसान ऐश्वर्य तथा विलास में व्यस्त थे।

स्वतन्त्र भारत की सरकार के सामने प्रमुख कार्य क षि उत्पादन में तीर्व गति से व द्धि करना तथ इस क्षेत्र में सामन्ती व्यवस्था को परिवर्तित कर न्यायपूर्ण समाज बनाना था। इन उदेश्यों को प्राप्त करने के लिए कई नीतियां बनाई गई। इनमें से एक पंच वर्षीय योजनाओं के माध्यम से एक पंच वर्षीय योजनाओं के माध्यम से विकास को प्राप्त करने की थी। की थी तो दूसरी जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधारों के द्वारा असमानताओं को कम करने की। व्यवहार में इन नीतियों को जिस प्रकार लागू किया गया इसके परिणाम विशधभसी निकले। इनके कारण जहां खाद्यान्नों के उत्पादन में काफी व द्धि हुई। ग्रामीण क्षेत्रों में नये प्रकार के वर्ग सम्बन्ध तथा तनाव भी उत्पन्न हुए है। इन्ही के कारण आज भारत में व्यापक आन्दोलन विकसित हो रहे है। आमतौर पर इन आन्दोलनों को एक सामान्य किसान आन्दोलन के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। वास्तव में यह आन्दोलन दो अलग-अलग प्रकार के हैं।

एक आन्दोलन वह जिनका लक्ष्य शहरी तथा उद्यौगिक क्षेत्र के मुकाबले क षि क्षेत्र को महत्व दिलाना तथा क षि उत्पादकों के हितों की रक्षा है। स्वाभाविक है इसमें बड़े, मध्य स्तरीय और कुछ छोटे किसान की रूचि है। दूसरे आन्दोलन क षि तथा ग्रामीण क्षेत्र में भूमिहीन श्रमिकों, अत्यन्त छोटे किसनों, बटांईदारों तथा किरायेदारों आदि को न्याय दिलवाने के लिए है।

बड़े किसानों के क षि आन्दोलन

नियोजन के आरम्भिक वर्षो में क षि क्षेत्र के विकास को अधिक महत्व नहीं दिया गया था। जमींदारी उन्मुलन तथा बाद में भूमि सुधार कानून बनाने के बावजूद क षि क्षेत्र में सामन्ती व्यसस्था बनी रही। जमींदार तथा बड़े किसान यथास्थिति बनाए रखने में प्रसन्न थे। उन्होंने अपनी आर्थिक, जातिय तथा सामाजिक स्थिति के आधार पर राजनीति को प्रभावित करनपे के प्रयत्न किए। इन दबावों के उपरान्त लोकतान्त्रिक व्यवस्था तथा उत्पादन व द्धि की आवश्यकता के कारण सरकार को कुछ न कुछ सुधार करने पड़े। इन सुधारों का एक परिणाम यह था कि ग्रामीण क्षेत्रों में बड़े किसानो के साथ-साथ एक नया माध यम वर्ग विकसित होने लगा। जमींदारी उन्मूलन तथा भूमि सुधारों का लाभ भी अधिकतर मध्यम वर्गीय किसानों को हुआ। 1960 के दशक के अन्तिम वर्षो में आरम्भ हरित क्रान्ति ने देश के कुछ भागों में बड़े तथा माध्यम वर्गीय किसानों को और अधिक महत्व तथा लाभ प्रदान किया। क षि क्षेत्रों में विकास के साथ-साथ लोकतान्त्रिक व्यवस्था के चुनाव प्रक्रिया के सन्दर्भ में ग्रामीण तथा क षक राजनीति में रूचि लेने लगे थे। राजनीतिक दल जाति तथा समुदाय के अतिरिक्त क षकों को व्यवसायिक तथा वर्गीय आधार पर भी सचेत कर रहे थे।

1970 के दशक के प्रारम्भ से अनेक राज्यों में किसानों को अपनी सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति की स्पष्टता, अपने हितों की रक्षा के लिए चेतना, राजनीति को प्रभावित कर सकने की अपनी शक्ति इत्यादि का ऐहसास होने लगा। इस परिवेश

में किसान वर्ग ने अपने को संगठित करना शुरू किया। इसका आरम्भ राज्य स्तरीय संगठनों तथा आन्दोलनों से हुआ। बाद में राष्ट्र काफी सगठन बनाने के प्रयत्न भी किये गए। उत्तरप्रदेश, पंजाब तथा हरियाणा में भारतीय किसान युनियन तथा महाराष्ट्र में शेतहारी संगठन इत्यादि ऊग्र तथा महत्वपूर्ण रूप से विकसित हुए।

इन किसान आन्दोलनों के मुख्य लक्ष्य थेः -

i) क षि उत्पादनों के लिए अधिक मूल्य,

ii) क षि के लिए आवश्यक बिजली, पानी, खाद, डीजल, ट्रैक्टर इत्यादि सरकारी सहायता से सस्ते दामों पर उपलब्ध

iii) बैंकों तथा सरकारी संस्थाओ द्वारा कम ब्याज तथा आसान शर्तो पर ऋ ण

iv) भूमि सुधारों का विरोध

v) क षि पर काम करने वाले मजदूरों के लिए सरकार द्वारा न्यूनतम वेतन इत्यादि निर्धारित करने के निर्णयों को प्रभावित करना।

vi) नियोजन प्रक्रिया में ग्रामीण तथा क षि विकास को अधिक महत्व दिलाना।

vii) क षि तथा उद्यौगिक क्षेत्रों में असन्तुलन को दूर कराना।

viii) ग्रामीण क्षेत्रों में सुविधाओं को प्राप्त करवाना।

इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए बड़े तथा मध्यम वर्गीय किसानों ने गैर-राजनीतिक संगठन बना कर आन्दोलनों, बैठको, जलूसों तथा दबाव समूहों के रूप में कार्य कर सरकार पर दबाव डालने के रास्ते के साथ साथ राजनीतिक दलों को अपने समर्थन के आधार पर लेन देन की रणनीति भी अपनाई है। यह संगठन अपनी मांगों को वर्गीय आधार पर प्रस्तुत न कर इस प्रकार प्रस्तुत करते है कि यह सम्पूर्ण ग्रामीण तथा क षक समाज की है। ग्रामीण क्षेत्रों में मतदाताओं की संख्या तथा बड़े किसनों के प्रभाव के संदर्भ में राजनीतिक दल इनकी अनदेखी नही कर सकते। इसलिए पिछले लगभग दो दशक से यह आन्दोलन काफी सफल हुए है। वास्तव मे यह किसान राजनीति को ही प्रभावित करने में सफल होने लगे हैं। लगभग सभी राजनीतिक दल चुनावों में किसान वर्ग के प्रतिनिधियों को टिकट देने लगे है। लोक सभा तथा राज्य विधानसभाओं में इनका प्रतिनिधित्व काफी तेजी से बढ़ा है। विशेष रूप से उन राज्यों में जहां क षि क्षेत्र अधिक विकसित है, जैसे पंजाब, हरियाण,पश्चिमी उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र, आन्ध्रप्रदेश इत्यादि राजनीति में किसानों की भूमिका लगभग निर्णायक हो गई है। कुल मिलाकर इस प्रकार किसान आन्दोलन आज भारतीय राजनीति में अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। यह प्रशासन, राजनीतिक दलों तथा विधायीका सभी स्तरों पर निर्णय की प्रक्रिया को प्रभावित कर रहे है।

खेतीहर मजदूरों के आन्दोलन

भारत के क षि के क्षेत्र में अनेक विडम्बनायें है। जहां यह एक क षि प्रधान देश है वहीं भारत के अनेक भागों में आज भी क षि अत्यन्त, परम्परागत तरीकों से होती है। भूमिका बटवांरा अत्याधिक असमानता पूर्ण है। जिन राज्यों में हरित क्रान्ति की सफलता से क षि का विकास हुआ है वहां भी भूमि का बंटवारा अत्यन्त असमानता पूर्ण है। परन्तु इन राज्यों में भूमिहीन किसानों की स्थिति अविकसित राज्यों की तुलना में भिन्न है। अलग विकसित तथा पिछड़े राज्यों में भूमिहीन किसानों को पूरा काम ही नही मिलता। वह साल में कई दिन बेकार रहते है। काम की कमी के कारण वह भूमि के मालिकों पर पूरी तरह आश्रित है। अतः इन राज्यों में सामन्तशाही, बन्धुआ मजदूरी और बेरोजगारी की समस्याऐं गम्भीर है। विकसित राज्यों में श्रमिकों को काम तो मिलता है परन्तु इन राज्यों में श्रमिकों को उचित वेतन तथा भूमि के बंटवारे की समस्यायें है।

लोकतन्त्र की स्थापना तथा नियोजन में जमींदारी उन्मूलन तथा भूमि सुधारों के वायदों ने आरम्भ से ही भूमिहीन तथा छोटे किसानों की आंकाक्षाओं को जाग त करना शुरू कर दिया था। अनेक राजनीतिक दल विशेष रूप से साम्यवादी तथा वामपन्थी दल अपनी विचार धाराओं तथा चुनावी समर्थन के आधार पर श्रमिकों तथा छोटे किसानों को संगठित करते रहे है। शासक दलों पर बड़े किसानों का नियन्त्रण कायम रहने, नियोजन में क षि विकास के असन्तुलित रहने तथा भूमि सुधारों की

व्यापक विफलता से भूमिहीन किसानो में काफी असन्तोष है। मूल्य व द्धि, गरीबी अन्मूलन कार्यक्रमों की असफलता तथा बढ़ती बेरोजगारी से यह असन्तोष और बढ़ रहा है। लोकतन्त्र द्वारा प्राप्त अधिकारों तथा विचारधारा आधारित दलों द्वारा संगठित किए जाने के के प्रयत्नों ने खेतीहर मजदूरों में व्यापक आन्दोलनों का उदित किया है। यह आन्दोलन अनेक राज्यों में काफी उग्र रूप धारण कर रहे हैं। आन्ध्र प्रदेश, बिहार तथा कुछ अन्य राज्यों में क्रान्तिकारी दल जैस साम्यवादी दल (माकर्सवादी-लेनिनवादी) इन आन्दोलनों को हिसंक तथा क्रान्तिय रूप भी प्रदान कर रहे है।

भूमिहीन किसानों के मुख्य लक्ष्य है : उचित रोजगार के अवसर, मजदूरी की न्यूनतम दरे, भूमि सुधार, सामाजिक तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता इत्यादि। शासक दलों पर बड़े किसानों के नियन्त्रण, प्रशासन में इनके प्रभाव तथा नीति निर्धारण में उनकी सुनवाई के कारण भूमिहीन किसानों के आन्दोलन अभी बहुत अधिक सफल नहीं हुए है। परन्तु इनकी भूमिका बढ़ रही है। इन आन्दोलनों के कारण अनेक राज्यों में दलित तथा शोषित जन अब जमीदारों तथा भूमीपतियो की इच्छा के विरूद्ध अपनी इच्छा से मतदान करने लगे है। इसके प्रतिरोध में कुछ क्षेत्रों मे उच्च जातीय तथा बड़े किसान वर्ग दलितों तथा छोटे किसानों के विरूद्ध हिंसा का प्रयोग करने लगे है। अतः भूमिहीन किसानों के आन्दोलन एक और ग्रामीण क्षेत्रों में लोकतान्त्रिक जाग ति, समानता के लिए सघर्ष तथा सामाजिक न्याय के लिए आवाज उठा रहे हैं वहीं दूसरी ओर राज्य की प्रक ति, प्रशासनिक सेवाओं के उच्च वर्गीय स्वरूप तथा शासन की निष्क्रियता के कारण इनसे ग्रामीण क्षेत्रों में हिंसा बढ़ रही है। परन्तु इन आन्दोंलन को दबाया नही जा सकता। समय के साथ-साथ इनकी भूमिका तथा इनके आकार में व द्धि होना स्वाभाविक है।

अध्याय-24
भारत में मतदान व्यवहार
(Voting Behaviour in India)

लोकतन्त्रीय शासन प्रणाली में चुनावों के दौरान मतदाताओं की विशिष्ट भूमिका होती है। मतदान एक और सहमति तक पहुंचने का तरीका है तो दूसरी ओर यह समाज के विभिन्न समूहों के बीच संघर्ष को नापने का ढंग है। इस कारण से विश्व के विभिन्न देशों में इसने बड़ी संख्या में शोधकर्ताओं को आकर्षित किया है। मतदान व्यवहार के अध्ययन का आरम्भ सन् 1913 में फ्रांश में शुरू हुआ। संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रथम विश्व युद्ध के बाद तथा इंग्लैण्ड में द्वितीय विश्व युद्ध के बाद इसका अध्ययन आरम्भ हुआ। भारत में भी दूसरे आम चुनावों के बाद मतदान व्यवहार का अध्ययन आरंभ हुआ।

मतदान व्यवहार से अभिप्राय है कि आज के मतदाता अपना मत देते समय किन-किन तत्वों से प्रभावित होते है। यह सारे तत्व सभी समयों तथा स्थानों पर एक समान नहीं होते। विभिन्न परिस्थितियों में तथा विभिन्न स्थानों पर मतदान व्यवहार अलग अलग होता है। आज मतदान व्यवहार के अध्ययन का क्षेत्र काफी व्यापक हो गया है। इसके अन्तर्गत हम केवल मतदान करने वालों के व्यवहार का ही अध्ययन नहीं करते वरन् उन लोगों के व्यवहार का भी अध्ययन करते हैं जो मतदान नहीं करते। इसके अन्तर्गत चुनावों से पहले तथा चुनावों के बाद विभिन्न क्षेत्रों के मतदाताओ से सम्पर्क स्थापित करके और उनसे विभिन्न प्रकार के प्रश्न पूछकर मतदान व्यवहार के सम्बन्ध में महत्वपूण्र निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न किया जाता है। इस प्रक्रिया में समय, धन और श्रम तीनों की आवश्यकता पड़ती है।

भारत में मतदान व्यवहार को अनेक तत्वों ने प्रभावित किया हैं, जिनका वर्णन नीचे किया जा रहा है, लेकिन मतदान के बारे में एक बात निश्चित है कि यह जनसंख्यात्मक लक्षणों और सामाजिक व आर्थिक तत्वों के अनुसार बदलता रहता है।

(1) जातिवादः

जातिवाद मतदान व्यवहार को प्रभावित करने वाला एक प्रमुख तत्व रहा है। वैसे तो इस तत्व का प्रभाव भारतीय संघ के सभी राज्यों में है, लेकिन फिर भी बिहार, उत्तरप्रदेश, हरियाणा, पंजाब, राजस्थान और केरल में इस तत्व का प्रभाव अधिक है। इस सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण और आशावर्द्धक तथा यह है कि यदि चुनाव के अन्तर्गत कोई महत्वपूर्ण प्रश्न या विशेष समस्या सामने हो, तो फिर जाति के तत्व का प्रभाव बहुत कम हो जाता हैं। 1971 के लोकसभा चुनाव, 1972 के विधानसभा चुनाव, 1977 के लोकसभा चुनावों और दिसम्बर 1984 व नवम्बर 1989 के लोकसभा चुनावों में यह बात देखी गयी है।

आर्थिक स्थिति :

व्यक्तियों की आर्थिक स्थिति भी मतदान व्यवहार को प्रभावित करती है। साधारणतया यदि व्यक्तियों की आर्थिक स्थिति अच्छी हो तो मतदाता शासक दल के पक्ष में मतदान करते हैं, अन्यथा शासक दल के विरूद्ध। इसी कारण शासक दल की यह चेष्टा रहती है कि चुनाव 'अच्छी क षि' के वर्ष में हों। 1980 के लोकसभा चुनाव मे जनता पार्टी की पराजय का एक कारण जनता की आर्थिक कठिनाइयां भी थी, जिसके लिए उन्होंने जनता पार्टी और जनता 'एस' को उत्तरदायी माना।

नेत त्व :

मतदाता को प्रभावित करने वाला एक बहुत अधिक तत्व नेत त्व है और इस तत्व के आधार पर भारत के अब तक चुनाव परिणामों की व्याख्या की जा सकती है। प्रथम तीन आम चुनावों में काग्रेस की विजय का कारण प० नेहरू का व्यक्तिगत था, चौथे आम चुनाव में काग्रेस के पास प० नेहरू जैसा कोई व्यक्तित्व नहीं था। 1971 तथा 1972 के चुनावों में श्रीमति गांधी के नेत त्व के आधार पर विजय प्राप्त की जा सकी ओर 1977 में कांग्रेस की भारी पराजय

का कारण यह था कि श्रीमति गांधी के व्यक्तित्व की छवि बहुत अधिक धूमिल हो गई थी। नेत त्व का प्रश्न चुनाव में कितना अधिक महत्वपूर्ण होता है, यह बात 1980 के लोकसभा चुनावों से पूर्णतया स्पष्ट हो गयी है। दिसम्बर 1984 के लोकसभा चुनावों में भी जनता ने नेत त्व के प्रश्न पर ही मतदान किया। 1989 में कांग्रेस की पराजय का कारण बोर्फोस सौदे में दलाली को लेकर राजीव गांधी की छवि का धूमिल होना था। फरवरी 1998 तथा 1999 के चुनावों में भाजपा की सफलता का राज श्री अटल बिहारी वाजपेयी का व्यक्तित्व ही प्रमुख तत्व माना जाता है।

राजनीतिक स्थिरता और केन्द्र में सुद ढ़ सरकार की आकांक्षा

भारतीय मतदाता सामान्यता राजनीतिक स्थिरता और केन्द्र में सुद ढ़ शासन चाहते है और 1977 के पूर्व तक उनके द्वारा कांग्रेस को समर्थन प्रदान किये जाने का एक प्रमुख कारण रहा है। 1977 में जब उन्हें यह विश्वास हो गया कि जनता पार्टी स्थायी शासन देने में समर्थ है तभी उनके द्वारा इस दल को सता प्रदान की गयी। 1980 तथा 1984 के लोकसभा चुनावों मे जनता द्वारा इन्दिरा कांग्रेस का भारी बहुमत प्रदान किये जाने का यह सबसे प्रमुख कारण था।

दलों की विचार धारा, कार्यक्रम व नीति

भारतीय मतदाता यद्यपि बहुत अधिक नहीं, लेकिन कुछ सीमा तक दलों की विचारधारा, कार्यक्रम और नीति से भी प्रभावित होते है। इस सम्बन्ध मे उनके द्वारा निषेधात्मक विचारधारा और कार्यक्रम के स्थान पर सकारात्मक विचारधारा और कार्यक्रम को पसन्द किया जाता है। 1971 के चुनाव में जनता ने 'गरीबी हटाओ' के कार्यक्रम को अपना मत दिया था। और 1979 में उन्होंने महसूस किया कि जनता पार्टी अन्य बातों के साथ-साथ सकारात्मक आर्थिक कार्यक्रम रख रही है।

क्षेत्रवाद की प्रव ति :

भारत के कुछ क्षेत्रों में क्षेत्रवाद की प्रव ति प्रबल है। पंजाब में अकाली दल 1967 से 1971 तक, तमिलनाडु में डी०एम०के० और 1977 के चुनावों में अन्ना डी०एम०के० की सफलता इस क्षेत्रवादी प्रव ति का परिचय देती है। प० बंगाल और केरल, आदि राज्यों में कुछ क्षेत्रीय दलों की सफलता का कारण भी यही है।

भाषाई स्थिति :

भाषा का तत्व भी भारत में मतदान व्यवहार को प्रभावित करता रहा है। 1967 और 1971 के चुनावों में डी०एम० के० ने हिन्दी विरोध के नाम पर समर्थन प्राप्त किया और 1977 के लोकसभा चुनावों में दक्षिण भारत में जनता पार्टी की असफलता का एक कारण यह रहा है कि दक्षिण भारत के व्यक्तिय अब तक जनता पार्टी की भाषा नीति के सम्बन्ध में पूर्णतया आश्वस्त नहीं थे।

युद्ध में सफलता-असफलता :

युद्ध में सफलता-असफलता भी मतदान व्यवहार को प्रभावित करती है। 1962 की असफलता का 1967 में कांग्रेस के भाग्य पर विपरीत प्रभाव पड़ा और 1971 के युद्ध में प्राप्त सफलता ने 1972 के विधानसभा चुनावों में कांग्रेस की सफलता को बहुत सरल कर दिया।

सामन्तशाही व्यवस्था का प्रभाव :

मतदान व्यवहार पर सामन्तशाही व्यवस्था का प्रभाव भी देखा गया, लेकिन यह प्रभाव क्रमशः कम होता जा रहा है।

स्वतन्त्रता आन्दोलन में कांग्रेस और अन्य दलों की भूमिका :

स्वतन्तत्रा प्राप्ति के बाद प्रथम तीन चुनावों में इस तत्व की भूमिका प्रमुख रही है। लेकिन यह क्रमशः कम होती गयी और ऐसा होना नितान्त स्वाभाविक भी है।

आर्थिक साधन :

आर्थिक साधन भी मतदान व्यवहार को प्रभावित करते हैं लेकिन 1977 से चुनावों ने स्पष्ट कर दिया कि आर्थिक साधन चुनाव को निर्णायक रूप में प्रभावित नहीं कर पाते। 1984 के लोकसभा चुनावों तथा 1985 के विधानसभा

चुनावों में आर्थिक साधनों की भूमिका का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है।

दल अथवा प्रत्याशी की जीत की संभावना :

कौन-सा दल या कौन-सा उम्मीद्वार चुनाव जीतने की स्थिति में है। यह मतदान व्यवहार को प्रभावित करता है। यदि जनता को ऐसा लगे कि अमुक उम्मीदवार या दल चुनाव जीतने की स्थिति में है तो अधिकतर मतदाता उसी के पक्ष में अपने मत का प्रयोग करते है ताकि उनका मत व्यर्थ न जायें। ऐसा 1977 के चुनावों मे हुआ।

तत्कालीन परिस्थितियाँ :

चुनाव के समय जो महत्वपूर्ण समस्याएं अथवा मुद्दे मौजूद होते हैं, वे भी मतदान व्यवहार को बहुत प्रभावित करते है। उदाहरण के तौर पर सन् 1977 के लोकसभा चुनाव के समय संकटकालीन स्थिति को घोषणा एक ऐसा मुद्दा थी, जिसका मतदान पर बहुत प्रभाव पड़ा। इसी प्रकार सन् 1984 में इंदिरा गांधी की हत्या तथा 1991 में राजीव गांधी की हत्या ने पूरे देश में मतदान व्यवहार को प्रभावित किया।

संक्षेप मे कह सकते है कि भारत में मतदान व्यवहार को बहुत से तत्व प्रभावित करते है। अभी तक यह समझा जाता रहा है कि भारतीय जनता अशिक्षित, निर्धन और अनेक कारणों से अपने मताधिकार का प्रयोग सही रूप से नहीं कर पाती है, लेकिन ऐसा सोचना उचित नहीं है। आज भारतीय मतदाता जागरूक है। वह अशिक्षित व निर्धन होने के बावजूद भी अपने मत का सही रूप से प्रयोग करना जानती है। भारतीय जनता ने इस बात का परिचय पिछले चुनावों में दिया है। कोई भी दल जनात की स्वीक ति के बिना सत्ता में नहीं रह सकता। 1991 के चुनावों में बोफोर्स का मामला छाया रहा और कांग्रेस के विरूद्ध मतदान हुआ, वह बात अलग कि कांग्रेस ने ही सरकार का गठन किया। 1996, 1998 तथा 1999 में हुए लोकसभा व विधानसभा चुनावों में भी यह सिद्ध कर दिया कि मतदाता का रूझान क्षेत्री दलों की ओर है।

अध्याय-25
भारत का निर्वाचन आयोग
(The Election Commission of India)

'चुनाव व्यवस्था' लोकतान्त्रिक व्यवस्था का प्रण है। प्रत्येक शासन व्यवस्था मे किसी न किसी प्रकार की चुनाव-प्रक्रिया के महत्व को स्वीकार किया जाता है, किन्तु निर्वाचन प्रक्रिया तथा उस प्रक्रिया का संचालन करने वाली मशीनरी लोकतान्त्रिक व्यवस्था का बुनियादी आधार है। लोकतन्त्र में यह महत्वपूर्ण नहीं है कि चुनाव होते है अपितु इससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण यह है कि चुनाव किस भांति होते है, चुनाव कितने निष्पक्ष होते हैं और मतदाता का निर्वाचन व्यस्था का संचालन करने वाले अभिकरण की निष्पक्षता और ईमानदारी पर कितना विश्वास है?

भारत एक लोकतान्त्रात्मक देश में जहां केन्द्र, प्रदेश तथा स्थानीय स्तर पर आये दिन चुनाव होते रहते है। इन चुनावों के माध्यम से जनता अपने शासकों (जन-प्रतिनिधियों) का चयन करती है, जनता शासकों पर नियन्त्रण रखती हैं और सरकार को वैद्यता प्रदान करती है। नागरिक मताधिकार के माध्यम से ऐसी सरकार को बदल सकते हैं जो उनकी इच्छाओं का सम्मान नहीं करती। वस्तुतः भारत में निर्वाचन अप्रत्यक्ष रूप से लोकमत की अभिव्यक्ति है।

भारत के संविधान निर्माता चुनावों के महत्व से परिचित थे और इसलिए भारतीय संविधान में उन्होंने एक ऐसे संवैधानिक आयोग की स्थापना की है जिसका प्रमुख कार्य सम्पूर्ण देश में राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, लोकसभा, राज्यसभा के सदस्य एवं राज्य विधानमण्डलों के सदस्यों का निर्वाचन सम्पन्न कराना हैं। इस संवैधानिक आयोग को 'चुनाव आयोग' (Election Commission) के नाम से जाना जाता हैं। जहां विश्व के अधिकांश शासन विधानों में निर्वाचन को अपेक्षाक त कम महत्वपूर्ण विषय समझकर उसे विधानमण्डल की इच्छा पर छोड़ दिया गया है। वहां भारतीय संविधान निर्माताओं ने निर्वाचन सम्बन्धी सम्पूर्ण व्यवस्था के संचालन का प्रावधान संविधान के अन्तर्गत कर दिया है। निर्वाचन तन्त्र के महत्व पर प्रकाश डालते हुए संविधान निर्यात्री सभा में प० ह द्यनाथ कुंजरन ने कहा था-"अगर निर्वाचन तन्त्र दोषपूर्ण है या निष्पक्ष नहीं है या गैर-ईमानदार लोगों द्वारा संचालित होता है तो लोकतन्त्र अपने उद्भव में ही डगमगा जायेगा। स्वतन्त्र निर्वाचन तन्त्र के महत्व को स्वीकार करते हुए भारतीय संविधान के एक प थक अध्याय-अनुच्छेद 324 से 329 में निर्वाचन तन्त्र से सम्बन्धित सम्पूर्ण व्यवस्था की गई है।

निर्वाचन आयोगः संरचना एवं संगठन
(Election Commission: Structure and Organisation)

संविधान के अनुच्छेंद 324 के अन्तर्गत निर्वाचनों का निरीक्षण, निर्देशन और नियन्त्रण करने के लिए निर्वाचन आयोग की स्थापना की गई है। निर्वाचन आयोग में एक मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा अन्य उतने निर्वाचन आयुक्त होगें जितने कि राष्ट्रपति समय समय पर मनोनीत करें। मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा अन्य निर्वाचन आयुक्तों की नियुक्ति संसद द्वारा निर्मित किसी विधि के अधीन रहते हुए राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। राष्ट्रपति निवार्चन आयोग से परामर्श करके आयोग की सहायता के लिए ऐसे प्रादेशिक आयुक्तों की नियुक्ति कर सकता है जैसा कि आवश्यक समझे। निर्वाचन आयुक्तों और प्रादेशिक आयुक्तों की सेवा की शर्त और पदावधियां ऐसी होगी जो कि राष्ट्रपति नियम द्वारा निर्धारित करें। मुख्य निर्वाचन आयुक्त अपने पद से उन्हीं कारणों पर और उन्हीं रीतियों से हटाया जायेगा जिन कारणों और रीतियों से सर्वोच्च न्यायाल का न्यायधीश हटाया जा सकता है। नियुक्ति के बाद मुख्य निर्वाचन आयुक्त की सेवा की शर्तो में अलाभकारी कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता।

यद्यपि निर्वाचन आयोग को बहुसदस्यीय बनाने के पूर्व अनुभव अच्छे नहीं रहे हैं, लेकिन एक बार फिर केन्द्र सरकार ने 1 अक्तूबर 1993 को एक अधिसूचना जारी करके निर्वाचन आयोग को बहुसदस्यीय बना दिया। इसके अनुसार आयोग में

मुख्य चुनाव आयुक्त के अतिरिकत दो अन्य चुनाव आयुक्त होंगे। बाद में जारी एक अन्य अधिसूचना के माध्यम से एम०एस० गिल और जी०वी० जी० जति क ष्णमूर्ति की नियुक्ति चुनाव आयुक्त के रूप में कर दी गई। राष्ट्रपति ने केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल की सिफारिश पर चुनाव आयोग को बहुसदस्यीय बनाने की अधिसुचना जारी की। इस अधिसूचना के माध्यम से मुख्य निर्वाचन आयुक्त एवं अन्य निर्वाचन आयुक्त (सेवा शर्त) अधिनियम 1991 में संशोधन किया गया। इस संशोधन के उपरान्त वेतन एवं अन्य सेवा शर्तो के अतिरिक्त अन्य चुनाव आयुक्त, मुख्य चुनाव आयुक्त तथा उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के समकक्ष हो गये। अध्यादेश में मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा अन्य चुनाव आयुक्तों के बीच कार्य विभाजन को भी परिभाषित किया गया। केवल पद नाम को छोड़कर शेष सभी क्षेत्रों में मुख्य चुनाव आयुक्त तथा अन्य दो चुनाव आयुक्तों के मध्य कोई अन्तर नहीं रह गया है, निर्णय अब एकमत से लिए जा सकते है या चुनाव अयोग से सम्बन्धित कार्य मुख्य चुनाव आयुक्त और अन्य चुनाव आयुक्त आपस में विभाजित कर सकते हैं। यदि मुख्य चुनाव आयुक्त और अन्य आयुक्तों में किसी मामलें पर मतभेद होता है तो बहुमत का निर्णय मान्य होगा।

चुनाव आयोग के कार्य :
(Functions of the Election Commission)

चुनावों से सम्बन्धित समस्त व्यवस्था करना चुनाव अयोग का कार्य है। इस सम्बन्ध में प्रमुख रूप में उसके निम्नलिखित कार्यो का उल्लेख किया जा सकता है। व्यवस्था करना चुनाव आयोग का काय्र है। इस सम्बन्ध में प्रमुख रूप में उसके निम्नलिखित कार्यो का उल्लेख किया जा सकता है:

(1) चुनाव क्षेत्रों का सीमाकंन
(Delimitation of Constituencies)

चुनाव आयोग का कार्य चुनाव क्षेत्रों का सीमाकंन होता है। प्रथम आम चुनाव में निर्वाचन क्षेत्रों का सीमाकंन 'जनप्रतिनिधित्व अधिनियम 1950' के अन्तर्गत राष्ट्रपति द्वारा जारी किये गये आदेश के आधार पर किया गया था, लेकिन यह व्यवस्था सन्तोष जनक नहीं पाई गई अतः ससंद ने 'पारिसीमन आयोग अधिनियम 1952' पारित किया। इस अधिनियम में यह प्रावधान है कि दस वर्ष होने वाली प्रत्येक जनगणना के उपरान्त निर्वाचन क्षेत्रों का सीमाकंन किया जाना चाहिए। मुख्य चुनाव आयुक्त इस परिसीमन आयोग का अध्यक्ष होता है। आयोग की सहायता के लिए प्रत्येक राज्य से दो से लेकर सात तक सहायक सदस्यों का प्रावधान है। वे सहायक सदस्य सम्बन्ध राज्य से लोकसभा या राज्य विधानसभा के लिए निर्वाचित सदस्यों में सें चुने जाते है। जनता के द्वारा व्यक्तिगत या संगठित रूप से आयोग के सम्मुख सुझाव या आपत्तियां प्रस्तुत की जा सकती हैं, जिन पर खुली बैठकों में विचार आवश्यक माना गया हैं। इसके उपरान्त ही आयोग 'सीमाकंन आदेश' की घोषणा करता हैं जो अन्तिम होता है तथा जिसके विरूद्ध किसी भी न्यायालय में अपील नहीं की जा सकती है। परिसीमन आयोग की यह समस्त व्यवस्था 'गैरिभेण्डरिंग' (Gerreymendering) जैसी बुराईयों को सीमित करने के लिए की गयी है।

(2) मतदाता सूचिंया तैयार करना
(To Prepare Electoral Rolls)

चुनाव आयोग द्वारा लोकसभा या विधानसभा के प्रत्येक चुनाव या मध्यावधि चुनाव के पूर्व मतदाता सूचियाँ तैयार करवायी जाती हैं और इस कार्य के सम्पन्न होने पर ही चुनाव होते है। मतदाता सूची तैयार करने का कार्य इस उदेद्धय से किया जाता है कि कोई भी ऐसा व्यक्ति मताधिकार से वंचित न रहे जो मताधिकार की योग्यता रखता है।

(3) विभिन्न राजनीतिक दलों को मान्यता प्रदान करना
(To Recognise different Political Parties)

चुनाव आयोग का महत्वपूर्ण कार्य विभिन्न राजनीतिक दलों को मान्यता प्रदान करना है। इस सम्बन्ध में आयोग के द्वारा कोई आधार निश्चित किया जा सकता है। चुनाव आयोग द्वारा मान्यता प्रदान किये जाने के आधार में समय समय पर परिवर्तन किये जा सकते है और किये जाते रहे है। वर्तमान नियम के अनुसार किसी राजनैतिक दल को राज्य स्तरीय दल के रूप में तभी मान्यता मिलती है, जब उसे संसदीय या विधानसभा चुनाव में उस राज्य से कुल

वैद्य मतों का न्यूनतम चार प्रतिशत मत मिले अथवा लोकसभा के लिए उस राज्य से निर्वाचित 25 या उससे कम सदस्यों के अनुपात में कम से कम उसका एक निर्वाचित सदस्य हो। चार या उससे अधिक राज्यों में मान्यता मिल जाने पर उस दल को राष्ट्रीय दल की मान्यता दी जाती है।

(4) राजनीतिक दलों को आरक्षित चुनाव चिन्ह प्रदान करना
(To allot Reserve Election symbols to Political Parties)

आयोग मान्यता प्राप्त राजनीतिक दलों को आरक्षित (Reserve) चुनाव चिन्ह प्रदान करता है और भारत की प ष्ठभूमि में आयोग का यह कार्य निश्चित रूप से महत्वपूर्ण है। यदि चुनाव चिन्ह के प्रश्न पर दो राजनीतिक दलों के बीच कोई विवाद उत्पन्न हो जाये तो उस स्थिति में आयोग से यह अपेक्षा की जाती है कि वह निष्पक्ष और न्यायिक ढंग से विवाद का निपटारा करेगा। इस सम्बन्ध में आयोग के निर्णय के विरूद्ध उच्चतम न्यायालय मे अपील भी की जा सकती है।

(5) अर्द्ध न्यायिक कार्य
(Quasi-judicial Functions)

संविधान के द्वारा आयोग को कुछ अर्द्ध-न्यायिक कार्य भी सौंपें गये है, जिसमें दो उल्लेखनीय हैः अनुच्छेद 103 के अर्न्तगत राष्ट्रपति संसद के सदस्यों की अयोग्यताओं (Disquafication) के सम्बन्ध में परामर्श कर सकता है तथा 192वें अनुच्छेद के अन्तर्गत राज्य विधानमण्डल के सदस्यों के सम्बन्ध में यह अधिकार राज्यों के राज्यपालों को दिया गया है, लेकिन संविधान अथवा जन प्रतिनिधित्व अधिनियम में कार्य को करने की कोई प्रक्रिया निश्चित नही की गयी है और इसलिए इस कार्य को करने में आयोग ने कठिनाइयां अनुभव की हैं।

(6) अन्य कार्य
(Other Functions)

आयोग को उपर्युक्त के अतिरिक्त कुछ अन्य कार्य सौंपे गये है जो इस प्रकार हैः

i) राजनीतिक दलों के लिए आचार सहिता (Code of Conduct) तैयार करना।

ii) राजनीतिक दलों को आकाशवाणी पर चुनाव प्रचार की सुविधाएँ दिलवाना।

iii) उम्मीदवारों द्वारा किये जाने वाले कुल व्यय की राशि निश्चित करना।

iv) मतदाताओं को राजनीतिक प्रशिक्षण्या देना।

v) चुनाव याचिकाओं आदि के सम्बन्ध में सरकार को आवश्यक परामर्श देना।

अन्त में आयोग से यह अपेक्षा की जाती है कि वह समय-समय पर सरकार को अपने कार्यो के सम्बन्ध में प्रतिवेदन देता रहेगा और चुनाव प्रक्रिया में सुधार के लिए सुझाव देता रहेगा।

निर्वाचन आयोग की स्वतन्त्रा के लिए संवैधानिक प्रावधान
(Independence of the Election Commission : Constitutional Provisions)

भारत में निर्वाचन आयोग एक स्वतन्त्र संवैधानिक निकाय हैं और संविधान इस बात को सुनिश्चित करता है कि यह उच्चतम और उच्च न्यायालय की भांति कार्यपालिका के बिना किसी हस्तक्षेप के स्वतन्त्र और निष्पक्ष रूप से अपने कार्य को सम्पादित कर सके। इसकी स्वतन्त्र को बनाये रखने के बारे में प्रावधान ये है :

i) निर्वाचिन आयोग एक संवैधानिक संस्था है अर्थात इसका निमार्ण संविधान ने किया है न कि कार्यपालिका या संसद ने।

ii) मुख्य चुनाव आयुक्त तथा अन्य चुनाव आयुक्तों की नियुक्ति राष्ट्रपति करते हैं।

iii) मुख्य चुनाव आयुक्त को माहभियोग जैसी प्रक्रिया से ही हटाया जा सकता है।

iv) मुख्य चुनाव आयुक्त का दर्जा उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के बराबर है।

v) नियुक्ति के बाद मुख्य चुनाव आयुक्त एवं अन्य चुनाव आयुक्तों की सेवा शर्तो में कोई अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जा सकता है।

vi) मुख्य निवार्चन आयुक्त तथा अन्य आयुक्तों का वेतन भारत की संचित निधि में से दिया जाता है।

संक्षेप में, संविधान निर्वाचन आयोग के पदाधिकारियों को पूर्ण सरक्षंण प्रदान करता है, जिसे वे अपने कार्यो को निडरता, निष्पक्षता तथा बिना किसी हस्तक्षेप के सयादित कर सकें।

निर्वाचन आयोग : आलोचना
(Elections Commissions : Criticism)

भारत में समय समय पर निर्वाचन आयोग पर शासक दल के साथ पक्षपात करने के आरोप लगाये जाते रहे है। आयोग की निम्नलिखित आलोचनाएं की जाती हैं :

1) प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों की मुख्य चुनाव आयुक्त के पद पर नियुक्ति :

आलोचकों के अनुसार मुख्य चुनाव आयुक्त के पद पर आमतौर से भारतीय प्रशासनिक सेवा (I.A.S) के अधिकारियों की नियुक्ति की जाती है। उन अधिकारियों को नियुक्त किया जाता है जिन्हें शासक दल निष्ठावान मानता है। सतारूढ़ दल द्वारा अपने चेहते व्यक्तियों को मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा निर्वाचन आयुक्त के पद पर पुरस्क त किया जाता है। वे अधिकारी जिन्होंने सत्तारूढ़ दल के मातहत के रूप में काम किया है चुनाव आयुक्त के रूप में निष्पक्ष भूमिका अदा कैसे कर सकते है।

2) निर्वाचिन आयोग सत्तारूढ़ दल एवं सरकार के इशारे पर काम करता है :

सैद्धान्तिक रूप में यह कहा जाता है कि भारत में निर्वाचन का समय व तिथियां निर्वाचन आयोग द्वारा घोषित की जाती है, लेकिन वास्तव में वह सत्तारूढ़ दल की इच्छा एवं सुविधा को ध्यान में रखकर काम करता है।

3) निर्वाचन सम्पन्न कराने के लिए राज्य सरकारों के कर्मचारियों पर निर्भरता :

चुनाव आयोग के पास निर्वाचन कार्यो के लिए स्वतन्त्र कर्मचारी तन्त्र नहीं है। उसे राज्य सरकार के कर्मचारियों पर निर्भर रहना पड़ता हैं। ये कर्मचारी आयोग के प्रति उतने समर्पित नही होते और कई बार निष्पक्ष आचारण नहीं करते।

4) चुनाव धांधलियों को रोक पाने के असमर्थः

वर्तमान में चुनाव आयोग चुनाव धाधलियों को रोक पाने में अपने को असहाय पाता है। चुनावों में बाहुबल, हिंसा मतदान स्थलों पर कब्जा, फर्जी मतदान करने की प्रव ति बढ़ती जा रही है, किन्तु चुनाव आयोग मूक-दर्शक बना रहता है।

5) कागजी अधिकारः

चुनावी भ्रष्टाचार पर काबू पाने के चुनाव आयोग के अधिकांश अधिकार कागजों तक ही सीमित है। अगर चुनावों की व्यवस्था कारगर है और भरोसेमन्द तरीके से करनी है तो आयोग के लिए कारगर अधिकारों और पर्याप्त संसाधनों की तत्काल जरूरत हैं। खासकर संसद में कानून बनाकर आयोग को नियन्त्रक और महालेखा परीक्षक सरीखी है स्थित दिये जाने की जरूरत है।

अध्याय-26

भारत में चुनाव सुधार
(Electoral Reforms In India)

भारत में संसदीय लोकतंत्रीय शासन प्रणाली की स्थापना की गई हैं, जिसमें जनता एक निश्चित समय के लिए अपने प्रतिनिधियों का चुनाव करती है। जनता द्वारा निवार्चित ये प्रतिनिधि उस काल में देश का शासन चलाते है। इसलिए लोकतन्त्र के संचालन के लिए चुनाव आवश्यक है। चुनावों के द्वारा ही सरकार को वैधानिकता प्राप्त होती है। लोकतन्त्र की सफलता स्वतन्त्र तथा निष्पक्ष चुनावों पर ही निर्भर करती है।

भारत की चुनाव प्रणाली की मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित है :

(1) व्यस्क मताधिकार
(Adult Fincridrise)

भारत के निर्वाचन प्रणाली की पहली विशेषता व्यस्क मताधिकार है। भारतीय संविधान की धारा 326 के अनुसार "लोकसभा व प्रत्येक राज्य की विधानसभा का चुनाव वयस्क मताधिकार के आधार पर होगा, इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति जो भारत का नागरिक है और उसकी आयु 18 वर्ष से कम नही है..... को अपने राज्य में इन चुनावों के लिए मतदाता के रूप में अथवा नाम रजिस्टर करवाने का अधिकार होगा।" मताधिकार के सम्बन्ध में जन्म, नस्ल, रंग, लिंग, जाति तथा धर्म आदि के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव नही किया जा सकता है। भारत के प्रत्येक नागरिक को जो 18 वर्ष की आयु पूरी कर चुका है, मतदान करने का अधिकार दिया गया है।

(2) संयुक्त चुनाव पद्धति
(Joint Electorate)

स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व अंग्रेजों ने भारत में अपनी 'बाटो और शासन करो' (Divide and Rule) की नीति का अनुसरण करते हुए भारत में प थक चुनाव प्रणाली (Separate electrorate) की व्यवस्था लागू कर रखी थी। इस नीति के अन्तर्गत अंग्रेजों ने चुनाव के लिए मतदाताओं को विभिन्न वर्गो, श्रेणियों तथा जाति समूहों में बांट रखा था। भारत के संविधान निर्माताओं ने देश की एकता तथा अखण्डता को द ढ़ करने के लिए इस चुनाव प्रणाली को समाप्त करके संयुक्त चुनाव प्रणाली की व्यवस्था की है। इसका अर्थ यह है कि अब प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र के लिए एक ही मतदान सूचि होती है जिसमें उस क्षेत्र में रहने वाले सभी मतदाताओं के नाम शामिल किये जाते है, चाहे वे किसी भी जाति से सम्बन्ध रखते हो, किसी भी धर्म का पालन करते हो।

(3) एक सदस्य निर्वाचन क्षेत्र
(Single Member Constituency)

भारत में एक सदस्य निर्वाचन क्षेत्र की व्यवस्था की गई है। प्रत्येक राज्य क्षेत्र से जितने सदस्य चुने जाते है उसे उतने लगभग समान निर्वाचन क्षेत्रों में बांट दिया जाता है और प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र से एक सदस्य चुना जाता है।

(4) अनुसूचित जातियां तथा पिछड़े वर्गो के लिए स्थान सुरक्षित रखने की व्यवस्था
(Provision for Reservation of seats for the Scheduled castes and other Backward Classes)

भारतीय संविधान के अनुसार संसद, राज्यों के विधानमण्डलों तथा स्थानीय स्वशासन की इकाइयों में पिछड़ी हुई जातियों, हरिजनों तथा एग्लों इंडियन जाति के सदस्यों के लिए स्थान सुरक्षित रखने की व्यवस्था की गई है। आरम्भ में यह व्यवस्था केवल दस वर्ष के लिए थी परन्तु दस-दस वर्ष के लिए बढ़ाकर इसे लागू रखा गया है।

(5) गुप्त मतदान
(Secret Voteing)

स्वतन्त्र तथा निष्पक्ष चुनावे के लिए गुप्त मतदान आवश्यक है। भारत मे भी लोकसभा, विधानसभा आदि के चुनाव के लिए गुप्त मतदान प्रणाली को अपनाया गया है। मत डालने वाले के अतिरिक्त अन्य किसी व्यक्ति को इस बात का पता नहीं लगता कि उसने अपना मतदान किस उम्मीदवार को दिया है।

(6) परिणाम साधारण बहुमत के आधार पर
(Result on the basis of simple majority)

चुनाव परिणाम वैद्य मतों के बहुमत के आधार पर घोषित किया जाता है। वैद्य मतों की गणना की जाती है और जिस उम्मीदवार को उनमें से सबसे अधिक मत प्राप्त होते है उसे निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है।

(7) चुनाव याचिका
(Election Petition)

भारतीय चुनाव प्रणाली की विशेषता है कि चुनाव सम्बन्धी झगड़ो के लिए चुनाव याचिका की व्यवस्था की गयी है। चुनाव निश्चित प्रक्रिया के अनुसार होता है और चुनाव प्रचार के लिए ऐसे साधनों का प्रयोग नहीं किया जा सकता, जिनकी कानून द्वारा मनाही की गई हो। चुनाव याचिका उच्च न्यायालय में की जा सकती है। यदि किसी प्रतिनिधि ने अपना चुनाव जीतने के लिए भ्रष्ट साधन अपनाये हों या वह किसी अन्य कारण से चुनाव लड़ने के अयोग्य हो तो उच्च न्यायालय द्वारा उसका चुनाव रद्द घोषित किया जा सकता है।

संविधान के लागू होने से लेकर अब तक देश में 13 आम चुनाव हो चुके हैं जिनके द्वारा मतदाताओं ने कई बार सत्ता परिवर्तन भी किया है। परन्तु फिर भी यहां की चुनाव प्रणाली में अनेक कमियां है। भारतीय चुनाव प्रणाली की मुख्य कमियां निम्नलिखित हैं :

(1) राजनैतिक दलों को प्राप्त जनसमर्थन और उन्हें प्राप्त स्थानों के अनुपात में अन्तर
(Dispeity between the people support to Poltical Parties and the number of seats won by them)

भारतीय चुनाव प्रणाली का एक मुख्य दोष यह है कि एक चुनाव क्षेत्र से वह उम्मीदवार निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है, जिसे अन्य उम्मीदवारों से अधिक मत प्राप्त होते है, जिसे अन्य उम्मीदवारों से अधिक मत प्राप्त होते है, चाहे पराजित उम्मीदवारों को मिलें मतों का योग विजयी उम्मीदवार को मिले मतो से कितना भी अधिक क्यों न हो? इस चुनाव प्रणाली में प्रायः उस दल को सतारूढ़ दल होने का अवसर मिल जाता है जिसे देश के मतदाताओं का बहुमत प्राप्त नहीं होता और जिसे प्राप्त हुआ मत प्रतिशत (Percentage of votes) विपक्ष को मिले मत प्रतिशत की तुलना में बहुत कम होता है। आज तक केन्द्र में सत्तारूढ़ होने वाले किसी भी दल को 50 प्रतिशत मतों का समर्थन प्राप्त नही हुआ, फिर भी इसे स्पष्ट बहुमत, दो-तिहाई बहुमत और कई बार उससे भी अधिक स्थान प्राप्त हुए हैं।

(2) चुनावों में धन की बढ़ती भूमिका
(Increasing role of money in elections)

चुनावा में एक और गम्भीर समस्या है चुनावों में धन की बढ़ती हुई भूमिका हमारे संविधान निर्माता इस विषय में पहले से ही सजग थे, इसलिए उन्होंने लोकसभा व राज्य विधानसभा के सदस्य के चुनाव के लिए खर्च की जाने वाली राशि की सीमा निश्चित की। आरम्भ में यह सीमा लोकसभा के चुनाव के लिए 35 हजार थी जिसे बाद में बढ़ाकर 4.5 लाख कर दिया गया। दिसम्बर 1997 में सरकार ने एक अधिसूचना जारी की। इस अधिसूचना के अनुसार लोकसभा के चुनाव के लिए यह राशी 15 लाख तथा राज्य विधान सभा के एक निर्वाचन क्षेत्र के लिए खर्च की सीमा राशि 6 लाख कर दी गई, परन्तु व्यवहारिक रूप में यह राशि भी बहुत कम बताई जाती है और कहा जाता है कि व्यावहारिक रूप में लोकसभा चुनाव में उम्मीदवार को इससे कई गुणा अधिक धन खर्च करना पड़ता है। चुनावों में पैसा पानी की तरह बहाया जाता है। कई बार नोट से वोट खदीदे जाते है। चुनावों में विदेशी धन जो प्रायः काला धन होता है, का

प्रयोग भी एक गम्भीर समस्या है।

(3) चुनाव में सतारूढ़ दल द्वारा सरकारी मशीनरी का दुरूपयोग
(Misuse of official mechinary by the ruling party in elections)

चुनावों में सत्तारूढ़ दल सरकारी मशीनरी का खूलकर दुरूपयोग करता है। मतदाताओं को सत्तारूढ़ दल की और आकर्षित करने के लिए चुनावों के समय मन्त्रियों तथा कुछ अन्य उच्च अधिकारियों द्वारा प्रायः स्कूलों, अस्पतालों, पुलों आदि के शिलान्यास किये जाते है। सरकारी कर्मचारियों के वेतन तथा भत्तों में व द्धि की जाती है और कर्जे माफ किये जाते है। नई विकास योजनाऐं घोषित की जाती है।

(4) निर्वाचन अधिकारियों पर अनुचित दबाव
(Pressue on Election Officers)

प्रायः यह आरोप लगाया जाता है कि सत्ताधारी दल चुनाव अधिकारियों पर अनुचित दवाब डालकर अपने हितों को साधने का प्रयत्न करते है। पूर्व मुख्य चुनाव आयुक्त सेन वर्मा ने एक बार स्वयं स्वीकार किया था कि, "राजनीतिक दबाव में आकर मतदाता सूचियों में गड़बड़ी की गई। मन्त्रियों तक ने चुनाव में हस्तक्षेप किया। संसद सदस्यों तन के नाम मतदाता सूचियों में से निकाल दिये गए। ताकि वे चुनाव न लड़ सकें तथा प्रतिपद्धति उम्मीदवारों के नामाकंन पत्र भारी संख्या में रद्द कर दिए गए। चुनाव के पहले और चुनाव के बाद चुनाव अधिकारियों को तंग करने की शिकायत भी कम नहीं है।

(5) मतदाता सूचियों के सम्बन्ध में समस्याऐं
(Problems relating to votes lists)

चुनाव से पहले सत्तारूढ़ दल द्वारा मतदाता सूचियों में फेरबदल करना भी भारतीय चुनाव प्रणाली की एक मुख्य समस्या है। मतदाता सूचियों को दोहराने के नाम पर विरोधी वर्गो के मतदाताओं के नामों को निकालने तथा अपने समथर्को के नामों को सूचियों में जोड़ने का प्रयास किया जाता है।

(6) निर्दलीय उम्मीदवारों की बढ़ती हुई संख्या
(Increasing number of Independent Candidates)

भारतीय चुनावों में निर्दलीय उम्मीदवारों की संख्या बढ़ती जा रही है। यह बढ़ती हुई संख्या चुनाव व्यवस्था में कई प्रकार की कठिनाइयां पैदा करती है और सारा चुनाव द श्य धुंधला पड़ जाता है। अधिकतर उम्मीदवार तो मजाक के लिए चुनाव में खड़े हो जाते है या फिर वे प्रमुख उम्मीदवारों से धन बटोरने के लिए चुनाव में खड़े हो जाते हैं।

(7) मतदाताओं की अनुपस्थिति
(Absence of the Voters)

हमारे चुनावों में बहुत से मतदाता भाग लेते ही नहीं। मतदान चुनाव में रूचि लेते ही नहीं। मतपत्र का प्रयोग न करना एक प्रकार से लोकतन्त्र को धोखा देना ही है। अक्सर देखने में आता है कि 60 प्रतिशत मतदाता वोट डालते है।

(8) चुनाव याचिकाएं
(Election Petitions)

हमारी प्रणाली की एक अन्य त्रुटि यह है कि चुनाव में की गई धांधलियों के विरूद्ध याचिकाएं चुनाव के बाद दर्ज कराई जाती है, जिनके निर्णय होने में कई वर्ष लग जाते है। इस प्रकार यह याचिकाएं चुनाव से भी अधिक खर्चीली व कष्टध्दायी बन जाती है।

(9) कुछ अन्य कमियां
(Some Other weaknesses)

उपरोक्त कमियों के अतिरिक्त भारतीय चुनाव व्यवस्था की कुछ अन्य कमियां प्रायः देखने को मिलती है, जैसे, फर्जी मतदान, चुनाव नियमों का उल्लघंन, चुनाव अधिकारियों द्वारा पक्षपात, चुनाव आयोग के पास अपना स्वतन्त्र कर्मचारी वर्ग न होना, मतदान केन्द्रों पर अवैध रूप से कब्जा आदि।

भारतीय चुनाव प्रणाली में सुधार करने के लिए समय-समय पर विभिन्न समितियों को नियुक्त किया गया। इन समितियों के सुझावों के अतिरिकत राजनैतिक दलों चुनाव आयोग, कई अन्य सार्वजनिक संस्थाओं तथा कुछ प्रबुद्ध व्यक्तियों ने चुनाव पद्धति में सुधार के बारे में जो सुझाव दिये है, वे इस प्रकार हैं :

(1) आनुपातिक प्रतिनिधित्व
(Proportional Representatives)

दलों को प्राप्त जनसमर्थन और उन्हें प्राप्त स्थानों के अनुपात में गम्भीर अन्तर की समस्या के लिए एक सुझाव आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली को अपनाने का है। यह सुझाव प्रमुख विधिवेता नानी पाल की वाला ने दिया है। एक अन्य सुझाव देश में सूची प्रणाली (List-System) को अपनाए जाने का है, जिसके अनुसार प्रत्येक राजनीतिक दल को उस द्वारा प्राप्त मतों के अनुपात में स्थान मिल सकेगा। भारतीय जनता पार्टी द्वारा भी इस प्रणाली का समर्थन किया जाता है। परन्तु यह प्रणाली बहुत जटिल है और भारत जैसे विशाल देश में जहां अशिक्षित लोगों की संख्या अधिक है। इस प्रणाली का व्यावहारिक रूप में सफल होना बहुत कठिन है।

(2) चुनाव खर्च को सीमित करना
(To Check Election Expenses)

चुनावों मे खर्च होने वाले धन का सीमित करना बहुत जरूरी है। चुनाव में धन की बढ़ती भूमिका को कम करने करने के सम्बन्ध में निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते हैं :-

(i) राजनीतिक दलों तथा उम्मीदवारों का चुनाव में खर्च होने वाले धन का व्यापक रूप से हिसाब-किताब रखना चाहिए।

(ii) प्रत्याशी द्वारा किये जाने वाले व्यय की सीमा वास्तविकता के आधार पर निर्धारित की जानी चाहिए।

(iii) चुनाव आयोग ने यह सिफारिश की है कि चुनाव के सम्पन्न हो जाने के बाद चुनाव व्यय का गलत ब्यौरा देने वाले उम्मीदवार को जूर्माने के साथ-साथ 6 महिने से एक वर्ष तक का कारावास भी दिया जाना चाहिए।

(iv) चुनाव की अवधि में उम्मीदवार या राजनीतिक दलों को सार्वजनिक संस्थाओं तथा सरकार द्वारा अनुदान पर रोक लगाकर चुनाव में धन की शक्ति को कुछ हद तक कम किया जा सकता है।

(v) चुनाव से नाम वापस लेने और चुनाव की तिथि के बीच का अन्तर कम से कम करने से चुनाव खर्च में कमी की जा सकती है।

(vi) चुनाव खर्च का पूर्ण अथवा आधा खर्च सरकार द्वारा दिया जाए।

(vii) राज्य के द्वारा कुछ सामान्य सुविधाओं की व्यवस्था करने पर भी धन की भूमिका को कुछ कम किया जा सकता है।

(3) मतदाता सूचियों को दोहराना :
(Revision of Electlral Rolls)

यह आवश्यक है कि मतदाता सूचियों को पूर्ण बनाए रखने का कार्य निरन्तर चलता रहे। मरने वाले लोगों के नाम सूचियों से कटते रहें और मताधिकार की आयु प्राप्त कर लेने वालों के नाम जुड़ते रहे। मतदाता सूचियां उद्यतम (Uptodate) बनती रहनी चाहिए।

(4) सत्ताधारी दल द्वारा सरकारी मशीनरी के दुरूपयोग पर रोक
(To Check the misuse of official mechinery by the ruling party)

शासकदल द्वारा सरकारी मशीनरी के दुरूपयोग को रोकने के लिए समुचित व्यवस्था होनी चाहिए। चुनाव के दिनों में मन्त्रियों के उद्घाटन समारोहो पर जाने, लोकहित की योजनाओं की घोषणा करने, कर्ज माफ करने तथा अधिकारियों व कर्मचारियो की सुविधाओं में व द्धि करने पर रोक लगा दनी चाहिए।

(5) उम्मीदवारों तथा राजनीतिक दलों के लिए आचार संहिता
(Code of Conduct for Candidates and Political Parties)

चुनाव की प्रक्रिया आरम्भ होने से पहले चुनाव आयोग द्वारा सभी राजनीतिक दलों के परामर्श से एक आचार संहिता का निमार्ण किया जाए जिसका सभी इस कठोरता से पालन किया जाए। चुनाव आयोग को यह अधिकार देना चाहिए कि वह इस आचार संहिता का उललघ्न करने वालों के खिलाफ कड़ी कारवाई कर सके।

(6) पहचान पत्र जारी करना
(Identity Cards)

चुनाव में फर्जी मतदान को रोकने के लिए देश के सभी मतदाताओं को पहचान पत्र जारी किये जाने चाहिए। पहचान पत्र को प्रस्तुत किये बिना किसी भी मतदाता को मतदान नहीं करने देना चाहिए।

(7) अनिवार्य मतदान
(Compulsory Voting)

चुनाव में भाग लेने वाले मतदाताओं की संख्या में निरन्तर कमी आने को रोकने के लिए यह सुझाव दिया जाता है कि सरकार को कानून बना करके मतदाता के लिए अपने मत का प्रयोग करना अनिवार्य कर दिया जाये। इसका उल्लघन करने वालों के लिए जुर्माना अथवा दंड की व्यवस्था की जाए।

(8) संसद और राज्य विधानसभाओं के लिए एक साथ चुनाव की व्यवस्था

1967 के चौथे आम चुनाव तक भारत में लोकसभा और राज्य विधान सभाओं के चुनाव एक साथ होते थे, लेकिन 1971 ई. में यह स्थिति समाप्त हो गयी और अब तक भी पुनः यह स्थिति नहीं बन पायी है। यदि लोकसभा और विधान सभाओं के चुनाव एक साथ हो तो राज्य द्वारा चुनाव व्यवस्था में किया जाने वाला खर्च और विविध राजनीतिक दलों के उम्मीदवारों द्वारा किये जाने वाले खर्च दोनों मे ही बहुत कमी हो जायेगी। इसके अतिरिक्त, लोकसभा और राज्य विधानसभाओं में चुनाव अलग-अलग होने पर सदैव ही चुनाव का वातावरण बना रहता है और यह स्थिति राज्य व्यवस्था के लिए अत्यधिक अहितकर है।

(9) चुनाव अवधि में सार्वजनिक संस्थाओं को अनुदान देने पर रोक

चुनाव की अवधि में दलों या उम्मीदवारों द्वारा सार्वजनिक संस्थाओं को अनुदान देने पर रोक लगा देनी चाहिए।

(10) अन्य सुझाव
(Other Suggestions)

(i) चुनाव आयोग द्वारा दिया गया यह सुझाव बहुत महत्वपूर्ण है कि चुनाव प्रचार के दौरान उम्मीदवारों तथा राजनीतिक दलों द्वारा नोट लिखने तथा पोस्टर चिपकाने से खराब की कई दीवारों पर सफाई तथा पुताई का कार्य उन उम्मीदवारों अथवा दलों द्वारा किया जाए अन्यथा उनके विरूद्ध कड़ी कार्यवाही की व्यवस्था हो।

(ii) सुरक्षित क्षेत्रों में कुछ समय बाद परिवर्तन होता रहना चाहिए।

(iii) चुनाव आयोग को अधिक स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए, ताकि वे निष्पक्ष तथा स्वतन्त्र चुनाव करा सके।

(iv) मुख्य चुनाव आयुक्त की नियुक्ति करते समय लोकसभा में विपक्ष के नेता, उच्चतम न्यायालय मुख्य न्यायधीश तथा राज्यसभा के सभापति की सलाह ली जानी चाहिए।

(v) मतदान केन्द्रों पर कब्जा करने के प्रयत्न करने वालो के विरूद्ध कड़ी कारवाई की जाएं।

(vi) प्रचार माध्यमों से मतदाताओं को शिक्षित किया जाए ताकि वे झूठे प्रचार के चक्कर में न पड़े और अपने मत का प्रयोग सोच समझकर करें।

(vii) चुनाव सम्बन्धी झगड़ो के शीघ्र निपटारे के लिए व्यवस्था होनी चाहिए।

(viii) चुनाव में उम्मीदवारों तथा राजनीतिक दलों द्वारा अपने चुनाव प्रचार में धर्म अथवा जाति के प्रयोग पर कड़ी पांबदी लगा देनी चाहिए।

चुनाव सुधारों के लिए पिछले कई वर्षो से सरकार चिंतित और प्रयत्नशील है। 61वें संविधान संशोधन, 1998 द्वारा संविधान के अनुच्छेंद 326 में संशोधन कम मतदान की आयु 21 वर्ष की बजाय 18 वर्ष कर दी गई। पंजाब के निर्वाचनों को ध्यान में रखकर सरकार ने 19 जनवरी, 1992 को एक अध्यादेश जारी कर संसदीय एवं विधानसभा निर्वाचनों मे प्रचार की न्यूनतम अधिकारिक अवधि को 20 दिन से घटाकर 14 दिन कर दिया। उल्लेखनीय है कि पंजाब के चुनावों को ध्यान में रखकर सरकार ने एक अन्य अध्यादेश द्वारा गैर-राजनैतिक दलों के प्रत्याशियों की चुनावों के दौरान म त्यु पर चुनाव रद्द न करने का उपबन्ध किया था।

मुख्य चुनाव आयुक्त श्री टी० एन० शेषन ने चुनावों की खामियों को दूर करने के लिए कई कदम उठाये थेः- मतदाताओं को पहचान पत्र जारी करना, चुनावों में फिजूल खच्ची रोकने के लिए पर्यवेक्षक तैनात करना मतदान के पहले 6 दिन 'ड्राइ डे' घोषित करना। जन प्रतिनिधि कानून 1951 में संशोधन किया गया ताकि मतदान में इलैक्ट्रानिक मतदान-मशीनों का इस्तेमाल किया जा सके। जनप्रतिनिधित्व (संशोधन) अधिनियम 1988 के अन्तर्गत एक नई धारा 13 'ग' शामिल की गई। जिसमें यह प्रावधान है कि चुनावें के लिए मतदान सूचियों को तैयार करने, संशोधित करने और उन्हें ठीक-ठाक करने के लिए लगाए गए कर्मचारी और अधिकारी उस अवधि के लिए चुनाव आयोग में प्रतिनियुक्ति पर माने जाऐंगे, जिसमें वे इस तरह का काम करते है और उन पर चुनाव आयोग का नियन्त्रण, अधिक्षण तथा अनुशासन लागू होगा। सरकार ने कानून बनाकर चुनाव आयोग को बहुसदस्यीय संस्थाबना दिया है।

सन् 1996 जनप्रतिनिधि अधिनियम में पुनः संशोधन किया गया, जिसके मुख्य प्रावधान निम्नलिखित है :-

(i) सन् 1996 के संशोधन अधिनियम द्वारा लोकसभा के सामान्य उम्मीदवार के लिए जमानत की राशि 10,000 तथा विधान सभा के लिए यह 5000 रूपये निश्चित की गई है। अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के सदस्यों के लिए यह राशि क्रमशः 500 तथा 250 रूपये होगी।

(ii) सभी राजनीतिक दलों के लिए चुनाव आयेग में पंजीक त करवाना आवश्यक कर दिया गया है। सभी राजनीतिक दल अपने दल के संविधान में प्रावधान करेंगे कि दल भारत के संविधान में तथा समाजवाद, धर्मनिरपेक्षता व लोकतन्त्र के सिद्धान्तों में पूर्ण आस्था व भक्ति रखेगा और भारत की प्रभुसता, एकता व अखण्डता का समर्थन करेगा।"

(iii) पंजीक त राजनीति दलों के उम्मीदवारों का नामाकंन कम से कम एक मतदाता द्वारा और निर्दलीय उम्मीदवार का नामाकंन कम से कम 10 मतदाताओं द्वारा प्रस्तावित किय जाएगा। ऐसा अरूचितकार उम्मीदवारों (Non Serious Candidate) की संख्या को कम करने के लिए किया गया है।

(iv) चुनाव, अधिकारियों अथवा चुनाव पर्यवेक्षकों को मतदान केन्द्र के कब्जे के मामले में गिनती रोकने का अधिकार दे दिया गया है।

(v) एक व्यक्ति एक साथ लोकसभा तथा विधान सभा का चुनाव नहीं लड़ सकता।

(vi) सभी प्रकार का चुनाव प्रचार चुनाव की समाप्ति के समय से 48 घंटे पहले समाप्त कर दिया जाएगा।

(vii) लोकसभा के चुनाव के उम्मीदवार के लिए चुनाव खर्च सीमा बढ़ाकर 15 लाख कर दी गई।

इस संशोधन के अनुसार चुनाव से 48 घंटे पहले शराब की बिक्री पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाएगा तथा मतदान केन्द्रों के पास शस्त्र लेकन घूमने पर पाबन्दी लगा दी गई है।

भाग-V

अध्याय-27
वर्ग-राजनीति
(The Class Politics)

जाति की भांति भारतीय समाज में भिन्न-भिन्न वर्ग पाये जाते है सारे भारतीय राजनीति को प्रभावित करने की कोशीश करते है।

अगड़े वर्ग (Higher Classes) उच्च वर्ग की संज्ञा दी जाती है।इसमें ब्राहम्ण, राजपूत, वैश्य, नाडार और व्यायस्थ वर्गो को शामिल किया जाता है। इन्हें सवर्ण वर्ग के रूप में जाना जाता है। सामन्तों, जागीरदारों, पुंजीपतियों, उद्योगपतियों, तथा बड़े किसानों, व्यापारियो, और धार्मिक महन्तों को इस वर्ग में रखा जाता है। इन वर्गो का अल्पसंख्या में होने के बावजूद देश की राजनीति, व्यवसाय, प्रशासन तथा देश के संसाधनों पर प्रभुत्व रहा है। राजनीतिक दलों द्वारा भी इन्हीं वर्गो के हितों की पूर्ति की दिशा मे ही कार्य किया जाता रहा है। जब पिछड़े और निम्न वर्गो ने इनके प्रमुख को चुनौती देने अथवा इनके स्वार्थो पर चोट करने का प्रयत्न किया तो इस 'अगड़े वर्ग' ने उन्हें कुचलने हेतु उन पर निर्गम आत्याचारों का कहर बरसाया है।

अंग्रेजी शासन के दौरान अंग्रेजी शिक्षा के परिणामस्वरूप भारत में मध्य वर्ग (Middle Class) का उदय हुआ। इस वर्ग की सामान्य भाषा तथा समान विचार थे। इसमें अध्यापक, इंजीनियर, वकील तथा डॉक्टर प्रमुख थे। इसी वर्ग ने राष्ट्रीय आन्दोलन में बढ़चढ़ कर भूमिका अदा की। वर्तमान राजनीति मे भी यह महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहा है।

हमारे देश की जनसंख्या का लगभग 70 प्रतिशत भाग अनुसूचित जातियों, जन जातियों, पिछड़े वर्गो (Backward Classes) का है। इन्हें सामान्यतः पिछड़े वर्ग की संज्ञा दी जाती हैं। यह वर्ग सदियों से अगड़े या उच्च वर्ग के अत्याचारों, उत्पीड़न और शोषण की प्रताड़ना का शिकार होने के कारण 'पिछड़ा' रहा है। स्वतन्त्रता के पश्चात यही कहानी कमोवेश रूप में जारी है आये दिन उच्च या सवर्ण वर्गो के अत्याचारों की घटनाओं की अनुगूंज संसद, राज्य विधान सभाओं और समाचार पत्रों में सुनाई पड़ती है। पिछड़े वर्ग को आर्थिक विपन्नता,सामाजिक अन्याय और राजनीतिक पिछड़ेपन के साथ ही गरीबी बेरोजगारी, भूखमरी, दरिद्रता, आर्थिक विपन्नता तथा आर्थिक अभावों का सामना भी करना पड़ रहा है। यह वर्ग सामाजिक अन्याय, अत्याचार, उत्पीड़न तथा सामाजिक द ष्टि से हीनता की मनोदशा से ग्रसित है।

भारतीय संविधान के विभिन्न अनुच्छेदों में इस वर्ग के उत्थान के लिए प्रावधान निश्चित किये गए है। इससे देश में सामाजिक और आर्थिक न्याय' की स्थापना की दिशा में आधार-भूमि तय हुई है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात पिछड़े वर्गो के उत्थान के लिए अनेक कदम उठाए गए हैं। देश मे जागीरदारी और जमींदारी प्रथा का उन्मूलन किया गया है। राज्यों द्वारा भूमि सुधार कानूनों को लागू करके खेतिहर श्रमिकों को उनके आर्थिक उत्थान और क्लयाण के लिए भी विभिन्न प्रकार के आरक्षणों के माध्यम से इन वर्गो को सरकारी सेवाओं में उचित प्रतिनिधित्व और पदोन्नति व्यवस्था लागू करने के प्रयास किये गये है। देश की राजनीति में इन वर्गो का समुचित प्रतिनिधित्व हो, इसके लिए पंचायती राज संस्थाओं में आरक्षण की व्यवस्था की गई हैं। इन वर्गो पर अत्याचारों को रोकने की दिशा में सार्थक कदम उठाये गए है। जिससे इन वर्गो की सामाजिक और आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ है और व्यवस्थापिका सभाओं और प्रशासन में इन वर्गो का प्रतिनिधित्व बढ़ा है। राजनीतिक जागरूकता में अभिव द्धि हुई है। कतिपय वर्षो में इन वर्गो में प्रभावशाली राजनीतिक नेत त्व का अभ्युदय हुआ है। डॉ० भीमराव अम्बेडकर, बाबू जगजीवनराम, चौधरी चरण सिहं, कर्पूरी ठाकुर जैसे नेताओं ने इन वर्गो का संगठित करके एक प्रमुख राजनीतिक शक्ति बना दी है। वर्तमान में काशीराम, मुलायम सिंह यादव, लालू प्रसाद यादव, रामविलास पासवान, शरद यादव,

सुश्री मायावती इन वर्ग के प्रमुख नेता है। विश्वनाथ प्रताप सिहं भी इस वर्ग के हितों के प्रवक्ता हैं इन नेताओं ने पिछड़े वर्गो को संगठित करने में उल्लेखनीय योगदान दिया है। इससे इन वर्गो मे नया आत्म-विश्वास और गौरव की भावना का विकास हुआ है। इस वर्ग के नेत त्व ने अपनी और सभी का ध्यान आकर्षित किया है। सभी राजनीतिक दल पिछड़े वर्गो में अपना जनाधार सशक्त करने के लिए इन वर्गो को अपने पक्ष में करने के लिए प्रयत्नशील है। राष्ट्रीय राजनीति दलों में ड्रा० भीम राव अम्बेडकर को राष्ट्रपति नेता के रूप में सम्मान प्रदान करने और उनके विचारो का प्रचार करने की होड़ लगी हुई है।

सांराश में यही कहा जा सकता है कि विशेष रूप से दो वर्गो अगड़े पिछड़े वर्गो के आपसी समन्वय, सहयोग और सद्भावना पर देश की लोकतान्त्रिक व्यवस्था का भविष्य सुरक्षित रह सकता है।

अध्याय-28
जाति और भारतीय राजनीति
(The Caste and Indian Politics)

परम्परावादी भारतीय समाज में आधुनिक राजनीतिक सस्थओं की स्थापना भारतीय राजनीति की एक अद्‌भुत विशेषता है। भारत में राजनीतिक आधुनिकीकरण के प्रारम्भ होने के बाद यह धारणा विकसित हुई कि पश्चिमी ढंग की राजनीतिक सस्थांए और लोकतंत्रात्मक मूल्यों को अपनाने के फलस्वरूप पारम्परिक संस्था जातिवाद का अन्त हो जाएगा किन्तु आजादी के बाद भारत की राजनीति में जाति का प्रभाव अनवरत रूप से बढ़ता गया। जहां सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में जाति की शक्ति घटी है वहां राजनीति और प्रशासन पर इसके बढ़ते हुए प्रभाव को राजनीतिज्ञों, प्रशासनाधिकारियों और केन्द्र एवं राज्य सरकारों ने स्वीकार किया है।

जाति का परम्परागत अर्थ एवं रूप :-
Traditional Meaning and Nature of Caste:

जाति प्रथा किसी न किसी रूप में संसार के हर कोने में पायी जाती है, पर यह गम्भीर सामाजिक कुरीति के रूप में यह हिन्दु समाज की ही विशेषता है। यह व्यवस्था एक अति प्राचीन व्यवस्था रही है। इसका अभिप्रायः पेशे के आधार पर समाज को कई भागों में बांट देना है। सामान्यतया यह माना जाता है कि जाति प्रथा की उत्पति वैदिक काल में हुई। ब्राह्मण धार्मिक और वैदिक कार्यो का सम्पादन करते थे। क्षत्रियों का कार्य देश की रक्षा करना और शासन प्रबन्ध करना था। वैश्य क षि और वाणिज्य सम्हालते थे तथा शुद्रों को अन्य तीन वर्णो की चाकरी करनी पड़ती थी। शुरू-शुरू में जाति प्रथा के बन्ध ान कठोर न थे और वह जन्म पर नही अपितु कर्म पर आधारित थे। बाद में जाति प्रथा में कठोरता आती गयी। वह पूरी तरह जन्म पर आधारित हो गयी तथा एक जाति से दूसरी जाति में अन्तः किया असम्भव होगी। अपने मौलिक रूप में जाति प्रथा उपयोगी थी चूंकि वह श्रम विभाजन के सिद्धांत पर आधारित थी। अतः उसने आर्थिक क्षेत्र में निपुणता के तत्व का समावेश किया। एक जाति का पेशा उसी जाति में होता था। बेटा बाप से अपना पुश्तैनी पेशा सिखाता था और प्रायः उसी को अपनी आजीविका के साधन के रूप में अपना लेता था। इस प्रथा ने एक जाति और बिराहरी के लागों में भाई-चारे की भावना को बढ़ाया। एक जाति के लोग एक-दूसरे से भली भांति प्रीचित होते थे तथा एक दूसरे के सुख-दुखः में काम आते थे। प्रो० घुरिये (Ghurye) ने जाति प्रथा की विशेषतांए बतायी है, जो इस प्रकार हैं :

(i) भारत में जाति ऐसे समुदाय है जिसका अपना विकसित जीवन है और इसकी सदस्यता जन्म से निश्चित होती है।

(ii) भारत का प्रत्येक व्यक्ति अपनी सामाजिक स्थिति जानता है और जातियों में पदसोपान में ब्राह्मण सबसे उपर माना जाता है।

(iii) जातियों के आधार पर खान-पान और सामाजिक आदान-प्रदान के प्रतिबंध लगे रहते हैं।

(iv) गावों तथा शहरों में जाति के आधार पर प थकता की भावना बनी रहती है।

(v) कुछ जातियां कातिपय विशेष प्रकार के व्यवसायों को अपना पुश्तैनी अधिकार समझती है।

(vi) जातियों की परिधि में ही वैवाहिक आदान-प्रदान होता है और जातियां कई उपजातियों में विभिक्त होती है। उप-जातियों में भी वैवाहिक परिसीमांए है।

जाति का राजनीति से सर्म्पक सूत्र
(Politics Attached to caste) :

स्वाधीनता सग्रांम के दौरान ऐसा दिखाई देता था कि जनता पर जातिवाद का प्रभाव कम हो रहा है। किन्तु आजादी

के बाद जातिवाद ने फिर जोर पकड़ा और व्यस्क मताधिकार व्यवस्था को देश में लागू कर दिए जाने के परिणामस्वरूप यह एक राजनीतिक शक्ति के रूप में उदित हुआ। वैसे राजनीति पर जातिगत प्रभाव प्रतिनिधि व्यवस्था के लागू होने के समय से ही शुरू हो गया था, किन्तु यह प्रभाव नगण्य ही था। इसके लिए उत्तरदायी थे ब्रिटिश प्रशासन राष्ट्रीय आन्दोलन तथा सीमित मताधिकार स्वतंत्रता की प्राप्ती ने प्रथम दो कारणों का निराकारण कर दिया और नए संविधान में अपनायी गयी व्यस्क मताधिकार व्यवस्था ने तीसरे का। फलतः जातियों के प्रभाव क्षेत्र में आशातीत व द्धि हो गयी। आरम्भ में तो सामाजिक अथवा आर्थिक द ष्टि से उच्च अथवा श्रेष्ठ जातियां ही राजनीति से प्रभावित रही और राजनीतिक लाभ उन्हीं तक सीमित रहे । समय के साथ-साथ मध्यम और निम्न समझी जाने वाली जातियां आगे आने लगी और उसने राजनीतिक प्रभाव को बढाने में प्रयत्नशील रहने लगी। प्रो० रूडोलफ के शब्दों में 'भारत के राजनीतिक लोकतंत्र के संदर्भ में जाति वह धुरी है जिसके माध्यम से नवीन मूल्यों और तरीकों की खोज की जा रही है। यथार्थ में यह एक ऐसा माध्यम बन गयी है कि इसके जरिए भारतीय जनता को लोकतान्त्रिक राजनीति की प्रक्रिया से जोड़ा जा सकता है।

जाति और राजनीति में अन्तः क्रिया सैद्धान्तिक आधार
(Interation between caste and Politics: Theoretical Framework) :

भारत में जाति और राजनीति में किस प्रकार का सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध में चार प्रकार से विचार प्रस्तुत किए जा रहे है :

1. यह कहा जाता है कि भारतीय सामाजिक व्यवस्था का संकलन जाति की संरचना के आधार पर हुआ है और राजनीति केवल सामाजिक सम्बन्धों की अभिव्यक्ति मात्र हैं। सामाजिक संगठन राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप निर्धारित करता है।

2. राजनीति के प्रभाव के फलस्वरूप जाति नया रूप धारण कर रही है। लोकतान्त्रिक राजनीति के अन्तर्गत राजनीति की प्रक्रिया प्रचलित जातीय सरंचनाओं को इस प्रकार प्रयोग में लाती है जिससे सम्बद्ध पक्ष अपने लिए समर्थन जुटा सकें तथा अपनी स्थिति को सुद ढ़ बना सके। जिस समाज में जाति को सर्वाधिक महत्वपूर्ण संगठन माना जाता है उसमें यह उत्यन्त स्वाभाविक है कि राजनीति इस संगठन के माध्यम से अपने आपको संगठित करने का प्रयास करे। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जिसे हम राजनीति में जातिवाद के नाम से पुकारते हैं वह वास्तव मे जाति का राजनीतिकरण हैं।

3 भारत में राजनीति 'जाति' के इर्द-गिर्द धूमती है। जाति प्रमुखतम राजनीतिक दल है। यदि मनुष्य राजनीति की दुनिया में ऊँचा उठना चाहता है तो उसे अपने साथ अपनी जाति को लेकर चलना होगा भारत में राजनीतिक जातिय समुदायों को इसलिए संगठित करते हैं ताकि उनके समर्थन में उन्हें सत्ता तक पहुंचने में सहायता मिल सके।

4 जातियां संगठित होकर प्रत्यक्ष रूप से राजनीति में भाग लेती है और इस प्रकार जातिगत भारतीय समाज में जातिंया ही 'राजनीतिक शक्तियॉ' बन गयी है।

जाति के राजनीतिकरण की विशेषताए :-
(Characteristics of Caste Politicisation)

भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका की उभरती विशेषताएं निम्नलिखित हैं :-

(1) जाति व्यक्ति को बांधने वाली कड़ी है। जातीय संघों और जातीय पंचायतों ने जातिगत राजनीतिक महत्वकाक्षाओं को बढ़ाया है। जाति व्यक्ति को समाप्त करने वाले आन्दोलन अन्तेतागत्वा नयी जातियों के रूप में मुखरित हुए जैसे लिंगायत, कबीरपन्थी और सिक्ख आन्दोलन स्वयं नयी जातियां बन गए।

(2) शिक्षा, शहरीकरण, औद्योगिकरण और आधुनीकरण से जातियां समाप्त नहीं हुई अपितु उनमें एकीकरण की प्रव ति को बल मिला और उनकी राजनीतिक भूमिका में व द्धि हुई।

(3) राजनीति में प्रधान जाति की भूमिका का विश्लेषण किया जा सकता है। प्रधान जाति (Deminant Caste) न केवल राजनीतिक और आर्थिक द ष्टि से ही शक्तिशाली होती है, बल्कि संख्या में भी गॉव या इलाकों में ज्यादा होती है। प्रधान जाति अपने संख्या दल के आधार पर गांव और क्षेत्र की स्थानीय संस्थाओं जैसे पंचायतों की राजनीति में सक्रिय होती है। यदि किसी राज्य विशेष में किसी जाति की प्रधानता होती है तो राज्य राजनीति में जाति एक प्रभावक तत्व

बन जाती है।

(4) उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही जातिगत समुदायों का झुकाव राजनीति की ओर हो गया था जबकि ब्रिटिश शासन ने भारत में एक मजबूत प्रशासनिक व्यवस्था की नींव डाली थी। सबसे पहले इसका ध्यान जनगणना कार्यालय की ओर गया जहां जातीय समुदायों ने सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्ति के ध्येय से अपने सगंठन का नामकरण कराना आवश्यक समझा। बाद मे अपनी जाति के लोगों के हितों को सरक्षंण के लिए जातिय संघों ने प्रस्ताव पारित किए और शासन को अपनी मांगो के लिए प्रभावित करना आरम्भ किया। यहां तक कि कुछ जातियों ने शैक्षणिक सुविधा, शिक्षण संस्थाओं मे जातिगत आरक्षण और सरकारी नौकरियों में आरक्षण की मांग की। मद्रास की वेनिया (Venniyars) जाति के नेता पदायची (Padayachi) ने सी० राजगोपालाचारी के मन्त्रिमण्डल में शामिल होने से इन्कार कर दिया क्योंकि उन्होंने उनकी जातीय मांगो को मानने से इन्कार कर दिया था। बाद में वे कामराज मन्त्रिमण्डल में शामिल हो गए क्योकि उन्होंने वेनियरो की मांगे स्वीकार कर ली।

(5) निर्वाचनों के दिनों मे जातिगत समुदाय प्रस्ताव पारित करके राजनीतिक नेताओ और दलों को अपने जातिगत समर्थन की घोषणा करके अपने हितों को मुखरित करते है।

(6) जाति की भूमिका राष्ट्रीय स्तर की राजनीति पर उतनी नहीं है जितनी स्थानीय और राज्य राजनीति पर है।

(7) जाति और राजनीति के सम्बन्ध स्थैयिक न होकर शक्तिशील हैं।

भारतीय राजनीति में 'जाति' की भूमिका
(Role of Caste in Indian Politics)

जातिय व्यवस्था भारतीय समाज का एक परम्परागत तत्व है। भारत के नए संविधान मे लागू होने से वयस्क मताधिकार के आधार पर देश में चुनाव आरम्भ हुए और जातीय संस्थाएं महत्वपूर्ण बन गई, क्योंकि उनके पास भारी संस्था मे मत थे और लोकतन्त्र में सत्ता प्राप्त करने के लिए मतों की आवश्यकता थी। इस कारण से धीरे-धीरे राजनीति में जातिवाद की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण होती गई।

(1) राजनीतिक दलों का गठन जाति के आधार पर
(Organisation of the Political Parties on the basis of Caste)

भारत में अनेक राजनीतिक दलों का गठन जातिय आधार पर किया गया है। राष्ट्रीय दल चाहे प्रत्यक्ष रूप से किसी जाति विशेष का समर्थन न रखते हो, परन्तु क्षेत्रीय स्तर पर जातिवाद का खूब प्रचार किया जाता है। वर्तमान स्थिति मे बहुजन समाज पार्टी, जाति पर आधारित एक दल है। तमिलनाडु में डी०एम०के० तथा आ०ई०ए०डी०एम०के० (A.I.A.D.M.K) मुख्य रूप से ब्राहम्ण विरोधी अथवा गैर ब्राहमणों के दल है। पंजाब में अकाली दल तथा बंगाल में रिपब्लिकन पार्टी आदि भी जातिवाद पर आधारित राजनीतिक दल है। मंडल आयोग की सिफारिशों को लागू करने के बाद तो जनता दल भी अपने आपको पिछड़े वर्ग का मसीहा घोषित करने में लगा हुआ है। चौ० चरण सिहं तथा देवीलाल ने भी अजगर के नाम से अहीर, जाट, गुजर तथा राजपूतों का संयुक्त मोंचा बनाकर राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने के लिए लगातार प्रयत्न करते रहें है।

(2) राजनीतिक नेत त्व
(Political Leadership)

भारतीय राजनीति में जातिवाद ने राजनीतिक नेत त्व को बहुत हद तक प्रभावित किया है। सभी जातियों के समर्थन के आधार पर अनेक नेता राजनीति मे अपना स्थायी महत्व बनाए हुए हैं। उदाहरण के तौर पर पंजाब में प्रकाश सिंह बादल अकाली सिखों तथा हरियाणा में राव वीरेन्द्र सिंह अहीर जाति के तथा चौ० देवी लाल जाट जाति के समर्थक के आधार पर बहुत समय से राजनीति मे अपने समर्थन को बनाए रखा। वर्तमान स्थिति में बिहार मे लालू प्रसाद यादव तथा उत्तर प्रदेश व कुछ अन्य राज्यों में काशीराम व मायावती, रामविलास पासवान तथा शरद यादव जाति के आधार पर ही अपने नेत त्व को बनाए हुए है।

(3) चुनाव में उम्मीदवारों का चयन
(Selection of Candidate in Elections)

प्रत्येक चुनाव के समय उम्मीदवारों का चयन करने मे जातिवाद का मुख्य रूप से आधार बनाया जाता है। प्रायः जिस निर्वाचन क्षेत्र में जिस जाति का बहुमत होता है, उसी जाति के उम्मीद्वार को ही दल का टिकट दिया जाता है। यह बात कांग्रेस तथा अन्य सभी राजनीतिक दलों पर लागू होती है। चूंकि भारतीय जनता का एक बहुत बड़ा भाग अभी तक अशिक्षित है, उन पर जातिवाद का असर और भी अधिक होता है। जिस निर्वाचन क्षेत्र मे ब्राहमण अधिक है, वहां पर प्रायः ब्राहमण उम्मीद्वार और जहां पर जाट अधिक संख्या में हैं, वहां पर जाट उम्मीद्वार को ही खड़ा किया जाता है।

(4) चुनाव प्रचार
(Election Propaganda)

भारत में होने वाले सभी चुनावों, पंचायत से लेकर लोकसभा, तक में चुनाव अभियान मे जातिवाद का खुलकर सहारा लिया जाता है। मतदाताओं की जातीय भावनाओं को उभारकर उन्हें अपनी जाति के उम्मीद्वार के लिए मत देने की अपील की जाती है। और प्रायः उसी जाति का उम्मीदवार चुनाव में विजयी होता है, जिस जाति के मतदाताओं की संख्या उस निर्वाचन क्षेत्र में सबसे अधिक होती हे।

(5) जाति तथा मतदान व्यवहार
(Caste and Voting Behaviour)

भारत में चनावों के समय बहुत बड़ी संख्या में मतदाता अपनी जाति के उम्मीद्वार के पक्ष में ही मतदान करते है। वे केवल अपना मत जाति के उम्मीद्वा के पक्ष मे ही नहीं देते बल्कि अन्य व्यक्तियों को भी अपनी जाति के उम्मीद्वार के पक्ष में मतदान करने के लिए कहते है। बिहार, हरियाणा, पंजाब, तथा उतरप्रदेश आदि के क्षेत्र इसके लिए बहुत कुख्यात रहे है। सन् 1996 तथा 1998 में हुए लोकसभा चुनावों मे पंजाब मे अकाली दल की भारी जीत का मुख्य कारण जातिवाद ही है। पश्चिमी उतरप्रदेश में जाट-गुज्जर राजनीति एक महत्वपूर्ण तथ्य हैं।

सन् 1998 के लोकसभा चुनाव मे हरियाणा में ओमप्रकाश चौटाला के राष्ट्रीय जनता दल की अच्छी सफलता का एक कारण जाट जाति के मतों का विभाजन न होना है। इसी प्रकार आन्ध्र प्रदेश में कार्मभा और रेड्डी, कर्नाटक में वोकलिग्गा और लिगांयत जाति के मतदाता प्रायः अपनी जाति के उम्मीद्वारों के पक्ष में ही मतदान करते है। हरियाणा मे तेा चुनाव के समय यह नारा प्रायः सुनाई पड़ता है कि "जाट की बेटी जाट को जाट की वोट जाट को।" सन् 1996 तथा 1998 के लोकसभा चुनावों में कांग्रेस पार्टी को विशेष सफलता न मिलने का एक कारण उससे भारी संख्या में पिछडे वर्गो तथा मुसलमानों के मतों का कट जाना था।

(6) जातियों के नाम पर आरक्षण
(Reservation on Cute Basis)

संविधान निर्माताओं ने अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जन-जातियों के लिए प्रशासन में कुछ स्थान आरक्षित करने की व्यवस्था 10 वर्ष के लिए की थी। इस नीति का उद्धेश्य समाज के अत्याधिक पिछड़े वर्ग को शेष समाज के बराबर लाना था, लेकिन उस उसकी मूल भावना के रूप में लागू नहीं किया गया। उन्हें सुरक्षित वोट बैंक मानकर उनके लिए यह आरक्षण बार बार बढ़ाया जाता है। इसके अलावा, पिछड़े वर्ग के लिए 27 प्रतिशत आरक्षण की घोषणा वी०पी० सिंह सरकार ने करके मंडल आयोग की सिफारशों को लागू करते हुए सम्पूर्ण राष्ट्र को जातीय संघर्ष की होली में झोंक दिया था। सैंकडों युवक-युवतिंया आत्मदाह कर बैठे। अरबों की सम्पति नष्ट हुई। विकास कार्य रूक गए। सामान्य जन-जीवन अस्त व्यस्त हो गया और हालात नियंत्रण से बाहर हो गए थे। न्यायापालिका को मामला सौंपकर ही शांति कायम की जा सकी।

(7) जाति एवं प्रशासन
(Caste and Administration)

लोकसभा और विधानसभाओं के लिए जातिगत आरक्षण की व्यवस्था प्रचलित है, केन्द्र एवं राज्यों की सरकारी

नौकरियों एवं पदोन्नति के लिए जातिबत आरक्षण का प्रावधान हैं। मेडिकल एवं इन्जीनियरिंग कॉलेजों में विद्यार्थियों की भर्ती हेतू आरक्षण के प्रावधान मौजूद हैं। चरणसिहं सरकार ने तो अल्पकाल में एक अध्यादेश के माध्यम से पिछड़ी जातियों के लिए केन्द्रीय सरकार की सेवा में आरक्षण व्यवस्था घोषित करने की मंशा प्रकट की थी और इस समबन्ध में उच्चतम न्यायालय के निर्णय को भी ताक में रख दिया था। यदि अध्यादेश लागू हो जाता तो मध्यम जातियों, जैसें अहिर, यादव, कुर्मी आदि को भी आरंक्षण के अवसर मिल जाते। राष्ट्रीय मोर्चा सरकार ने 1990 में मंडल रिर्पोट लागू कर नौकरियों में पिछड़ी जातियों के लिए 27% आरक्षण का प्रावधान किया। ऐसा भी माना जाता है कि भारत में स्थानीय स्तर के प्रशासनिक अधिकारी निर्णय लेते समय अथवा निर्णयों के क्रियान्वयन में प्रधान और प्रतिष्ठित अथवा संगठित जातियों के नेताओं से प्रभावित हो जाते है।

(8) पंचायती राज तथा जातिवाद
(Panchayati Raj and Casteism)

आजादी के बाद गांवों में पंचायती राज की व्यवस्था की गई, पंचायती राज के तीन स्तरों-पंचायत, पंचायत समिति तथा जिला परिषद के चुनाव में जाति का बहुत महत्व है। कई बार चुनाव मे जाति का बहुत महत्व है। कई बार चुनाव में जाति की भावना भयानक रूप धारण कर लेती है तथा दंगे-फसाद भी हो जाते है।

(9) सरकार के निर्माण में जातिवाद का प्रभाव
(Influence of Caste in the formation of Government)

केन्द्र तथा राज्यों में सरकार के निमार्ण के समय भी जातिवाद महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। प्रधानमंत्री अथवा राज्यों के मुख्यमंत्री अपने मंत्रिमण्डलों का निमार्ण करते समय इस बात का विशेष रूप से ध्यान रखते हैं कि सभी जातियों के सदस्यों को उसमें प्रतिनिधित्व मिले। मुख्यमंत्री के पद पर भी प्रायः उसी जाति का सदस्य नियुक्त होता है जिस जाति का उस राज्य में बहुमत होता है। पंजाब में अकाली दल की सरकार बनी, तो सरदा दरबारा सिंह, प्रकाश सिंह बादल, सुरजीत सिंह बरनाला, बेअंत सिंह तथा पुनः प्रकाश सिंह बादल ही मुख्यमंत्री बने। इसके विपरीत हरियाणा अथवा हिमाचल प्रदेश में कभी किसी सिख को मुख्यमंत्री बनने की संभावना दिखाई नहीं देती।

(10) निर्णय प्रकिया में जाति की भूमिकाः
(Role of caste in decision making)

भारत में जातियाँ संगठित होकर राजनीतिक और प्रशासकीय निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करती है। उदाहरण के तोर पर संविधान द्वारा अनुसूचित जातियों व जन-जातियों के लिए जो व्यवस्था आरम्भ में केवल 10 वर्ष के लिए की गई थी उसको उन्होंने दबाव डाल कर बढवा लिया है। आगे भी इसके समाप्त होने की कोई संभावना दिखाई नहीं देती।

जाति की भूमिका : वरदान या अभिषाप
(The Role of Caste : Blessing or a Curse)

भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका का मूल्यांकन करना अत्यन्त कठिन कार्य है। कई लोग जाति को राजनीति का कैंसर मानते हैं। जाति प्रथा को राष्ट्रीय एकता के मार्ग में बाधक माना जाता है। क्योंकि इससे व्यक्तियों में प्रथकतावाद की भावना जाग त होती है। राष्ट्रीय हितों की अपेक्षा अपने जातिगत हितों को अधिक महत्व देने लगते हैं। जाति निष्ठाओं का स जन कर यह प्रथा लोकतन्त्र के विकास मार्ग को अवरूद्ध कर देती है। डी०आर० गाडगिल के अनुसार, क्षेत्रीय दबावों से कहीं ज्यादा खतरनाक बात यह है कि वर्तमान काल में जाति व्यक्तियों को एकता के सूत्र में बांधने में बाधक सिद्ध हुई है। प्रसिद्ध समाज शास्त्री एम०एन० श्री निवास का मत है कि परम्परावादी जाति व्यवस्था ने प्रगतिशील और आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था को उस तरह प्रभावित किया है कि ये राजनीतिक संस्थाएं अपने मूलरूप में कार्य करने में समर्थ नहीं रही है।

दूसरी तरफ अमरीकी लेखकों-खडालफ एण्ड रूडाल्फ का मत है कि जाति व्यवस्था ने जातियों के राजनीतिकरण में सहयोग देकर परम्परावादी व्यवस्था को आधुनिकता में ढालने के सांचे का कार्य किया है। वे लिखते है अपने परिवर्तित रूप में जाति व्यवस्था ने भारत में क षक समाज में प्रतिनिधित्व लोकतन्त्र की सफलता करके तथा भारतीयों की दूरी कम करके उन्हें अधिक समान बनाकर समानता के विकास में सहायता दी है

संक्षेप में, चाहे जाति आधुनिकीकरण के मार्ग में बाधक न हों तथापि राजनीति में जाति का हस्तक्षेप लोकतन्त्र की धारणा के प्रतिकूल है। जातिवाद देश, समाज और राजनीति के लिए बाधक है। विविधता की सीमाएं होती है। इस देश में इतनी जातियां, उपजातियां, तथा सहजातियां पैदा हो गयी है कि वे एक दूसरे से प थक रहने में ही अपने-अपने अस्तित्व की रक्षा समझती है। यह प थकतावादी द ष्टि राष्ट्रीय एकता के लिए अत्याधिक घातक है।

अध्याय-29
महिलाओं की स्थिति और विकास
(Women's Status and Development)

शताब्दियों से भारत में ही नहीं बल्कि सारे संसार में पुरूषों की तुलना में महिलाओं को दूसरे स्थान पर माना जाता रहा है। मानव के पूरे इतिहास में पुरूषों को महिलाओं की तुलना में अधिक शक्तियाँ प्राप्त रही है। अभी तक यह स्पष्ट नही हो पाया है कि ऐसा क्यों है? लेकिन इसका परिणाम यह हुआ है कि महिलाओं और उनके कार्यो को सम्मान नहीं दिया गया। यद्यपि महिला और पुरूष के बीच अन्तर जैविक प्रजनन के आधार पर किया जाता है लेकिन हजारों वर्षो से विभिन्न सम्राज्यों द्वारा इस अन्तर का प्रयोग सुविधा के रूप में किया जाता रहा है।

विज्ञान के क्षेत्र में हुए विकास, सुधारवादी आन्दोलनों और दार्शनिकों तथा विचारकों द्वारा प्रस्तुत समानता और स्वतन्त्रता जैसी धारणाओं के फलस्वरूप महिलाओं की स्थिति, उसकी भूमिका और समाज में उसकी स्थिति आदि पर प्रश्न किए जाने लगे हैं। विशेष रूप से, 20 वीं शताब्दी में महिलाओं और समाज के दलित वर्गो ने समानता के लिए संघर्ष को अन्तर्राष्ट्रीय रूप देकर लिंग भेद से सम्बन्धित अन्याय के खिलाफ आवाज उठाई। ये मुद्धे भारत में पहले राष्ट्रीय आन्दोलन के एक भाग के रूप में और आजादी के बाद विकास के रूप में आए।

भारत में महिलाओं की स्थिति
(Status of Women in India)

भारत में प्राचीन काल में अर्थात वैदिक युग (ईसा से 1000 वर्ष पूर्व) में महिलाओं और पुरूषों के बीच का सम्बन्ध समानता पर आधारित थ। लिंग सम्बन्धि मापदण्ड उदार थे। यद्यपि विवाह का महत्व था लेकिन यह अनिवार्य नहीं था। पत्नी को हर हाल में पति के प्रति वफादार होने का बन्धन नहीं था। उसे पुरूषों की तरह सभी धार्मिक कार्यो और चढ़ावा चढ़ाने में स्वतन्त्र रूप से भाग लेने और सभी संस्कारों मे शामिल होने का अधिकार था। रोजगार में लगी विवाहित महिलाएं अपनी सम्पति और जायदाद को अपने अधिकार में रख सकती थी। अविवाहित महिलाएं पैत क सम्पति में हिस्सा प्राप्त कर सकती थी।

ईसा पूर्व 100 वर्ष के बाद आर्यो के संघटित होने के समय विशेष रूप से उतरी भारत में हिन्दू समाज में अनेक प्रचण्ड परिवर्तन हुए। जिसके फलस्वरूप महिलाओं की स्वतन्त्रा में कमी आई। धीरे-धीरे सभी आर्य और गैर-आर्य महिलाएं वैदिक और धार्मिक अध्ययन के लिए अयोग्य घोषित कर दी गई। मनु संहिता तथा उपनिषद और शंकराचार्य इत्यादि ने भारतीय समाज में लैंगिक भेदभाव शुरू किया। 900 ई० में भारत पर मुस्लमानों की विजय के साथ पर्दा प्रथा शुरू हुई जिसने महिलाओं को घर की चार दीवारी तक ही सीमित कर दिया। मुस्लिम शासन के दौरान महिलाओं में साक्षरता की दर मे तेजी से कमी आई विधवा विवाह पर धार्मिक प्रतिबन्ध के कारण समाज में सती प्रथा का प्रचलन शुरू हुआ।

बिट्रिश औपनिवेशिक काल के दौरान अंग्रेजी शिक्षा के संपर्क में आने के बाद और कुछ मामलों में ब्रिटिश शासन के प्रति प्रतिक्रिया के फलस्वरूप भारत में अनेक सुधारवादी आन्दोलनों का जन्म हुआ। ब्रहम समाज, आर्य समाज, प्रार्थना समाज और कई अन्य आन्दोलनों ने महिलाओं के साथ किए जा रहे अन्याय के विरूद्ध आवाज उठाई। राजाराम मोहनराय ने बाल-विवाह और सती प्रथा को समाप्त करने के लिए आन्दोलन चलाया और महिलाओं के उद्धार के लिए अनेक काम किए। सरकार ने इसके सम्बन्ध में सबसे पहले 19 वीं शताब्दी में कानून बनाए जिससे सती प्रथा का उन्मूलन (1829) विधवा पुनविवाह अधिनियम (1856) कानूनी विवाह अधिनियम (1872) शामिल है। उन्नीसवीं शताब्दी की दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता है- बालिका शिक्षा का प्रयास।

राष्ट्रीय आन्दोलन में भारतीय महिलाओं की छुपी व्यापक प्रतिभा भी सामने आई। गांधी जी ने महिलाओं से पर्दा हटाने और राजनीति में भाग लेने का आवहान किया। सन् 1917 में महिलाओं का एक प्रतिनिधि मण्डल भारत सरकार के सचिव से मिला और उससे महिलाओं को मताधिकार प्रदान करने की मांग की। सन् 1927 में महिलाओ के कल्याण और विकास के लिएएक सम्मेलन आयोजित किया गया।

सामाजिक सुधार और राष्ट्रवादी आन्दोलनों के फलस्वरूप यद्यपि महिलाओं की दुर्दशा और उनके कल्याण के बारे में जाग ति उत्पन्न हुई लेकिन महिलाओं के प्रति लोगों के व्यवहार में विशेष रूप से गांवों में, कोई खास परिवर्तन नहीं आया। कुछ महत्वपूर्ण कानून बनाये जाने के बाद भी सम्पति, विरासत आदि के कानून महिलाओं के विरूद्ध ही बने रहे। कुल मिलाकर स्वतन्त्रता के समय महिलाएं सामाजिक आर्थिक प्रकिया की मुख्यधारा से बाहर ही रही। समाज में उनकी स्थिति संतोषजनक नहीं थी।

स्वतन्त्र भारत में महिलाओं के लिए कानूनी समानता :
(Independent India and Legal Equality for Women)

भारत के संविधान निर्माताओं ने देश की सामाजिक संरचना में महिलाओं को उचित स्थान दिलाने का प्रयास किया। संविधान की प्रस्तावना में संविधान के जनकों ने सत्यनिष्ठा से दो विशेष उद्देश्यों पर बल दिया जिनका महिलाओं की स्थिति से प्रत्यक्ष सम्बन्ध था।

(क) न्याय----------सभी के लिए सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक।

(ख) समानता-------- सभी के लिए प्रस्थिति और अवसर की।

मौलिक अधिकारों और नीति निर्देशक सिद्धान्तों से सम्बन्धित संविधान के भाग III और IV में इन धोषणाओं का ठोस रूप से वर्णन किया गया है। मौलिक अधिकारों से सम्बन्धित आधार के अनुच्छेद 14 में कहा गया है कि राज्य किसी भी व्यक्ति को कानूनी समानता और कानून के समान संरक्षण से इन्कार नहीं करेगा। अनुच्छेद 15 में विशेष रूप से उल्लेख किया गया है कि किसी भी व्यक्ति से जाति, धर्म और लिंग के आधार पर भेदभाव नहीं किया जाएगा। अनुच्छेद 16 में सार्वजनिक नियुक्तियों से सम्बन्धित मामलों में अवसर की समानता की व्यवस्था की गई है। इसके साथ-साथ संविधान ने राज्य को महिलाओं और बच्चों के लिए विशेष उपबन्ध बनाने की शक्तियॉ भी प्रदान की है। संविधान में इस उपबन्ध को शामिल किए जाने से राज्य को महिलाओं के कल्याण के लिए कानून बनाना आसान हो गया है।

राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्त राज्य को समाज के सामाजिक-आर्थिक कल्याण के लिए काम करने का निर्देश देने के साथ-साथ महिलाओं से सम्बन्धित चार विशिष्ट निर्देश भी देते हैं :-

(i) पुरूष तथा महिला दोनों को जीने के लिए पर्याप्त साधन प्राप्त करने का समान अधिकार है। (अनुच्छेद 39क)

(ii) महिलाओं और पुरूषों के लिए समान कार्य के लिए समान वेतन (अनुच्छेद 39 ग, घ)

(iii) कामगार महिला और पुरूषों के स्वास्थ्य, शक्ति और बच्चों की अल्पव्यस्कता का शोषण नहीं किया जाएगा और आर्थिक आवश्यकता के कारण किसी भी नागरिक को ऐसा कार्य करने के लिए विवश नहीं किया जाएगा जो उसकी उम्र और शक्ति के अनुकूल न हो (अनुच्छेद 39 ड.)

(iv) कार्य करने के लिए उचित और मानवीय स्थितियां बनाने तथ प्रसूति-सुविधा उपबन्ध कराने के लिए राज्य आवश्यक व्यवस्था करेगा।

राज्य के इन नकारात्मक और सकारात्मक उत्तरदायित्वों के अतिरिक्त संविधान ने सभी नागरिकों के लिए (1976 के 42 में संशोधन के बाद) महिलाओं की प्रतिष्ठा का अनादर करने वाली मान्यताओं को समाप्त करने हेतु मौलिक कर्त्तव्य की व्यवस्था भी की है। (अनुच्छेद 51क) भारत के संविधान ने सार्वभौमिक मताधिकार की व्यवस्था की है। इस प्रकार महिलाओं को समान रूप से मत देने तथा चुनाव लड़ने का अधिकार प्राप्त है।

संविधान के माध्यम से समानता को औपचारिक संरचना उपलब्ध कराने के साथ-साथ सरकार परिवर्तन और विकास

लाने के लिए कानून को भी एक महत्वपूर्ण साधन के रूप में प्रयोग करती रही है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय से ही विशेष रूप से जवाहरलाल नेहरू ने, महिलाओं के विरूद्ध प्रचलित भेदभाव समाप्त करने के लिए कानून बनाने की बात सोची। इस प्रकार विशेष विवाह अधिनियम 1954 , हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 , हिन्दू अल्पआयु और संरक्षक अधिनियम 1956 , हिन्दू दत्तक ग्रहण और अनुरक्षण अधिनियम, 1956, महिलाओं में अनैतिक व्यापार की समाप्ति अधिनियम, 1956, और दहेज निषेध अधिनियम 1961 जैसे अधिनियम बनाए गए। भारत में महिलाओं की स्थिति से सम्बन्धित समिति (1975) द्वारा रिपोर्ट प्रस्तुत किए जाने और महिला आन्दोलन तथा संगठनों के उदय से 1970 और 1980 के दशक में कानून के क्षेत्र में और भी महत्वपूर्ण कदम उठाए गए हैं।

इस दिशा में जो कानूनी व्यवस्था की गई उनमें चिकित्सा आधारित गर्भपात अधिनियम, 1971, समान वेतन अधिनियम 1976, बाल विवाह प्रतिबंध (संशोधन) अधिनियम 1978 और अपराध कानून (संशोधन) अधिनियम 1983, परिवार न्यायालय अधिनियम 1984, अपराध कानून (द्वितीय संशोधन) अधिनियम 1985, दहेज निषेध (संशोधन) अधिनियम 1984 आदि प्रमुख हैं। इन अधिनियमों द्वारा लिंग के आधार पर रोजगार सम्बन्धि मामलों में महिलाओं के साथ भेदभाव को समाप्त कर दिया गया। बालिकाओं की शादी करने की उम्र को बढ़ाकर 18 वर्ष कर दिया गया, बलात्कार के मामले में साक्ष्य प्रस्तुत करने का उत्तरदायित्व अपराधी पर डाल दिया गया है और बलात्कार की सजा को कठोर कर दिया गया, पति अथवा सुसराल वालों द्वारा पत्नी के साथ निर्दयतापूर्वक व्यवहार को दंडनीय घोषित किया गया।

विधायिका द्वारा कानून बनाने के अतिरिक्त न्यायपालिका भी कुछ प्रचलित कानूनों की व्याख्या महिलाओं के पक्ष में करती रही है। नवम्बर 1995 में उच्चतम न्यायालय ने अपने ऐतिहासिक फैसले में विधवा अथवा म त व्यक्ति की पुत्री को उसकी सम्पति मे समान अधिकार दिया। इससे पहले दो अन्य मामलों मे उच्चतम न्यायाल ने तलाकशुदा हिन्दू महिलाओं को उनके भरण-पोषण के लिए दी गई सम्पति को बेचने, आय अर्जित करने या अपनी इच्छानुसार अन्य किसी प्रकार से प्रयोग करने की इजाजत दी और विधवा को भरण पोषण के रूप में दिए गए आवास पर पूर्ण मालिकाना अधिकार दिया। शाह बानों और अन्य ऐसे मामलों में न्यायपालिका द्वारा दिए गए निर्णय इसलिए महत्वपूर्ण माने जा सकते हैं क्योंकि इससे व्यक्तिगत कानून (Personal Law) में सुधार करने की न्यायपालिका की सक्रियता का पता लगता है।

विकास और कल्याण कार्यक्रम :
(Development and Walfare Programmes)

महिलााओं का विकास करने और उन्हें न्याय दिलाने के लिए किए गए प्रयास केवल कानून बनाने और कानून की उनके पक्ष में व्याख्या करने तक ही सीमित नही है। इस बात को भी मान्यता दी गई है और महसूस किया गया है कि महिलाओं की शिक्षा, दक्षता -विकास, प्रबन्ध, प्रशिक्षण जैसे निवेशों तक पहुच भी होनी चाहिए। इसके लिए सरकार द्वारा महिला विकास को पंचवर्षीय योजनाओ मे शामिल करने का प्रयास किया गया। महिलाओं के विकास से सम्बन्धित द ष्टिकोण को प्रथम पंचवर्षीय योजना में समुदाय विकास कार्यक्रम के अर्न्तगत शामिल किया गया। त तीय और चर्तुथ पंचवर्षीय योजना में महिला शिक्षा कल्याण को उच्च प्राथमिकता दी गई। पाँचवी पंचवर्षीय योजना में द ष्टिकोण को महिला कल्याण से हटाकर महिला-विकास पर केन्द्रित किया गया। छठी पंचवर्षीय योजना में महिला स्वास्थ्य, शिक्षा और रोजगार पर बल दिया गया। सन् 1985 में महिलाओं को विशेष पहचान प्रदान करने और महिला और बाल विकास के लिए एक अलग विभाग स्थगित किया गया। सातवीं पंचवर्षीय योजना में महिलाओं के लिए रोजगार के नए अवसर उपलब्ध कराने पर बल दिया और उन्हें देश के विकास के लिए निर्णायक संसाधन माना गया। आठवीं योजना में इस द ष्टिकोण को महिलाओं को शक्ति प्रदान कराने पर केन्द्रित किया गया।

सन् 1953 में भारत सरकार ने महिलाओं, बच्चों और सुविधाहीन वर्गो के कल्याण और विकास सेवाओं को बढ़ाने के लिए राष्ट्रव्यापी कार्यक्रम चलाने हेतू केन्द्रीत समाज बोर्ड स्थापित किया। इस बोर्ड के समान ही राज्यों में भी बोर्ड स्थापित किए गए है। सरकार के इस कार्यक्रम ने जहां एक ओर महिला संगठनों की संख्या में व द्धि को प्रोत्साहित किया है वही दूसरी ओर पहले से सक्रिय महिला कार्यकताओं को अधिक कुशलता से कार्य के अवसर प्रदान किए है। इसके फलस्वरूप बड़ी संख्या में महिला मंडलों का उद्भाव हुआ है। कई राज्य सरकारों ने बालिकाओ के लिए माध्यमिक स्तर और कुछ मामलों मे

विश्वविधालय स्तर तक शिक्षा निःशुल्क देने की व्यवस्था की है। परिवार नियोजन और कल्याण कार्यक्रम भी महिलाओं की स्थिति में सुधार लाने के उद्धेश्य से बनाए गए है।

महिलाओं को चुनावों में हिस्सा लेने और चुनाव लड़ने की स्वतन्त्रता और समानता का अधिकार दिए जाने के बावजूद निर्वाचित और निर्णय लेने वाले निकायों में महिलाओं का प्रतिशत बहुत कम ही नही रहा, बल्कि कुछ मामलों में यह शुन्य भी रहा है। इस उद्धेश्य के लिए स्थानीय स्वःशासी निकायों में महिलाओं के लिए सीट आरक्षित करने के लिए सन् 1988 में पहल की गई। सन् 1992 में संविधान 73 वां तथा 74 वां संशोधन पारित किया गया। जिसमें पंचायती राज निकायों और नगरपालिकाओं में विभिन्न स्तरों पर महिलाओं के लिए 33 प्रतिशत सीटें आरक्षित करने की व्यवस्था की गई। यही व्यवस्था संसद और राज्य विधान सभाओं में भी लागू करने का प्रस्ताव संसद के विचाराधीन है।

भारत, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी महिला विकास कार्यक्रमों में भाग लेता रहा है और इन मंचों पर भारत ने अनेक प्रतिज्ञा पत्रों पर हस्ताक्षर भी दिए है। यहां पर यह उल्लेख करना सही होगा कि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद इस दिशा में विभिन्न अर्न्तराष्ट्रीय मंचों पर लगातार प्रयास किए जाते रहे है। इनमें से कुछ महत्वपूर्ण प्रयासों का वर्णन नीचे किया जा रहा है।

सन् 1945 में संयक्त राष्ट्र संघ ने अपने घोषणा पत्र मे अनुच्छेंद 8 में महिलाओं के प्रति भेदभाव न करने की प्रतीज्ञा की जिसमें कहा गया कि संयुक्त राष्ट्र संध के सभी निकायों में "किसी भी प्रकार से समानता की परिस्थितियों में" भेदभाव नहीं किया जाएगा। सन् 1946 में महिलाओं की प्रस्थिति के सम्बन्ध में एक आयोग का गठन किया गया। इस आयोग ने अनेक घोषणाएं की, समागम आयोजित किए, विभिन्न मुद्दों की निगरानी की तथा महिला मुद्दों से सम्बन्धित महत्वपूर्ण सम्मेलनों के सचिवालय के रूप में काम किया। सन् 1967 में महिलाओं के विरूद्ध भेदभाव बरतने वाले सभी साधनों को समाप्त करने के लिए घोषणा को स्वीकार किया गया। इसने वास्तविक जीवन में यथार्थ रूप में तथा कानूनी रूप से महिलाओं को समानता प्रदान कराने की अपील की।

सन् 1975 में संयुक्त राष्ट्र संघ की आम सभा ने महिलाा मुद्दों पर प्रकाश डालने के लिए वर्ष 1975 को अन्तर्राष्ट्रीय महिला वर्ष के रूप में मनाने की घोषणा की। अन्तर्राष्ट्रीय महिला वर्ष के दौरान महिलाओं के सम्बन्ध में मैक्सिकों में आयोजित प्रथम सम्मेलन में विश्व स्तर पर कार्यवाई योजना को अपनाया गया और यह घोषणा भी की गयी कि प्रथम दशक में महिलाओं को समानता, विकास और शांति प्रदान की जाएगी। आम सभा ने 1976 में महिलाओं के लिए स्वैच्छिक निधि की स्थापना की। सन् 1985 में इसमें विस्तार करके इसे संयुक्त राष्ट्र महिला विकास निधि में परिवर्तित किया गया। महिलाओं के सम्बन्ध में दूसरा सम्मेलन सन् 1980 में कोयेनहेगम में, तीसरा सन् 1985 में नौरोबी में आयोजित किया गया था। इस सम्मेलन में सन् 2000 तक महिला विकास के सम्बन्ध में रण/नीति तैयार की गई। पर्यावरण और विकास विषय पर संयुक्त राष्ट्र संघ ने सन् 1992 के सम्मेलन में स्वीकार किया गया कि महिलांए पर्यावरण विकास और सामाजिक परिवर्तन से केवल अधिक प्रभावित ही नहीं है बल्कि वह इस क्षेत्र में सुधार के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण सहयोग दे सकती हैं सन् 1993 में विआना में मानव अधिकार पर आयोजित विश्व सम्मेलन में महिलाओ पर अत्याचार और अन्य महिला मानव अधिकार मुद्दों को सयुक्त राष्ट्र के सभी मानव अधिकारों से सम्बन्धित मुदों से उपर रखा गया।

सन् 1994 में जनसंख्या और विकास विषय पर आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में पहली बार लैंगिक समानता और शिक्षा के माध्यम से महिलाओं को शक्तिशाली बनाने पर विचार किया गया तथा स्वस्थ और पोषण को परिवार नियोजन जैसे परम्परागत सम्बन्धी मुद्दों से जोड़ा गया। सन् 1995 में बीजिंग मे महिलाओं से सम्बन्धित विश्व सम्मेलन में 12 चिन्ताजनक विषयों की समीक्षा की गई और उन पर वार्तालाप किया गया है और कार्यवाही के लिए एक नया मंच बनाया गया। भारत इन सभी मुद्दो में समान रूप से भागीदार है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद महिलाओ की स्थिति मे परिवर्तन लाने के लिए कई परिवर्तन किए गए है। विशेष रूप से महिलाओ को पुरूषों से समानता प्रदान कराने के प्रयास किए गए है। वर्तमान समय में भारत मे महिलाओं को कानून तथा संविधान द्वारा पुरूषों के समान अधिकार प्राप्त है। महिलाओं को अपने भविष्य को उज्जवल बनाने के लिए किसी भी प्रकार की शिक्षा प्राप्त करने और प्रशिक्षण लेने की स्वतंत्रता प्राप्त है। वे किसी भी प्रकार की विशेषज्ञता

और उच्च शिक्षा प्राप्त कर सकती है। लेकिन जब हम समाज की वास्तविक स्थिति का अध्ययन करते हैं, तो हम पाते है कि शहरी शिक्षित महिलाओं का एक छोटा सा वर्ग ही इन कानूनों ओर विकासीय कार्यक्रमों से लाभन्वित हुआ है। समाज में लिंग-भेद न केवल जारी है। अपितु कुछ स्थानों और अवसरो पर महिलाओं के प्रति हिंसा और अपराध की प्रव ति में भयंकर व द्धि हुई है।

अध्याय-30
दलित
(Dalits)

विश्व के प्रत्येक देश में ऐसे असंख्य लोग रहते है जो सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक, सांस्क तिक आदि द ष्टि से समाज के अन्य वर्गो से पिछड़े हुए होते हैं। ये लोग समाज के अन्य सशक्त वर्गो के लोगों द्वारा कुचले हुए या शोषित होते हैं। ये लोग किसी जाति धर्म, वर्ग या रंग के नहीं होते बल्कि सामूहिक रूप से समाज के उपेक्षित और पिछड़े हुए व्यक्ति होते हैं। इन्हीं लोगों को भारत में दलित कहा जाता हैं। बी० आर० अम्बेडकर ने इन्हें 'टूटे हुए व्यक्ति' (Broken Men) कहा हैं। महात्मा गांधी ने इन्हें हरिजन (Harijans) कहा है। भारत के संविधान में इन्हें अनुसूचित जातियों के रूप में मान्यता दी हैं। दलित शब्द हिब्रू (Hobriu) भाषा के डाल (Dall) के सद श है। जिसका अर्थ कुचला हुआ या दबा हुआ। दलित शब्द का भावार्थ यह निकलता है कि समाज का वह वर्ग जिसको समाज के उच्च वर्गो द्वारा शोषित किया गया हो, जिसके प्रमुख अधिकार एवं स्वतंत्रताए छीन ली गई हो, जिसको शूद्र या नीच समझा जाता हो या जिसको उपेक्षित कर दिया गया हो। स्पष्ट है कि दलित समाज का वह वर्ग है जिसको उच्च वर्गो द्वारा उपेक्षित, शोषित या कुचला गया हो। इस प्रकार सैद्धान्तिक रूप से केवल जाति, जन्म या रंग के आधार पर किसी व्यक्ति को दलित नहीं माना जा सकता। यदि कोई व्यक्ति तथा कथित निम्न जाति से सम्बन्ध रखता है या जन्म लेता है, परन्तु उसके साथ कोई दुवर्यवहार नहीं किया जाता तो उसे दलित नहीं कहा जा सकता।

दलित कोई जाति नहीं है, दलित क्रान्ति और परिवर्तन का प्रतीक है। दलित मानवतावाद में विश्वास करता है। वह ईश्वर के अस्तित्व, पुर्नजन्म, आत्मा, पवित्र पुस्तकों आदि को नही मानता क्योंकि इन्होंने भेदभाव, भाग्यवाद और परलोकवाद सिखाया है और उसे दास बनाया है। वह अपने देश में शोषित व्यक्ति का प्रतिनिधित्व करता है। परन्तु भारतीय समाज में दलित जातीयता का पर्याय बन गया हैं। यहाँ दलित शब्द साफ तौर पर पिछड़ी हुई व निम्न जातियों की और संकेत करता है। जबकि वस्तुस्थिति यह हैं कि दलित वर्ग में किसी जाति या वर्ग विशेष के शामिल नहीं किया जाता बल्कि सामूहिक रूप से समाज की पिछड़ी हुई जातियों के लोगों को शामिल किया जाता हैं। इसमें अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जन-जातियों, पिछड़ी जातियों व अनुसूचित कबीलों के व्यक्ति शामिल किए जाते हैं।

स्वतंत्रता से पहले भारतीय राजनीति में दलितों का प्रयोग इतना व्यापक तौर पर नहीं किया जाता था क्योंकि सभी राजनीतिक दलों वे नेताओं का एक मात्र उद्देश्य ब्रिटिश दासता में मुक्ति था। परन्तु आजादी के बाद राजनीतिक दलों और नेताओं के निहित स्वार्थो के कारण दलितों को मोहरा बनाया जा रहा है। प्रत्येक दल व नेता अपने आपकों दलितों का सच्चा मसीहा साबित करने का प्रयास कर रहा है। राजनीतिक दलों और नेताओं द्वारा दलितों के हितों की अनदेखी करने के आरोप-प्रत्यारोप लगाए जाते हैं। भारतीय राजनीति में दलितों को एक महत्वपूर्ण वोट बैंक समझा जाता हैं। इस वोट बैंक पर प्रभुत्व स्थापित करने के लिए अनेक दल और नेता अनेक दांव-पेच अपनाते रहते हैं। दलितों के लिए अधिक आरक्षण की लगातार मांग करना भी दलित राजनीति का ही एक पहलू हैं दलितों के राजनीतिक प्रयोग के कारण जहाँ एक और दलितों में राजनीतिक चेतना आई हैं वहीं इससे नवीन दलित नेता भी उभरकर सामने आए हैं। इसके परिणामस्वरूप दलितों के नए अभिजन पनपे है। स्पष्ट तौर पर दलित राजनीति ने भारतीय समाज के सामाजिक, राजनीतिक आर्थिक, धार्मिक सांस्क तिक व शैक्षिणक ढांचे को प्रत्येक पक्ष से प्रभावित किया है।

कुछ विद्वान दलित राजनीति की जड़े संविधान में दिए गए आरक्षरण के प्रावधानों में निहित मानते हैं। शुरू से ही आरक्षण की व्यवस्था विवाद का विषय रही है। यद्यपि दलितों, पिछड़ों आदि के आरक्षण के लिए एकमात्र उद्देश्य यह था कि इन वर्गो का समुचित विकास किया जाए ताकि वे वर्ग अन्य उच्च वर्गो के समान ही समाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकें। आजादी के बाद भी आरक्षण की व्यवस्था के आशतीत परिणाम नहीं निकले हैं। आरक्षण की व्यवस्था एक चुनौती के रूप में हमारे सामने आई है जिसने समाज के बुद्धिजीवियों तथा सभी विचारशील व्यक्तियों को विभाजित कर दिया है। ऐसा नहीं

है कि आरक्षण की व्यवस्था निष्प्रभावी रही हो। वास्तविकता तो यह है कि आरक्षण की व्यवस्था ने भारतीय समाज को राजनीतिक, आर्थिक, शैक्षिणक, सामाजिक इत्यादि प्रत्येक द ष्टि से प्रभावित किया है। आरक्षण की व्यवस्था ने भारतीय समाज पर सकारात्मक और नकारात्मक दोनों ही प्रभाव डाले हैं।

सकारात्मक प्रभावः

आरक्षण व्यवस्था के सकारात्मक प्रभाव निम्न लिखित हैं :

सामाजिक स्तर में सुधार :

आरक्षण की नीति के परिणामस्वरूप कमजोर वर्ग के व्यक्ति सार्वजनिक सेवाओं में उच्चतम पदों पर भी पहुंचने में सफल हो पाए हैं। आज विभिन्न उच्च प्रशासनिक सेवाओं में कमजोर वर्गो के अनेक व्यक्ति कार्यरत हैं। इससे इनकी सामाजिक प्रतिष्ठा में व द्धि हुई है। इन वर्गो के व्यक्ति भी अब उच्च वर्गो की ही तरह सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, शैक्षणिक इत्यादि सुविधाओं का लाभ उठाने में सक्षम हो सके हैं। इन कमजोर वर्गो के लोगों के साथ अछूतों जैसा अमानवीय व्यवहार करने वाले उच्च वर्ग के लोग भी अब इनके साथ समानता का व्यवहार करने लगे है। इस प्रकार आरक्षण की राजनीति ने कमजोर वर्गो के समाजिक स्तर में सुधार किया है।

राजनीतिक चेतना में व द्धि :

आरक्षण के परिणामस्वरूप कमजोर वर्गो को अनेक सुविधाए प्राप्त हो सकी हैं। जंहा इनका आर्थिक एंव सामाजिक विकास हुआ है वहीं इनका शैक्षणिक विकास भी हुआ हो इससे इन वर्गो में राजनीतिक चेतना आई है। अब राजनीति को प्रभावित करने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाने लगे हैं। निःसन्देह आरक्षण के कारण ही दलितों की राजनीति को बढ़ावा मिला है।

राजनीतिक भागीदारी बढ़ी है :

पहले इन वर्गो को राजनीतिक गतिविधियों में सक्रिय तौर पर भागीदारी निभाने से रोका जाता था। आरक्षण की व्यवस्था के परिणामस्वरूप इन कमजोर वर्गो को भी राजनीति में अपनी सक्रिय भूमिका निभाने का अवसर मिला है। आजकल आरक्षण की व्यवस्था लोकसभा तथा राज्य विधान सभाओं के लिए की गई है। यह आरक्षण की नीति का ही प्रभाव है कि आज अनेक राजनीतिक नेता इन्हीं कमजोर वर्गो से आ रहे हैं। इस वर्ग में राजनीतिक चेतना आई है जिससे यह वर्ग राजनीतिक में अपनी सक्रिय भागीदारी निभाने लगा है।

कमजोर वर्गो में शिक्षा के प्रति जाग ति आई है :

आरक्षण की नीति के परिणामस्वरूप ही आज कमजोर वर्ग शिक्षा के प्रति आकर्षित हुआ है। जिस कमजोर वर्ग को शताब्दियों से शिक्षा से वंचित किया जाता रहा था वही वर्ग आज उच्च शिक्षा प्राप्त करके अन्यों को ज्ञान दे रहा है। कमजोर वर्गो से आज अनेक डाक्टर, वकील, इंजीनियर, अध्यापक अादि निकल रहे है। यह सब आरक्षण की व्यवस्था का ही सकारात्मक प्रभाव है।

कमजोर वर्ग समाज की मुख्य धारा से जुड़ पाए हैं :

आरक्षण की राजनीति का एक सकारात्मक प्रभाव यह भी पड़ा है कि इससे समाज के वे कमजोर वर्ग जो एक लम्बे समय तक शोषित, दलित, दुर्व्यवहार ग्रस्त और उपेक्षा के शिकार रहे और जो समाज की मुख्य धारा से कटे रहे, को समाज का पुनः अभिन्न अंग समझा जाने लगा और उन्हें पुनः सामाजिक सम्मान की द ष्टि से देखा जाने लगा है। इस बात में पर्याप्त सच्चाई है कि कमजोर वर्गो के उच्च पद प्राप्त व्यक्तियों का काफी सम्मान किया जाता है। यह सब आरक्षण की राजनीति का ही प्रभाव है।

कमजोर वर्गो का आर्थिक विकास होना :

शुरू में आर्थिक विकास के सभी साधनों पर उच्च वर्ग का ही एकाधिकार था। कमजोर एवं निम्न वर्ग के लोग उद्योग एवं व्यवसाय स्थापित नहीं कर सकते थे जिसके परिणामस्वरूप ये वर्ग आर्थिक रूप से अत्यन्त दयनीय बन गए थे।

लेकिन आरक्षण की व्यवस्था से इन वर्गो के लिए आर्थिक विकास के अनेक अवसर खुल गए। इन वर्गो के लोग भी अब मन चाहे उद्योग-धन्धे स्थापित कर सकते हैं। इस प्रकार इन वर्गो का आर्थिक विकास हुआ है।

लोक सेवाओं में पिछड़े वर्गो, अनुसूचित जातियों तथा जन-जातियों का प्रतिनिधित्व बढ़ना :

समाज के पिछड़े वर्ग एक लम्बे समय तक सार्वजनिक सेवाओं से दूर रहे क्योंकि ये वर्ग शैक्षणिक द ष्टि से अत्यन्त कमजोर थे। लेकिन आरक्षण की राजनीति के माध्यम से इन वर्गो को अनेक शैक्षणिक सुविधाएं प्रदान की गई जिसके परिणामस्वरूप इन वर्गो का लोक सेवाओं में प्रतिनिधित्व बढ़ा हैं। आजकल अनेक सार्वजनिक पदों पर अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों तथा अनुसूचित कबीलों के लोग नियुक्त हैं।

नकरात्मक प्रभाव :

आरक्षण व्यवस्था के नकारात्मक प्रभाव निम्नलिखित है :

प्रशासन में जातिवाद को बढ़ावा मिलना :

चूंकि आरक्षण का लाभ कुछ विशेष दलित जातियों को ही मिला है, अतः इससे जातिवाद की व्यवस्था को और भी अधिक बढ़ावा मिला है। जातिवाद प्रशासन के प्रत्येक क्षेत्र में दाखिल हो गया है। इतना ही नहीं जातिवाद ने राजनीति का जातीयकरण किया हैं, चुनावों के समय उम्मीदवार के चयन में उसकी भूमिका विशेष महत्व रखती है। प्रायः दलित बाहुल्य वाले क्षेत्र में दलित जाति के ही किसी उम्मीदवार को चुनाव में खड़ा किया जाता है। चुनावों के बाद मत्रिमण्डल के गठन में भी उम्मीदवारों की जाति की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। प्रायः सभी राजनीतिक दलों के नोता अपने आपको दलित वर्ग के उच्चे हितैषी कहते हैं। इस प्रकार दलितों को प्रदान की गई सुविधाओं में राजनीति एवं प्रशासन का जातीयकरण किया है।

दलितों के अभिजन वर्ग का उदय :

दलितों और पिछड़े वर्गो की राजनीति से इस वर्ग में भी नए विशिष्ट वर्ग (Elite Class) बनने लगे है। यद्यपि आरक्षण की व्यवस्था इन वर्गो के सभी लोगों के लिए की गई थी लेकिन इसका लाभ इन वर्गो के कुछ एक व्यक्ति हो उठा पाए हैं। इन थोड़े से लोगों ने ही राजनीतिक आर्थिक, शैक्षणिक आदि क्षेत्र में प्रवेश किया है। इन्होंने आरक्षण से मिलने वाले लाभों व सुविधाओं को अपने तक ही सीमित कर लिया है। विशेषतौर से आरक्षण का लाभ अब वे ही व्यक्ति उठा रहे हैं जो अन्य दलितों से उच्चे हैं। यह उच्च दलित वर्ग राजनीति में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। इनका रहन-सहन किसी भी तरह से अन्य उच्च वर्ग से कम नही कहा जा सकता। इस प्रकार आरक्षण के परिणामस्वरूप दलित वर्ग में एक नया वशिष्ट वर्ग उभरा है। इस नए विशिष्ट वर्ग ने आरक्षण के सारे लाभ अपने सम्बन्धियों, रिश्तेदारों, मित्रों आदि के लिए सुरक्षित रख लिए है। दलितों में आज भी एक ऐसा बड़ा वर्ग है जो आरक्षण की सुविधाओं से कोसों दूर है।

राजनीतिक दल तथा दबाव समूह जाति पर आधारित बनने लगे हैं :

भारतीय राजनीति में पिछड़े वर्गो का एक लम्बे समय तक मात्र एक वोट बैंक के रूप में प्रयोग किया गया है। इन वर्गो को मात्र राजनीति में वोट डालने के लिए ही प्रयोग किया जाता रहा। लेकिन आरक्षण की व्यवस्था के परिणामस्वरूप पिछड़े वर्गो में भी चेतना आई है और इनकी राजनीतिक भागेदारी बढ़ी है। ये वर्ग अब अन्य वर्गो के प्रतिनिधियों को चुनने अथवा शासक बनाने की अपेक्षा अपने प्रतिनिधि चुनते हैं। ये वर्ग अब राजनीतिक शक्ति को अपने हाथों में लेने के लिए प्रयास कर रहे हैं। अखिल भारतीय अनुसूचित जाति संघ (All India Scheduled Castes Federation) पिछड़े वर्गो का ही एक दबाव समूह माना जाता है। बहुतजन समाज पार्टी को भी पिछड़े वर्गो की पार्टी माना जाता है और इस पार्टी ने दलितों के संगठित करने का प्रयास किया है।

आरक्षण के कारण मतदान व्यवहार पर प्रभाव पड़ना :

पिछड़े वर्गो की राजनीति के परिणामस्वरूप मतदान व्यवहार पर भी काफी प्रभाव पड़ा है। एक तरफ से दलितों की राजनीति मतदान व्यवहार का एक प्रमुख निर्धारक तत्व बन गई है। दलित वर्ग अब उस राजनीतिक दल को अपना

वोट देना पसन्द करते है। जो उनके हितों की पूर्ति अच्छी प्रकार कर सकें। दूसरी और राजनीतिक दल भी चुनाव प्रचार के दौरान पिछड़े वर्गो की भावनाओं को उत्तेजित करते हैं। पछिड़े वर्गो की राजनीति से अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जन-जातियों व अनुसूचित कबीलों के लोगों के मतदान व्यवहार पर ही प्रभाव नहीं पड़ा है। बल्कि अन्य उच्चजातियों के लोगों का मतदान व्यहार भी प्रभावित हुआ है।

पिछड़े वर्गो का वोट बैंक के रूप में प्रयोग :

दलितों की राजनीति का एक प्रभाव यह पड़ा है कि इससे दलितों को वोट बैंक का रूप में प्रयोग किया जाने लगा है। कांग्रेस पार्टी ने अपने लम्बे शासन में पिछड़े वर्गो को एक वोट बैंक से ज्यादा कभी कुछ नहीं समझा। कांग्रेस पार्टी ही नहीं बल्कि अन्य पार्टिया भी अपने आपकों पिछड़े वर्गो का हितैषी बताती है। लेकिन ये अब पिछड़े वर्गो को वास्तव में एक वोट बैंक के रूप में ही प्रयोग कर रही है। अनेक राजनीतिक पार्टियां तथा उनके नेता पिछड़े वर्गो को विभिन्न सुविधांए उपलब्ध कराने का वचन देते हैं। लेकिन चुनावों के बाद राजनीतिक दल इन वर्गो को भूल जाते है। इस प्रकार आरक्षण की व्यवस्था अथवा दलितों की राजनीति ने पिछड़े वर्ग को एक वोट बैंक बनाया है।

आरक्षण का विरोध :

यह स्पष्ट है कि आरक्षण की व्यवस्था का लाभ कुछेक पिछड़ी जातियों को ही मिला है। इस व्यवस्था के परिणामस्वरूप निम्न जातियों के लोग सभी क्षेत्रों में उच्च पदों को प्राप्त कर रहे हैं। इतना ही नहीं अनेक राजनीतिक दल पिछड़े वर्गो के लिए और भी अधिक आरक्षण की व्यवस्था करना चाहते हैं। दूसरी और इन वर्गो को मिलने वाली आरक्षण की सुविधाओं ने उच्च वर्गो के युवाओं में तीव्र प्रतिक्रिया उत्पन्न की हैं जहाँ निम्न वर्गो के विद्यार्थी आरक्षण के कारण सफलता से उच्च शिक्षण सस्थाओं अथवा सरकारी सेवाओं में प्रवेश पा जाते है वहीं उच्च वर्ग के बहुत से प्रतिभाशाली युवक इससे वंचित रह जाते हैं। अतः उच्च वर्ग आरक्षण की व्यवस्था को द्वेष की द ष्टि से देरूता है और इसे समाप्त करना चाहता है।

लोक सेवाओं के स्तर का पतन :

दलित अथवा कमजोर वर्गो के लिए आरक्षण की व्यवस्था के परिणामस्वरूप ही जहां इन वर्गो के सामान्य बुद्धि वाले अभ्यार्थी (Candidate) लोक सेवा में स्थान पा जाते हैं, वहीं दूसरी और उच्च वर्गो के अनेक प्रतिभावान नवयुवक एवं नवयुवतियां इससे वंचित रह जाते हैं। अधिक संख्या में निम्न वर्गो से लोक सेावाओ में अभ्यार्थी जाने से इन सेवाओं का स्तर गिरा हैं दलित राजनीति चाहें अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों कबीलों आदि को लोकसेवाओं में अधिक प्रतिनिधित्व दिलाने में सफल हुई हैं। लेकिन इससे लोक सेवाओं के स्तर में गिरावट आई हैं।

निम्न वर्गो की सरकार पर निर्भरता बढ़ना:

दलित राजनीति के परिणामस्वरूप दलित वर्गो की सरकार पर निर्भरता बढ़ गई हैं। ये जातियां स्वेच्छा से अपना विकास करने की अपेक्षा सरकार से आरक्षण के माध्यम से अधिक सुविधओं को उठाना चाहती है। निम्न जातियां आरक्षण को अपने विकास की एक सीढी मानती हैं। इसके सहारे विकास करना चाहती हैं। आर्थिक, सामजिक, राजनीति आदि सभी क्षेत्रों में ये वर्ग सरकार पर अधिक निर्भर हो गए हैं।

निष्कर्ष :

उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि दलित राजनीति ने आरक्षण के माध्यम से भारतीय समाज पर नकारात्मक और सकारात्मक दोनों ही प्रभाव डाले हैं।

भाग-V

अध्याय-31
क्षेत्रीयतावाद
(Regionalism)

क्षेतीयतावाद ने भारतीय राजनैतिक व्यवस्था को बहुत अधिक प्रभावित किया है। वर्तमान पजांब की समस्या क्षेत्रीयतावाद की एक बहुत ही महत्वपूर्ण समस्या है जो राष्ट्रीय एकता के लिए खतरा बन चुकी है। डॉ० इकबाल नारायण का कथन है कि "भारतीय राजनीति का एक प्रमुख निर्धारक तत्व क्षेत्रीयतावाद है जिसके कारण लोग भारतीय संघ की तुलना में उस क्षेत्र या राज्य विशेष को महत्व देते है जिसमें वे रहते हैं।"

क्षेत्रवाद से तात्पर्य है एक देश में या देश के किसी भाग में उस छोटे से क्षेत्र से है जो आर्थिक, भौगोलिक, सामजिक आदि कारणों से अपने प थक आस्तित्व के लिए जागरूक है। साधारण शब्दों में क्षेत्रवाद का अर्थ किसी क्षेत्र के लोगों की उस भावना एवं प्रयत्नों से है जिनके द्वारा वे अपने क्षेत्र विशेष के लिए आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक शक्तियों में व द्धि चाहते हैं।

भारतीय राजनीति के परिप्रेक्ष्य में क्षेत्रीयतावाद से अभिप्राय है- राष्ट्र की तुलना में किसी क्षेत्र विशेष अथवा राज्य या प्रान्त की अपेक्षा एक छोटे क्षेत्र से लगाव, उसके प्रति भक्ति या विशेष आकषर्ण दिखाना। इस द ष्टि से क्षेत्रीयतावाद राष्ट्रीयता की व हद् भावना का विलोम है और इसका ध्येय संकुचित क्षेत्रीय स्वार्थो की पूर्ति होना है, भारतीय राजनीति के सन्दर्भ में यह एक ऐसी धारणा है जो भाषा, धर्म, क्षेत्र, आदि पर आधारित हे और जो विघटनकारी प्रव तियों को प्रोत्साहन देती है। क्षेत्रीयता की भावना सारे देश में व्याप्त है जो कि प्रायः सुनियोजित एवं सुव्यवस्थित आन्दोलनों तथा अभियानों के रूप में प्रकट होती हैं।

क्षेत्रीयतावाद के कारण :
(Causes of Regionalism) :

भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद के निम्नलिखित प्रमुख कारण हैं :

1. भौगोलिक :

भौगोलिक द ष्टि से भारत के कई राज्य आज भी बहुत बड़े हैं। इन बड़े राज्यों, जैसे मध्यप्रदेश, में छोटे-छोटे महत्वपूर्ण क्षेत्र भौगोलिक द ष्टि से महत्वपूर्ण इकाई बन सकते हैं। राजस्थान में माखाड़ तथा मेवाड़ का क्षेत्र को यदि प थक् राज्यों का दर्जा दे दिया जाए तो भी वे केरल, नागालैण्ड से तो बड़े राज्य ही बनेंगें।

2. सांस्क तिक :

कुछ राज्यों में कई भाषा भाषी एवं संस्क ति के लोग रहते हैं। उन्हें अपनी भाषा एवं संस्क ति पर गर्व है। इसी आधार पर द्रविड़ मुनत्र कड्गम ने भारतीय संघ से अलग होने की बात कही थी।

3. ऐतिहासिक :

राज्य पुर्नगठन के बाद कई पुरानी रियासतों को राज्यों में लिया दिया गया था। आज भी इन रियासतों के लोग यह महसूस करते हैं कि यदि उनकी रियासत का ही प थक् राज्य होता तो व अधिक लाभ की स्थिति में होते। केवल ऐतिहासकि सम्बन्धों के आधार पर ही पुराने क्षेत्रों की चर्चा की जाती है। दूसरो शब्दों में, सारे भारत का इतिहास

सामान्य न होकर क्षेत्रों के आधार पर भिन्न है। ऐतिहासकि प ष्ठभूमि, सांस्क तिक विरासत लोक परम्पराओं, सामाजिक मिथकों तथा लक्षणो (Symbolism) के आधार पर क्षेत्रवाद के अस्तित्व को सहायता मिलती है।

4. आर्थिक कारण :

भारत के कुछ राज्यों के कुछ क्षेत्रों में अधिक आर्थिक विकास हुआ और आर्थिक विकास की द ष्टि से कुछ क्षेत्र पिछड़ गए। इससे इन पिछड़े क्षेत्रों में असन्तोष फैलने लगा और क्षेत्रीयतावाद की भावना फैलने लगी। उदाहरण के तौर पर आन्ध्रप्रदेश में तेलगाना का क्षेत्र, राजस्थान में दक्षिणी-पूर्वी राजस्थान, महाराष्ट्र में विदर्भ में तेज रफतार से विकास नहीं हो पाया और वे अपने लिए प थक् राज्य की मांग करने लगे।

5. भाषा :

भारत में भाषागत विविधता रही है। उत्तर और दक्षिण की भाषा एक-दूसरे से भिन्न रहती है। भाषा को राजनीतिक हथियार के रूप में प्रयुक्त करने की प्रव ति बढ़ी। भाषा को प्रश्न को लेकर उत्तर तथा दक्षिणा राज्यों में हिसांत्मक आन्दोलन हुए और राष्ट्रीय एकता संकट में पड़ गयी।

6. धार्मिक कारण :

क्षेत्रीयतावाद के विकास में धर्म की भी प्रधानता रही है। उदाहरण के लिए, पजांब में खालिस्ततान की मांग बहुत सीमा तक धर्म पर आधारित है।

7. अन्तर्राज्यीय विवाद :

राज्यों के आपसी विवाद भी क्षेत्रीयता की भावना को बढ़ाने में सहायक हुए हैं। उदाहरण के तोर पर चंडीगढ़ के विषय पर हरियाणा और पंजाब में तनाव पूर्ण स्थिति पैदा हो गई है। दोनों ही राज्यों की जनता ने अपने -अपने क्षेत्रों में आन्दोलन चलाए जिससे की वातावरण काफी आशान्त हो गया है। नर्मदा नदी के जल-प्रयोग के कारण मध्यप्रदेश, राजस्थन और गुजरात के मध्य काफी तनावपूर्ण स्थिति रही। भाखडा जल-विद्युत के प्रयोग के लिए पंजाब और हरियाणा तथा पंजाब और राजस्थान में सघर्ष चल रहा हैं। कहने का अर्थ यह है कि राज्यों के आपसी विवाद भी क्षेत्रीयता की भावनाओं को बढ़ाते हैं।

8. राजनैतिक कारण :

क्षेत्रीयतावाद के जन्म के कारणों में राजनीतिज्ञों की भी मुख्य हाथ रहा है। वे सोचते है कि यदि अलग राज्य की स्थापना कर दी जाएगी तो सत्ता उनके हाथों में आ जाएगी। इसी उद्देश्य के कारण उत्तरप्रदेश को विभाजित करने की मांग समय-समय पर उठती रहती थी।

भारत में क्षेत्रीयतवाद

भारत में स्वतंत्रता के बाद राजनीति में जो प्रश्न उभरे हैं, उनमें क्षेत्रीयतावाद का प्रश्न एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। 1950 से लेकर आज तक क्षेत्रीयतावाद की समस्या भारत सरकार को घेरे हुए है और विभिन्न क्षेत्रों में आन्दोलन चलते हैं। भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद की चर्चा निम्नलिखित शीर्षकों के आधार पर की जा सकती हैः

(1) भारतीय संघ से प थक होने की मांग

(2) प थक राज्यत्व को प्राप्त करने की मांग

(3) पूर्ण राजस्व को प्राप्त करने की मांग

(4) अर्न्तराज्यीय विवाद

(5) राज्य के लोगों के हितों की रक्षा के लिए आन्दोलन

1. भारतीय संघ से प थक होने की मांग :

कई बार क्षेत्रीय आन्दोलन से अलग होने के लिए किए जाते रहे हैं।

(i) तमिलनाडु में आन्दोलन :

संघ से अलग होने की आवाज सर्वप्रथम मद्रास राज्य के लोगों ने उठाई। 1960 में डी० एम० के० तथा अन्य तमिल दलों ने इस मांग को पूरा करवाने के लिए व्यापक आन्दोलन संगठित किया। 1962 के चुनाव में डी० एम० के० दल को मद्रास विधान सभा में 50 स्थान प्राप्त हुए, जबकि 1957 के चुनाव में इस दल को 15 स्थान प्राप्त हुए। डी० एम० के दल के नेता अन्नादुराई ने संघ से अलग होने की मांग को दोहराया। स्वर्गीय प्रधानमंत्री नेहरू ने इस मांग को अनुचित बताया। मद्रास के वातावरण को देखते हुए संसद ने 1963 में संविधान में 16 वां संशोधन किया। इस संशोधन के अनुसार संसद को अधिकार दिया गया कि वह भारत की प्रभुसत्ता को ललकारने वाले व्यक्ति को सजा देने के लिए कानून बनाए। इस संशोधन के अनुसार संसद तथा अन्य राज्य विधानसभा के चुनाव लड़ने वाले उम्मीदवार को संविधान के प्रति और राष्ट्र की प्रभुसत्ता व एकता को बनाए रखने के लिए शपथ लेनी होगी। इस संशोधन के फलस्वरूप डी० एम० के० ने भारत से अलग होने की मांग को छोड़ दिया। परन्तु 1971 में तमिलनाडु (मद्रास) के मुख्यमंत्री करूणानिधि ने कहा कि तमिलनाडु का भारत से अलग होना निश्चित एवं अनिवार्य है।

(ii) पंजाब आन्दोलन :

मद्रास राज्य की तरह पंजाब में मास्टर तारा सिंह ने पजांब को एक अलग सिख राज्य बनाने की मांग रखी। 1950 से लेकर 1966 तक अकाली दल ने पंजाबी सूबा बनाने के लिए कई आन्दोलन चलाए। 1 नवम्बर, 1966 को पजांब का पुनर्गठन करके पजांब और हरियाणा दो राज्यों की स्थापना की गई। 1971 में डॉ० जगजीत सिंह ने स्वालिस्तान की मांग को दोहराया जिसकी पजांब के नेताओं ने कड़ी आलोचना की। 1973 में पास किए गए आनन्दपुर प्रस्ताव के आधार पर अकाली दल ने भारत के भीतर ऐसे सिख राज्य की स्थापना की मांग की जिसमें चार विषयों-प्रतिरक्षा, विदेशी मामलें, मुद्रा और यातायात व संचार साधनों को छोड़कर अन्य सभी विषय राज्य सरकार को सौंप देने चाहिए। अपनी इस मांग को पूरा करवाने के लिए एकाली दल के एक धड़े ने जत्थेदार जगदेव सिंह के नेत त्व में आन्दोलन चलायां इस आन्दोलन के अतिरिक्त 8 अगस्त, 1982 को एक अन्य आन्दोलन अम तसर में अकाली दल ने शुरू किया। इस आन्दोलन में दमदमी टकसाल के मुखिया संत जरनैल सिंह मिडंरावाले और उसके समर्थक भी शामिल थे। जून, १९८४ में सरकार को विवश होकर आतंकवादियों को पकड़ने के लिए स्वर्ण मन्दिर परिसर में तथा अन्य स्थानों पर सैनिक कार्यवाही करनी पड़ी। जुलाई १९८५ में शिरोमणी अकाली दल के प्रधान संत हरचंद सिंह लौगोवाल और प्रधानमंत्री राजीव गाँधी में एक समझौता हुआ जिसकों पंजाब समझौता कहा जाता है।

(iii) मिजो आन्दोलन :

असम के मिजों हिल (Miza Hill) जिले के लोगों ने भारत से अलग होने की मांग की और इस मांग को पूरा करवाने के लिए उन्होंने Mizo National Front (M.N.F.) की स्थापना कीं चीन के आक्रमण के समय (M.N.F.) को अवैध घोषित कर दिया और मिजो हिल (Mizo Hills) को संघीय क्षेत्र (Union Fintry) बना दिया गया। इस संघीय क्षेत्र को मिजोरम (Mizoram) का नाम दिया गया और इसका उद्घाटन प्रधानमंत्री इन्दिरा गांधी ने 21 जनवरी 1972 को किया। मिजो नैशनल फ्रन्ट ने लालडेंगा के नेत त्व में स्वतंत्रता मिजोरम के लिए अपनी आतंकवादी गतिविधियों जारी रखी। 1972 में लालडेंगा इग्लैण्ड भाग गए और वहाँ से मिजो नैशनल फ्रन्ट को निर्देश देते रहे। 1976 और 1980 में लालडेंगा के समझौते के लिए बातचीत हुई जो विफल रही। तीसरी बार बातचीत अक्टूबर 1984 में शुरू हुई और 25 जून 1986 को केन्द्रीय सरकार और मिजो फ्रन्ट में समझौता हुआ और लालडेंगा को मुख्यमंत्री बनाया गया और 1987 में मिजोरम को पूर्ण राज्य बनाया गया।

(iv) नागालैण्ड आन्दोलन :

मिजो लोगों की तरह असम के नागा पहाड़ी क्षेत्रों में रहने वाले लोगों ने स्वतंत्र नागरा राज्य की मांग की। उन्होंने नागा राज्य की मांग को मनवाने के लिए नागा नैशनल कौंसिल (Naga National Council) की स्थापना की। नागों ने अपनी मांगों को पूरा करवाने के लिए हिंसक तथा अराकता की कार्यवाही की। जिससे सेना को बुलाना पड़ा। 1962 में 13 वें संशोधन द्वारा नागालैण्ड को भारतीय संघ का 16 वां राज्य बनाया गया। इसके बाद भी नागालैण्ड मे कई विद्रोही नागाओं ने अपना आन्दोलन जारी रखा।

(v) आजाद कश्मीर की मांग :

जम्मू-कश्मीर में अलगाववाद की जडें बड़ी गहरी है। 1947 में शेख अब्दुलला जम्मू-कश्मीर के शासक से और उन्होंने 1951 से स्वतंत्र कश्मीर का सपना देखना शुरू कर दिया। इसीलिए अगस्त 1953 में शेख अब्दुल्ला को बन्दी बनाया गया। कश्मीर में अलगाववाद का एक महत्वपूर्ण कारण भारतीय संविधान का अनुच्छेद 370 हैं जिसने कश्मीर को विशेष दर्जा दे रखा है। 1987-88 से अलगाववादी गतिविधियों तेज हो गई। इन अलगावादियों को पाकिस्तान का पूर्ण समर्थन प्राप्त हैं जिस कारण ये कश्मीर में विभिन्न स्थानों पर आतंकवादी गतिविधियाँ कर रहे हैं। उन्हें पाकिस्तान द्वारा प्रशिक्षण, सहायता और प्रोत्साहन मिल रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय विरोधी तत्व विदेशी पर्यटकों का अपहरण करके उनकी हत्या कर देते हैं। उन अलगाववादियों से निपटने के लिए प्रशासन बड़े पैमाने पर कार्यवाही कर रहा है। उनकी मुख्य मांग कश्मीरियो को आत्म निर्णय का अधिकार देना और आजाद कश्मीर की है। इस मांग की पूर्ति के लिए ये अलगाववादी तत्व पाकिस्तान की उकसाहट के कारण खूनी सघर्ष का रास्ता अपनाए हुए हैं।

2. प थक राज्यस्व को प्राप्त करने की मांग :

कई बार क्षेत्रीयता आन्दोलन अलग राज्य की स्थापना के लिए किया जाता रहा है। 1956 के राज्यों के पुनर्गठन से प्रत्येक राज्य सन्तुष्ट नहीं था। बम्बई राज्य के लोगों ने पहलें अलग राज्य की मांग की, जिसके फलस्वरूप दो नए राज्यों- महाराष्ट्र व गुजरात की स्थापना हुई। पंजाब में अकाली दल ने पजांबी सूबा की मांग की। 1966 में अकाली दल की मांग को स्वीकार किया गया और पंजाब दो राज्यों में विभक्त कर दिया गया-पजांब व हरियाणा।

(i) गोरखालैंड आन्दोलन :

1985 ई० में पश्चिम बंगाल के दार्जिलिंग पवर्तीय क्षेत्र के निवासियों ने सुभाष घीसिंग के नेत त्व में गोरखालैंड राज्य बनाए जाने की मांग की। गोरखा नैशनल लिबेरशन फ्रंट ने गोरखा राज्य के लिए व्यापक आन्दोलन चलाए और अन्त में अगस्त, 1988 में एक समझौता हुआ। जिसके अन्तर्गत दार्जिलिंग पवर्तीय गोरखा परिषद् की मांग को स्वीकार कर लिया गया। दार्जलिंग पवर्तीय गोरखा परिषद् के चुनाव दिसम्बर, 1988 में हुए जिसमें गोरखा राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे को 28 सीटें प्राप्त हुई।

(ii) बोडो आन्दोलन :

1987 में असम मे बसे बोड़ो कबीले के लोगों ने 'बोड़ोलैंड' की मांग को लेकर 'आल बोडो स्टूडैंटस यूनियन' (All Bodo Students Union) के नेत त्व में आन्दोलन शुरू किया। आल बोडो स्टूडैंटस यूनियन ब्रह्मपुत्र नदी के उतरी किनारे पर बसे बाडो कबीलें के लोगों के लिए अलग राज्य की मांग कर रही है ताकि वे अपनी संस्क ति एवं भाषा की रक्षा कर सकें और अपना सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक विकास कर सकें। 15 अगस्त 1989 को अखिल बोडो छात्र संघ ने एक हजार घण्टे के असम बन्द का आन्दोलन शुरू किया। इस आन्दोलन में बोडो और गैरबोड़ो समुदायों में हिसंक घटनाएं हुई। 28 अगस्त, 1989 को नई दिल्ली में त्रिपक्षीय वार्ता हुई और बोडो आन्दोलनकारी बातचीत के लिए उचित वातावरण बनाने के उद्देश्य से अपना आन्दोलन स्थगित करने तथा हिसंक गतिविधियाँ रोकने पर सहमत हो गए। बोडोलैंड आन्दोलन, 20 फरवरी को आन्दोलन के नेताओं, केन्द्र और राज्य सरकार के बीच हुए एक समझौते के साथ ही समाप्त हो गया। समझौते के अनुसार असम राज्य के बोडो लोगों की आशाओं के पूरा करने और सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्क तिक विकास के लिए एक 40 सदस्यीय स्वापत्तशासी परिषद् बनाई जाऐगी। इस परिषद् के 35 सदस्य निर्वाचित होंगे और 5 सदस्यों को राज्यपाल मनोनीत करेगा। 19 मई 1993 को बोडोलैण्ड अन्तरिम परिषद् की स्थापना की गई। अन्तरिम परिषद् का गठन बोडो समझौते के पालन की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम हैं।

(iii) झारखण्ड आन्दोलन :

झारखण्ड मुक्ति मोर्चा, बिहार, पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा और मध्यप्रदेश के 21 जिलों को मिलाकर झारखण्ड राज्य की स्थापना की मांग कर रहा है। झारखण्ड मुक्ति मोर्चा ने पिछलें 4-5 वर्षो में कई बार जोरों से आन्दोलन चलाए। झारखण्ड नेताओं ने 15 सितम्बर 1992 को झारखण्ड बन और 18 से 30 सितम्बर तक बिहार में आर्थिक नाकेबन्दी का आह्वान किया। 15 मार्च 1993 को झारखण्ड बन्द किया गया और 16 मार्च से आर्थिक नाकेबन्दी को 20 अप्रैल

को प्रधानमंत्री नरसिम्हा राव ने समस्या के निदान हेतु द्विपक्षीय बैठक बुलाने के आश्वासन के बाद स्थागित कर दिया। वार्ता के कई दौर चले पर झारखण्ड समस्या का कोई हल नहीं निकला। 17 मार्च 1994 का अखिल झारखण्ड विद्यार्थी संघ व झारखण्ड पीपुलस पार्टी के आह्वान पर 48 घंटे के बन्द के दौरान कई जगहों पर हिसंक वारदातें भी हुई। 22 सितम्बर, 1994 को केन्द्र सरकार ने बिहार सरकार व झारखण्ड मुक्ति मोर्चा के साथ मिलकर एक समझौता किया, जिसके अर्न्तगत झारखण्ड के विकास के लिए एक स्वायत्तशाही विकास परिषद् की स्थापना की जाएगी। इस परिषद् में 100 सदस्य होंगे जिनमें से 90 सदस्य निर्वाचित और मनोनीत होंगे। परन्तु इन व्यवस्थाओ के बावजूद भी झारखण्ड आन्दोलन चलता रहा। अन्ततः केन्द्र सरकार ने झारखण्ड वालों की बात मानते हुए, नवम्बर 2000 में झारखण्ड नाम का एक नया राज्य बना दिया।

(iv) उत्तराचंल राज्य की मांग :

पिछले कुछ वर्षो से उत्तरप्रदेश में उत्तराचंल की मांग चल रही है। जनवरी, 1990 में भारतीय जनता पार्टी के महासचिव डॉ० मुरली मनोहर जोशी के नेत त्व में एक उत्तराचंल राज्य संघर्ष समिति का प्रतिनिधिमण्डल ग हमंत्री से मिला और उसने उत्तरप्रदेश के पहाड़ी क्षेत्रों को मिला कर उतराचंल राज्य की स्थापना की मांग की। दिसम्बर, 1993 में उत्तरप्रदेश के मुख्यमंत्री श्री मुलायम सिंह यादव ने भी उत्तरांचल राज्य की मांग का समर्थन किया। 1994 में उत्तराखंड आन्दोलन तीव्र गति से चला। 2 अक्टूबर, 1994 को जब उत्तराखंड के आन्दोलनकारी बसों में दिल्ली आ रहे थे तब मुजफफरपुर नगर में पुलिस ने उन पर हर तरह के अत्याचार किए। मई, 1998 में भारतीय जनता पार्टी की सरकार ने उत्तरांचल को राज्य बनने की घोषणा की। केन्द्र सरकार ने उत्तराचंल वासियों की मांग को मानते हुए नवम्बर, 2000 में उत्तरांचल नामक नया राज्य बना दिया।

3. पूर्ण राज्यत्व को प्राप्त करने की मांग :

क्षेत्रीयता की समस्या का तीसरा रूप पूर्ण राज्यत्व की मांग है। संविधान में 14 वां संशोधन 1962 में किया गया था, जिसके अनुसार हिमाचल प्रदेश, मणिपुर, त्रिपुरा, पाण्डिचेरी तथा गोवा में विधानमण्डल की स्थापना की गई। हिमाचल प्रदेश के लोग बड़ी देर से हिमाचल को पूर्ण राज्य बनाने की कर रहे थे, अतः 31 जुलाई 1970 को हिमाचल को पूर्ण राज्य घोषित कर दिया गया। 1970 में दिल्ली की मेट्रोपोलिटन परिषद (Metropolitan Councial) ने दिल्ली को पूर्ण राजय बनाए जाने की मांग की, परन्तु केन्द्रीय सरकार ने इस मांग का द ष्टिगत रखते हुए संविधान में 69 वें संशोधन अधिनियम द्वारा दिल्ली को राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र घोषित किया जिसमें एक विधान सभा की व्यवस्था की गई है। नवम्बर, 1993 में इसके चुनाव हुए और मदन लाल खुराना पहले मुख्यमंत्री बने। 1972 में मणिपुरा तथा त्रिपुरा भी पूर्ण राज्य बना दिए गए। दिसम्बर, 1986 में गोवा को पूर्ण राज्य का दर्जा देने के लिए आन्दोलन शुरू हुआ और संसद ने मई 1987 में गोवा को पूर्ण राज्य का दर्जा देने का बिल पास किया।

4. अन्तर्राज्यीय विवाद :

क्षेत्रीयता की समस्या का एक अन्य रूप राज्यों के बीच पारस्परिक विवाद हैं। इस तरह का पहला विवाद मैसूर और महाराष्ट्र में हुआ। पजांब और हरियाणा के बीच 1966 से विवाद चला आ रहा है। आज भी चण्डीगढ़ दोनों राज्यों में विवाद का मुख्य कारण बना हुआ है। असम-नागालैण्ड सीमा विवाद बहुत समय से चल रहा है और नवम्बर, 1987 में इस विवाद ने पुनः उग्र रूप धारण कर लिया और दोनों राज्यों में अनेक खूनी मुठभेठें हो चुकी हैं। नदियों के पानी के इस्तेमाल के लिए राज्यों में विवाद होते रहते हैं। नमर्दा नदी के पानी पर मध्यप्रदेश, राजस्थान, गुजरात और महाराष्ट्र में काफी समय तक विवाद चलता रहा और इसका हल मार्च, 1975 में हुआ। महाराष्ट्र, मैसूर और आन्ध्रप्रदेश में क ष्णा नदी के पानी के लिए काफी देर तक विवाद चलता रहा। पजांब और हरियाणा में पानी का बंटवारा विवाद का एक महत्वपूर्ण कारण है। कावेरी जल विवाद कर्नाटक और तमिलनाडु राज्यों में तनाव का मुख्य कारण है। 29 जुलाई, 1991 को केन्द्रीय श्रम मंत्री के० राममूर्ति ने कावेरी जल विवाद के मसल पर मन्त्रिमण्डल से त्याग-पत्र दे दिया। कावेरी जल विवाद का मामला अगस्त 1991 में उच्चतम न्यायालय के पास ले जाया गया। 22 नवम्बर, 1991 में अपने फैसले के अनुसार सर्वोच्य न्यायालय ने कर्नाटक सरकार का अध्यादेश असंवैधानिक घोषित कर दिया। जुलाई 1998 में अन्ना डी० एम० के० की नेता सुश्री जयललिता ने केन्द्र सरकार से आग्रह किया कि कावेरी जल विवाद को

शीघ्रता से निपटाया जाए।

5. राज्य के लोगों के हितों की रक्षा के लिए आन्दोलन :

कई बार क्षेत्रीय आन्दोलन राज्य के लोगों के हितों की रक्षा के लिए किए जाते हैं। असम आन्दोलन इस तरह का ही था। असम आन्दोलन 1979 से लेकर 1985 तक चला। यह आन्दोलन असम में विदेशियों की समस्या को लेकर चलाया गया, क्योंकि असमिया मूल के लोगों में यह आंशका घर कर चुकी थी कि वे अल्पसंख्यक बन जांएगे क्योंकि बंगला देश से आकर लाखों लोग असम में बसते जा रहे थे। इस आन्दोलन को छात्रों ने आल असम स्टूडैण्ट्स यूनियन नामक संगठन के तहत चलाया। आन्दोलनकारियों ने मांग की कि चुनाव करवाने से पहले विदेशियों की समस्या को हल किया जाए और विदेशियों के नाम मतदाता सूची से निकाल जाऐ। केन्द्र सरकार ने आन्दोलन कारियों के साथ कई बार बातचीत की, पर विवाद को लटकाए रखा। फरवरी, 1993 में असम में चुनाव करवाने का प्रयास किया गया जिसमें बहुत बड़ी हिंसक वारदातें हुई। दिसम्बर, 1984 के लोकसभा चुनाव असम में नहीं हुए। राजीव गांधी ने सत्ता में आने पर असम समस्या को हल करने के लिए प्रयास किए और अन्त में 15 अगस्त, 1985 को असम समझौता हुआ। दिसम्बर, 1985 में असम विधानसभा के चुनाव हुए। चुनाव लड़ने के लिए छात्रों और अन्य आन्दोलनकारियों ने असम गण परिषद् की स्थपना की। असम गण परिषद् को चुनाव में बहुमत प्राप्त हुआ और प्रफुल्ल कुमार मंहत मुख्यमंत्री बने। असम आन्दोलन इन्हीं के नेत त्व में चलाया गया था। असम गण परिषद् की सरकार समझौते को लागू करने के लिए वचनबद्ध रही। इस समझौते की मुख्य बातें हैं। "1966 से 1971 के बीच आए विदेशियों को पहचानना और उनके नाम मतदाता सूची से 10 वर्ष के लिए हटवाना तथा 1971 के बाद विदेशियों के बाहर निकालना।"

क्षेत्रीयतावाद को रोकने के उपाय

राष्ट्रीय जीवन के लिए क्षेत्रीयता कोई अच्छी चीज नहीं है। इस पर रोक लगाना ही उचित है इस सम्बन्ध में निम्नलिखित उपायों को सुझाया जा सकता है :

1. केन्द्रीय सरकार की नीति कुछ इस प्रकार की होनी चाहिए कि सभी उपसांस्क तिक क्षेत्रों (Sub-Cultural regious) का सन्तुलित आर्थिक विकास सम्भव हो जिससे कि विभिन्न क्षेत्रों के बीच तनाव कम से कम हो।
2. सभी क्षेत्रों के लोगों को समान आर्थिक सुविधाएँ प्रदान की जांए जिससे कि आवश्यक प्रतिस्पर्द्धा व ईर्ष्या की भावना न पनप सके।
3. भाषा सम्बन्धी झगड़ों का हल शीघ्र ही ढूंढ लिया जाए। इस सम्बन्ध में सबसे उचित हल यह है कि सभी क्षेत्रीय भाषाओं को समान मान्यतः प्रदान की जाए।
4. हिन्दी भाषा को किसी भी क्षेत्रीय समूह पर जबरदस्ती लादा न जाए। अपितु इस भाषा का प्रचार व विस्तार इस ढंग से किया जाए कि विभिन्न क्षेत्रीय समूह स्वतः हो इसे सम्पर्क भाषा (Link Language) के रूप में स्वीकार कर ले।
5. प्रचार के विभिन्न साधनो के माध्यम से विभिन्न क्षेत्रों के सांस्क तिक लक्षणों के विषय में लोगों के सामान्य ज्ञान को बढ़ाया जाए जिससे कि एक क्षेत्र के लोग दूसरे क्षेत्र के प्रति अधिक सहनशीलता की भावना को पनपा सकें।
6. केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में सभी क्षेत्रों के नेताओं का सन्तुलित प्रतिनिधित्व हो जिससे कि क्षेत्रीय पक्षपातपूर्ण नीतियों को खण्डन हो सके और केन्द्रीय सरकार के इरादों पर किसी को भी सन्देह न रहे।
7. जहाँ तक सम्भव व व्यावहारिक हो उप-सांस्क तिक क्षेत्रों की उचित आकांक्षाओं की पूर्ति की जाए यदि उनका कोई बुरा प्रभाव राष्ट्रीय जीवन व संगठन पर न पड़ता हो।
8. भारतीय संघ के राज्यों की सकीर्ण मानसिकता को दूर करने के लिए केन्द्र एवं राज्य सम्बन्धों को इस प्रकार बनाया जाना चाहिए कि उनमें असन्तोष न पैदा हो, वे मजबूत केन्द्र की आवश्यकता को समझे और केन्द्र को भी उनके सहयोग की अनिवार्यता की अनुभूति हो। इन दिनों केन्द्र राज्य सम्बन्ध भी चर्चा का विषय बना हुआ है। इस सम्बन्ध में सरकारिया आयोग का भी गठन किया गया था जिसने सन् 1987 में अपनी रिर्पोट प्रस्तुत की है। इस आयोग की सिफारिशों के माध्यम से केन्द्र राज्य सम्बन्धों का पुननिर्धारण एवं अन्य सम्बन्धों के परिप्रेक्ष्य में एक सन्तुलित नीति

निर्धारित करने की ओर होना चाहिए।

क्षेत्रीयवाद : आलोचनात्मक मूल्यांकन
(Regionalism : Critical Appriaisal)

स्वतंत्रता के बाद भारतीय जन मानस में नवीन आकांक्षाए उठने लगी। राज्य के नीति निर्देशक तत्व, पचवर्षीय योजनाएं अादि कार्यक्रम आदर्श थे, लेकिन व्यवहार में गरीबी और आर्थिक विषमता ही बढती गयी। इस स्थिति का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रीय एकता तथा हितों की अपेक्षा क्षेत्रीयतावाद को बढ़ावा मिलने लगा। असन्तोष के इस वातावरण में विभिन्न वर्गो द्वारा शक्ति के लिए संघर्ष की शुरूआत हुई। ऐसे नवीन राजनीतिक दलों का उदय होने लगा, जो कि क्षेत्रीय हितों के लेकर शक्ति अर्जित करने लगे।

क्षेत्रीयता के आधार पर राज्य केन्द्र से सौदेबाजी करने लगे और अपनी जड़ो को मजबूत करने के लिए राजनीतिक दल प्रादेशिकता की भावना का प्रचार करने लगे प्रादेशिकता के आधार पर चुनावों में उम्मीदवार का मनोनयन किया जाने लगा। सरकार के गठन में क्षेत्रीयता को मानदण्ड बनाया जाने लगा।

क्षेत्रीयतावाद का भारतीय राजनीति की शैली पर काफी प्रभाव पड़ा तथा आन्दोलनात्मक राजनीति को बढ़ावा मिला। क्षेत्रीय आन्दोलनों को चलाने के लिए आर्थिक विषमता, धर्म, जाति, और भाषा का सहारा लिया गया। यथार्थ में, क्षेत्रीयता की समस्या आज भारत की राष्ट्रीय एकता के मार्ग मे कण्टक बन गयी है। संघर्षात्मक प्रादेशिकता की भावना को समाप्त कर उदार सहयोगी प्रादेशिकता की भावना के प्रसार की आवश्यकता हैं।

डॉ० रशीदउदीन खां ने क्षेत्रीयतावाद के सकारात्मक पक्ष की चर्चा करते हुए लिखा है कि यह धारणा गलत साबित हुई कि क्षेत्रीयतावाद के कारण भारतीय संघ छिन्न-भिन्न हो जाएगा अपितु यह मत अधिक सही साबित हुआ कि क्षेत्रीयतावाद या उप-राष्ट्रवाद में सह-अस्तित्व सम्भव है। वस्तुतः भारत में क्षेत्रवाद सामान्यतः प थकतावादी नहीं है। क्षेत्रवाद का लक्ष्य केवल क्षेत्र अथवा समुदाय विशेष के लिए अधिक सुविधांए प्राप्त करना है। इसका अनिवार्य अर्थ यह नहीं है कि वह अन्य क्षेत्रों के विकास अथवा राष्ट्र की अखण्डता के विरूद्ध है, बल्कि एक सीमा तक इस प्रकासर के क्षेत्रवाद ने भारत के विकास को गति प्रदान की है। अनेक ऐसी योजनाएं और कार्यक्रम है जो शायद धीरे पड़े हुए थे, क्षेत्रीय दबावों के कारण तीव्र हुए है। साथ ही क्षेत्रवादी नेत त्व ने सत्ता में रहकर अपने दावों को उचित साबित करने के लिए अपने राज्यों के विकास के लिए विशेष प्रयत्न किए हैं। इन राज्यों के विकास से सारे देश को भी लाभ होता है। तमिलनाडु, पजांब और हरियाणा में विकास की गति इसका प्रमाण हैं। निस्संदेह खालिस्तान समय-समय पर कश्मीर तथा उत्तरी-पूर्वी सीमान्त राज्यों में कुछ आन्दोलन प थकतावादी भी हैं, परन्तु इनका समर्थन और प्रभाव अधिक नहीं हैं।

कुल मिलकर यह कहा जा सकता है कि भारत जैसे विशाल, विविधतापूर्ण और लोकतान्त्रिक देश में क्षेत्रवाद और उपक्षेत्रवाद स्वाभाविक अवधारणाएं है। पूंजीवाद व्यवस्था पर आधारित विकास की प्रक्रिया इसके विकास को संगठित और सक्रिय रूप प्रदान करती है। यदि स्त्रोतों के बंटवारे विकास की गति और विभिन्न समुदायों की आंकाक्षाओं को कुछ सीमा तक नियन्त्रित किया जाए तो क्षेत्रवाद हानिकारक न होकर एक सामान्य संघीय प्रक्रिया तक ही सीमित रहता है और विभिन्न अल्पसंख्यकों और क्षेत्रीय वर्गो को राजनीति में भागीदारी को संतुष्टि दिलवाता है।

अध्याय-32
राष्ट्र-निमार्ण की समस्या
(Problem of Nation-Building)

भारत के सामने आज कई गम्भीर समस्यांए है जोकि किसी बाहरी खतरे से कम नहीं हैं। 1975 में तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने कहा था, "आज आवश्यकता इस बात की है कि भारत को यह सब कुछ करना चाहिए जो एक राष्ट्र युद्ध के समय करता है, अपने सभी स्त्रोतों का प्रयोग किया जाए और सभी मतभेदों को भुलाकर दुश्मन को हराने का प्रयास किया जाए। देश में अशान्ति, आर्थिक स्थिति में गिरावट, कीमतों में व द्धि, सत्तारूढ़ कांग्रेस का 'गरीबी हटाने' में असफल होना, बिहार, गुजरात तथा अन्य क्षेत्रों में गड़बड़ी का होना आदि वाद-विवाद के महत्वपूर्ण विषय बने हुए हैं। 15 अगस्त 1980 को लालकिले से भाषण देते हुए श्रीमति इन्दिरा गांधी ने भाषावाद, क्षेत्रवाद, जातिवाद और सम्प्रदायवाद के खतरों की चेतावनी दी और इस बात पर जोर दिया कि इनकों समाप्त करके ही राष्ट्र आगे बढ़ सकता है। चालीसवें स्वतंत्रता दिवस की पूर्व संध्या पर राष्ट्र के नाम अपने सन्देश में राष्ट्रपति ने कहा कि साम्प्रदायिकता, जातिवाद, क्षेत्रवाद और संकीर्णता की विषैली ताकते हम पर हावी होने की कोशिश कर रही है। 15 अगस्त 1990 को स्वतंत्रता दिवस के अवसर पर लालकिले से भाषण देते हुए प्रधानमंत्री वी० पी० सिंह ने भी साम्प्रदायिकता, जातिवचाद क्षेत्रवाद और आतंकवाद की समस्याओं की और भारतीयों का ध्यान दिलाया। ये समस्यांए राष्ट्र-निमार्ण में रोड़ा अटकाती हैं। ये समस्यांए मुख्यतः निम्नलिखित हैं :

1. राजनीति में धन-शक्ति :
(Money Power in Politics) :

हमारे राजनीतिक विकास को सबसे महत्वपूर्ण कीड़ा यह लग गया है कि चुनावों में और अन्य राजनीतिक कार्यो में धन का प्रयोग बहुत अधिक किया जाने लगा है। निर्वाचन-खर्च से सम्बन्धित कानून को मानने की अपेक्षा उल्लंघन करके उसका अधिक पालन किया जाता है। यद्यपि चुनाव के दिन मतदाताओं को परिवहन की सुविधांए प्रदान करना, भ्रष्टाचार हैं, फिर भी सभी राजनीतिक दल और आजाद उम्मीदवार मतदाताओं को यह सुविधा प्रदान करके भ्रष्टाार को फैलाते हैं।

2. साम्प्रदायिकता
(Communalism) :

साम्प्रदायिक भावनांए राष्ट्र-निमार्ण के रास्ते में बहुत बड़ी बाधा है। कई बार साम्प्रदायिक दंगे फसाद उग्र रूप धारण कर लेते हैं। जैसा कि 1980 में मुरादाबाद, अलीगढ़, मेरठ, दिल्ली, कश्मीर इत्यादि स्थानों में हुआ। जुलाई 1986 में आतंरिक सुरक्षा राज्यमंत्री पी० चिदम्बरम ने लोकसभा में स्वीकार किया कि पिछलें पांच वर्षो के दौरान साम्प्रदायिक स्थिति में और बिगाड़ भाषा हैं। 6 दिसम्बर 1992 को अयोध्या में विवादास्पद ढांचा गिराए जाने पर एक बार फिर साम्प्रदायिक दंगे फैल गए और सारा देश तनावग्रस्त हो गया।

3. बहुमत काल्पनिक होना
(Majority is merely a Myth) :

यह आम कहा जाता है कि बहुमत दल सभी निर्णय साधारण बहुमत से लेते हैं, परन्तु वास्ताविकता यह है कि बहुमत दल के नेता सभी निर्णय पहले स ही ले लेते हैं और अन्य सदस्यों पर इन निर्णयों को थोप दिया जाता हैं। भारत में संसदीय शासन बहुमत का शासन न होकर अल्पमतों का शासन हैं।

4. केन्द्र-राज्य तनाव
(Centre-state conflict) :

भारतीय संविधान के अन्तर्गत संघात्मक शासन प्रणाली की व्यवस्था की गई हैं। नेहरू और शास्त्री के काल में केन्द्र और राज्यों में अच्छे सम्बन्ध बने रहे क्योंकि समस्त भारत में कांग्रेस पार्टी का ही शासन था। 1967 के आम-चुनावों के बाद कई राज्यों में गैर-कांग्रेसी सरकारों की स्थापना हो गई जिससे केन्द्र और राज्यों के सम्बन्धों की समस्या उत्पन्न हो गई। गैर-कांग्रेसी सरकारों ने केन्द्र सरकार के विरूद्ध शिकायतें करनी शुरू कर दी और अधिक अधिकारो की मांग करनी आवश्य कर दी। 1967 में केरल के मुख्यमंत्री नम्बूदरीपाद ने केन्द्र से यह शिकायत थी कि उन्हे यदि पर्याप्त मात्रा में खाद्य वस्तुएं न मिली तो वह चीन से इसकी व्यवस्था करने के लिए मजबूर हो जांएगे। मार्च 1967 मे पश्चमी बंगाल के संयुक्त मोर्चे की सरकार और केन्द्र के सम्बन्धों में, राज्यपाल धर्मवीर के विधानमण्डल में दिए गए भाषण के कारण तनावपूर्ण स्थिति पैदा हो गई। 28 जून 1969 को पजांब के मुख्यमंत्री गुरनाम सिंह ने केन्द्र की आलोचना की। उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री सी० बी० गुप्ता ने केन्द्र के विरूद्ध यह शिकायत थी कि केन्द्र उनकी आवश्यकताओं को पुरा करने में सहयोग नहीं दे रहा है।

1971 के चुनावों के बाद केन्द्र-राज्यों के सम्बन्धों की स्थिति में परिवर्तन आया और केन्द्र-राज्यों के सम्बन्धों की स्थिति में परिवर्तन आया और केन्द्र तथा अधिकांश राज्यों में कांग्रेस की सरकारें स्थापित हुई। दिसम्बर 1973 में अपने पास केवल चार विभाग-सुरक्षा, विदेश मुद्रा एवं संचार रखने चाहिए और शेष सभी विषय राज्यों के अधीन होने चाहिए। मार्च 1977 में केन्द्र में जनता पार्टी की सरकार बनी। जनता सरकार ने अप्रैल 1977 में 9 राज्यों की विधानसभाओं को भंग करके चुनाव करवाए। फरवरी 1978 में पश्चिमी बंगाल के मुख्यमंत्री ज्योति बसु ने राज्यों को स्वायत्तता देने के प्रश्न पर राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाने की मांग की लेकिन तत्कालीन प्रधानमंत्री देसाई ने इस मांग को अस्वीकार कर दिया। 1980 में काग्रेस (इ) की सरकार बनी। श्रीमति गांधी के पुनः सत्ता में आने पर केन्द्र-राज्यों के सम्बन्धों में थोड़ा सुधार हुआ। पश्चिमी बंगाल की मार्क्सवादी पार्टी, तमिलनाडु की डी० एम० के० पार्टी तथा पजांब के अकाली दल पिछले कुछ वर्षो से राज्यों को अधिक अधिकार देने की मांग करते आ रहे हैं और आज भी क्ूर रदे है। पिछले लगभग एक दशक से केन्द्र में किसी भी एक दल के स्पष्ट बहुमत नहीं मिल पा रहा हैं। ऐसी स्थिति में क्षेत्रीय दलों के सहयोग से सरकार का निर्माण किया जा रहा है। इससे क्षेत्रीय दलों ने इस स्थिति का लाभ उठाते हुए राज्यों के लिए अधिक से अधिक स्वायत्तता की मांग करनी शुरू कर दी हैं। इसके परिणामस्वरूप केन्द्र पर निरन्तर दबाव बनता जा रहा हैं।

5. दल-बदल
(Defection) :

भारत में राष्ट्र-निर्माण तथा राजनीतिक विकास में एक महत्वपूर्ण बाधा दल-बदल हैं। इसने भारतीय राजनीति को इतना गन्दा कर दिया है कि पढ़े-लिखे व्यक्ति तो दूर, साधारण जनता भी प्रजातंत्र के भविष्य के बारे में शंकित हो उठी है क्योंकि दल ने राजनीति और शासन हो उठी है क्योंकि दल ने राजनीति और शासन में अस्थिरता ला दी हैं। 1985 में संविधान में 52 वां संशोधन किया गया ताकि दल बदल की बुराई को समाप्त किया जा सके। इसके कारण दल बदल करने वाले सदस्य की संसद या राज्य विधानमण्डल की सदस्यता समाप्त हो जाती है। परन्तु दल-बदल की बुराई पूरी तरह समाप्त नही हुई है। खुदरा दल-बदल को रोकने थी अभी भी आवश्यकता है।

6. एक दल का प्रभुत्व होना
(Single Party Dominance) :

यह आम कहा जाता है कि एक दल का प्रभुत्व और विरोधी दलों का बंटे होना स्वस्थ प्रजातंत्र के लिए हानिकारक है। 1950 से लेकर 1977 तक केन्द्र में कांग्रेंस की सरकार चली। 1967 के आम चुनावों के बाद कई राज्यों में गैर-कांगेसी सरकारों की स्थापना हो गई थी परन्तु वे दल-बदल तथा अन्य कारणों से अधिक समय तक न चल सकी। मार्च 1977 में पहली बार केन्द्र में गैर-काग्रेसी अर्थात् जनता पार्टी की सरकार बनी जोकि अधिक समय तक न चल सकी। जनवरी 1980 में काग्रेस (इ) की श्रीमति इन्दिरा गांधी के नेत त्व में सरकार बनी। 1980 से लेकर 1989

तक कांग्रेस का प्रभुत्व रहा। इस प्रकार हमारे देश में अधिकांश समय में काग्रेस का प्रभुत्व रहा है।

7. बेरोजगारी की समस्या
(Problem of Uemployment) :

राष्ट्र-निर्माण के रास्ते में एक अन्य महत्वपूर्ण समस्या बेरोजगारी की समस्या है। बेरोजगारी की स्थिति मे व्यक्ति काम तो करना चाहता है, परन्तु उसे काम मिलता नहीं। आजकल भारत में अनपढ़ व्यक्तियों का तो कहना ही क्या, पढ़े-लिखे व्यक्तियों को भी रोजगार नहीं मिलता। जुलाई 1982 तक देश के रोजगार कार्यालयों के चालू रजिस्टरों पर मैट्रिक से अधिक शिक्षा प्राप्त और अन्य नौकरी चाहने वालों की कुल संख्या एक करोड़ 76 लाख 60 हजार थी परन्तु 1996 में पढ़े लिखें बेरोजगारों की संख्या 3 करोड़ से अधिक थी। बेरोजगारी कई प्रकार की आर्थिक एवं राजनीतिक समस्यांए उत्पन्न करती है। भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति श्री वी० पी० गिरि ने कहा था कि बेरोजगारी ने हमारे नौजवानों को नकसलवादी बना दिया है। बेकार व्यक्ति लोकतंत्र के प्रति उदासीन रहता है। वह चुनाव में दिलचस्पी नहीं लेता और वोट को भी बेच डालता है। बेरोजगारी से बेईमानी, चोरी, ठगी तथा भ्रष्टाचार में बढ़ोतरी हुई है। बेकार व्यक्ति नौकरी पाने के लिए अनैतिक कार्यो को भी करने के लिए तैयार हो जाता है। राष्ट्र के निर्माण के लिए बेकारी को जन्दी समाप्त करना अति आवश्यक है।

8. जनसंख्या में व द्धि
(Over Population) :

राष्ट्र निर्माण एवं आर्थिक विकास के रास्ते में एक अन्य रूकावट बढ़ती हुई जनंसख्या भी है। भारत में जनसंख्या इतनी तेजी से बढ़ रही है कि क षि और उद्योगों में पर्याप्त मात्रा में उन्नति होने के बावजूद भारत की अधिकांश जनता गरीब है। 1966 में भारत की जनसंख्या 50 करोड़ थी जो 1971 में 55 करोड़ हो गई और आजकल 100 करोड़ से अधिक है। यदि जनसंख्या की व द्धि इसी प्रकार होती रही तो भारत आर्थिक द ष्टि से कभी विकास नहीं कर पाएगा।

9. संगठित विरोधी दल का अभाव पाया जाना
(Lack of organised opposition) :

निर्माण और राजनीतिक विकास के लिए संगठित विरोधी दल का होना अनिवार्य है। परन्तु भारत में इसका अभाव रहा है। ससंदीय लोकतंत्र की सफलता के लिए संगठित विरोधी दल अनिवार्य है। विरोधी दल सत्तारूढ़ दल को अनुचित कार्य करने से रोकता है और आवश्यकता पड़ने पर सरकार को सम्भालता है। 24 जुलाई 1982 को राष्ट्रपति संजीव रेहडी ने राष्ट्र के नाम अपने विदाई सन्देश में विपक्ष की मौजूदा स्थिति पर असंतोष व्यक्त करते हुए सभी राजनीतिज्ञों का आह्वान किया कि वे स्थिरता और लोकतंत्र की मजबूती के लिए जिम्मेदार जागरूक और प्रभावी विपक्ष का निर्माझा करें। उन्होंने कहा कि मजबूत विपक्ष न होने पर सत्तारूढ दल में मतभेद और विभाजन होने की स्थिति में देश की राजनीतिक प्रणाली में आस्थिरता आ जाएगी। सितम्बर-अक्टूबर 1999 के 13 वीं लोकसभा के चुनावों के बाद भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को विराधी दल के रूप में मान्यता दी गई।

10. गरीबी की समस्या
(Problem of Poverty) :

राष्ट्र के निर्माण में एक अन्य बाधा गरीबी है स्वतंत्रता के 55 वर्षो के बाद भी 20 प्रतिशत जनसंख्या गरीबी रेखा के नीचे जीवन व्यतीत कर रही है। गरीबी कई बुराइयों की जड़ है। गरीब नागरिक को पेट भर भोजन न मिल सकने के कारण उसका शारिरीक और मानसिक विकास नहीं हो सकता । वह सदा अपना पेट भरने की चिन्ता में लगा रहेगा और उसके पास समाज और देश की समस्याओं पर विचार करने का न तो समय होता है और न ही इच्छा। गरीब नागरिक अपनी वोट को बेचने के लिए तैयार हो जाता है। प्रत्येक राजनीतिक दल भारतीयों की गरीबी का राजनीतिक लाभ उठाना चाहता है। चुनाव के समय सभी राजनीतिक दल गरीबी हटाने का वायदा करते हैं ताकि गरीबों की वोट प्राप्त की जा सकें लेकिन बाद में सब भूल जाते हैं। गरीबी ने हिसात्मक गतिविधियों को जन्म दिया है। अतः यदि हम राष्ट्र का निर्माण करना चाहते है तो गरीबों को दूर करना होगा।

अध्याय-33
राष्ट्रीय एकीकरण
(National Integration)

किसी भी राज्य की राष्ट्रीय अखण्डता तथा एकता उसके लिए सर्वोपरि होती है। कोई भी राज्य यह सहन नहीं कर सकता कि उसकी अखण्डता का विनाश हो। राष्ट्रीय अखण्डता एकीकरण पर निर्भर करती है। राष्ट्रीय एकीकरण राज्य की प्रथम आवश्यकता है। राज्य के विकास के लिए यह आवश्यक है कि राज्य के अन्दर रहने वाले विभिन्न लोगों में एकता की भावना हो और यही भावना राष्ट्रीय एकीकरण का सार है। राष्ट्रीय एकीकरण की भावना द्वारा विभिन्न धर्मो, जातियों व भाषाओं के लोगों में परस्पर मेलजोल बढ़ा कर एकता का विकास किया जाना है।

प्रो० माइनर वीनर (Myron Weiner) के अनुसारः राष्ट्रीय एकीकरण का अभिप्रायः उन विघटनकारी आन्दोलनों पर निगरानी रखना है जो राष्ट्र को खण्डित कर सकते है और सम्पूर्ण समाज में ऐसी अभिव त्तियों का होना है जो संकीर्ण हितों की उपेक्षा राष्ट्रीय और सार्वजनिक हितों को प्रथामिकता देती है।

एच०ए० गन्नी (H.A. Gani) के अनुसार, राष्ट्रीय एकीकरण एक ऐसी, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक और शैक्षणिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा लोगों के दिलों में एकता, द ढ़ता, सम्बद्धता की भावना विकसित होती है और उनमें सामान्य नागरिकता की भावना अथवा राष्ट्र के प्रति वफादारी की भावना का विकास होता है।

भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति डा० राधाक ष्णन के अनुसार, "राष्ट्रीय एकीकरण एक घर नहीं है जो चूने और ईटों से बनाया जा सकता है। यह एक औद्योगिक योजना भी नहीं है जिस पर विशेषज्ञों द्वारा विचार किया जा सकता है और रचनात्मक रूप दिया जा सकता है। इसके विपरीत एकीकरण एक ऐसा विचार है जिसका विकास लोगों के दिलों में होता है। यह एक चेतना है जिसने जनसाधारण को जाग त करना है।

अतः राष्ट्रीय एकीकरण उस भावनात्मक तथा विचारात्मक एकता का नाम हैं जो सभी भारतवासियों को प्रान्त, भाषा, जाति, मजहब, क्षेत्र आदि की सकीर्णताओं से ऊपर उठकर उन्हें एक सूत्र से बांधती है और उन्हें इस राष्ट्र की सनातन परम्परा के अनुसार विविधता में एकता का साक्षात्कार कराती है।

भारत में राष्ट्रीय एकीकरण के आयाम
(Dimensions or Aspects of National Integration in India)

राष्ट्रीय एकीकरण एक व्यापक अवधारणा है जिसके कई आयाम (पक्ष) हैं। इसका विवरण निम्नलिखित हैः

(1) राजनीतिक आयाम
(Poltical Dimension)

राष्ट्रीय एकीकरण का राजनीतिक आयाम देश के क्षेत्रीय संगठन से सम्बन्धित है। इसके लिए राज्य-निर्माण (State building) का होना अनिवार्य है। सन् 1956 में भारतीय संसद द्वारा राज्य पुर्नगठन अधिनियम (State Reorganisation Act, 1956) पास किया गया जिसके अनुसार भाषा के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन किया गया। उसके बाद भी भाषा के आधार पर कई नए राज्यों का गठन किया गया जिसके परिणामस्वरूप राज्यों की संख्या 25 हो गई है। कई विद्वानों द्वारा भाषा के आधार पर राज्यों के इस गठन को दोषपूर्ण माना जाता है क्योकि विशुद्ध भाषा के आधार पर राज्यों का गठन व्यावहारिक रूप में असम्भव है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक राज्य में कई भाषाएं बोलने वाले लोग रहते है। यही कारण है कि आज भी इस आधार पर भारत के कई भागों पर नए राज्यों के गठन की मांग जोर पकड़ रही है। राष्ट्रीय एकीकरण को प्राप्त करने

के लिए यह आवश्यक है कि देश के क्षेत्रीय संगठन का कार्य उचित आधारों पर एक बार ही कर दिया जाए। ऐसी मांगे राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में बाधा बनती है।

(2) सामाजिक आयाम (Social Dimension)

राष्ट्रीय एकीकरण के लिए सामाजिक एकता तथा सामाजिक एकीकरण को होना आवश्यक है। यद्यपि भारतीय संविधान द्वारा छुआछूतत को समाप्त कर दिया है, फिर भी समाज में जाति-पाति की इस समस्या का पूर्ण रूप से अन्त नहीं हुआ है। आज भी अनुसूचित जातियों के लोगों के साथ बहुत ही अपमानजनक व्यवहार किया जाता है। भारत के उतरप्रदेश, बिहार, हरियाणा, राजस्थान आदि राज्यों में जातिवाद आज भी बड़ी मात्रा में मौजुद है। इसके अतिरिक्त भाषा तथा धर्म के आधार पर भारतीय लोगों में भेदभाव बना हुआ है। जब तक इन सीमाओं को नष्ट नहीं कर दिया जाता भारत में राष्ट्रीय एकीकरण की समस्या बनी रहेगी।

(3) आर्थिक आयाम (Economic Dimension) :

भारत की जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग निर्धनता तथा मुखमरी का शिकार है, जबकि कई लोग विलासिता का जीवन व्यतीत करते हैं। इसके अतिरिक्त देश के कुछ भाग अन्य भागों की अपेक्षा बहुत ही अविकसित तथा पिछड़े हुए है। भारत में विभिन्न क्षेत्रों का असन्तुलित आर्थिक विकास भी राष्ट्रीय एकीकरण के लिए बहुत बड़ी बाधा है।

(4) सास्कं तिक आयाम (Cultural Dimension) :

सभी लोगों को अपनी संस्क ति से घनिष्ठ लगाव होता है और यह उन्हें राष्ट्रीय मुख्य धारा (National Main stream) से दूर रखने का एक कारण बनता है। लोग अपनी संस्क ति की अलग पहचान बनाए रखना चाहते है और इसके कारण कई बार उग्रवादी और आतंकवादी आन्दोलन भी किए जाते हैं। उदाहरण के तोर पर, सन् 1980 के दशक में पजांब में उग्रवाद के फैलने का एक मुख्य कारण सिक्खों की अपनी अलग पहचान (Separate Indentity) को बनाए रखना था। यदि देश में खण्डित संस्क ति मौजुद है तो वह राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में बाधा बन सकती है।

(5) मनोवैज्ञानिक आयाम (Psycholigical Dimension) :

डॉ० राधाक ष्णन ने एक बार कहा था, "राष्ट्रीय एकीकरण कोई मकान नहीं है जिसे ईटों और गारे से बनाया जा सकता है। यह कोई ओद्योगिक योजना भी नही है जिसे विशेषज्ञों द्वारा विचार और लागू किया जा सकता है। इसके विपरीत एकीकरण एक विचार है जो अवश्य ही लोगों के मन में सभा जाना चाहिए। यह एक चेतना है जिसे बड़े पैमाने पर लोगों को अवश्य जाग्रत करना है। " इसका अर्थ यह है कि राष्ट्रीय एकीकरण एक विचार है जिसे व्यावहारिक रूप तभी दिया जा सकता है यदि लोगों ने अपने मन में इस विचार को ग्रहण कर लिया हो। देश के विभिन्न भागों में रहने वाले लोगों में इस प्रकार की मनोवैज्ञानिक भावना पैदा किए बिना राष्ट्रीय एकीकरण के लक्ष्य को प्राप्त करना बहुत कठिन है।

(6) सामान्य उद्देश्य आयाम (Common Purpose Dimension) :

माईरन वीनर ने लिखा है कि किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए लोगों का इक्कठा होना राष्ट्रीय एकीकरण का आधार बनता है। परन्तु लोगों में इतनी योग्यता तथा क्षमता होनी चाहिए कि वे ऐसे उद्देश्य के बारे में जो उनके लिए आवश्यक हो, जन भावनाओं को प्रेरित कर सकें।

इस प्रकार हम देखते है कि राष्ट्रीय एकीकरण के अनेक आयाम (पक्ष) है और इसके प्रत्येक पक्ष का उचित हल ही इसकी प्राप्ति को सम्भव बना सकता है।

राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में आने वाली बाधांए
(Hindrances in the way of National Integration)

भारत के राष्ट्रीय एकीकरण की समस्या अथवा उसके मार्ग में उपस्थित बाधक तत्वों का विचार करते समय अभी तक अपने देश के बुद्धिजीवियों, राजनीतिक दलों और उनके नेताओं ने पश्चिम की भौतिकवादी जीवन प्रणाली द्वारा विकसित किए गए पैमानों के आधार पर ही विचार किया है तथा उनके द्वारा बताए गए उपायों का सहारा लिया गया है लेकिन उससे राष्ट्रीय एकीकरण की समस्या हल होने के स्थान पर और भी अधिक जटिल होती चली गई है। उदाहरण के लिए,सन् 1976 में पारित 42 वें सविधान संशोधन की प्रस्तावना में पथ-निरपेक्षता (Secularism) का शब्द शामिल करते समय यह आशा की गई कि इससे साम्प्रदायिकता पर पूरी तरह नियंत्रण पाने में सफलता मिल सकेगी। लेकिन सन् 1976 में आज तक यह घटना चक्र यही बता रहा है कि साम्प्रदायिकता का राक्षस और अधिक सशक्त हो गया है। अतः हमें राष्ट्रीय एकीकरण का हल भारतीय सदर्भ में खोजना पड़ेगा क्योंकि रोग का निदान करते समय रोगों की प्रक ति को भी समझना अत्यन्त आवश्यक होता है। इस द ष्टि से नीचे दिए गए कारण बहुत अधिक विचारणीय हैं।

जातिवाद
(Casteism) :

जातिवाद की समस्या ने राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में बाधा पहुँचाई है। श्री जयप्रकाश नारायण ने एक बार कहा था। "भारत में जाति सबसे महत्वपूर्ण राजनीतिक दल है।" जातिय संगठनों ने भारत की राजनीति में वही हिस्सा लिया है जो पश्चिमी देशों मे विभिन्न हितों व वर्गो ने लिया है। चुनाव के समय उम्मीदवारों का चयन जाति के आधार पर किया जाता है और चुनाव प्रचार में जाति के नाम पर वोटें मांगी जाती हैं। प्रशासन में भी जातियता का समावेश हो गया है।

भाषायी उन्माद
(Liinguistic Fanaticism) :

पश्चिमी विचारधारा पर आधारित इस घातक मानसिक सोच ने राजनीतिक दलों के नेताओं को इतना अधिक भ्रमित कर रखा है कि वे भारत की सभी भाषाओं में मौजूद भावनात्मक और सारंक तिक एकता के सूत्र को पहचानकर विभिन्न भाषायी लोगों को लड़ाते रहते हैं। इसी के फलस्वरूप राष्ट्रीयता की भावना के लिए अत्यन्त घातक अंग्रेजी का बोलबाला आज भी देश में बना हुआ है और भारतीय भाषाऐं अपना उचित स्थान प्राप्त नहीं कर सकी हैं।

भारत एक बहुभाषी राज्य सदैव से ही रहा है। 1927 में जो भाषा सर्वेक्षण प्रकाशित किया गया था उसके अनुसार भारत में 179 भाषाएं, 544 बोलियां तथा कुल मिलाकर 1652 मात -भाषांए थी। 1961 की जनगणना के अनुसार भारत में 1018 भाषांए बोली जाती हैं। जिनमें 26 मुख्य हैं। संविधान की आठवीं अनुसूची में 18 भाषाओं का वर्णन किया गया हैं।

क्षेत्रवाद
(Regionalism) :

भारत की सांस्क तिक एकता को न पहचानने के कारण जनता में जो अज्ञान फैल हुआ है, राजनीतिज्ञ उससे लाभ उठाने के उद्देश्य से राजनीतिक क्षेत्रीयता की संकुचित भावनांए फैलाते हैं। अनेक राजनीतिक दल भारत को एक राष्ट्र के स्थान पर बहु-राष्ट्रीय राज्य का झूठा प्रचार करके क्षेत्रवाद को ओर भी अधिक पुष्ट करते हैं। कार्यकुशला के स्थान पर धरती के सपूत (Sons of the soil) का नारा इसी की उपज है तथा देश में अनेक क्षेत्रीय दल खड़े हो गए हैं। वे सभी राजनीतिक स्वार्थो के कारण राष्ट्रीय ऐकीकरण के मार्ग में बाधा बनते हैं।

निरक्षरता
(Illiteracy) :

भारत की अधिंकाश जनता अशिक्षित है, जिस कारण स्वार्थी नेता स्वार्थो की पूर्ति के लिए आम जनता को आसानी से मनचाहे रास्ते पर ले जाते है और अनपढ़ जनता स्वार्थो नेताओं की बातों में आकर आन्दोलन के पथ पर चल पड़ती हैं। कई बार आन्दोलनकारियों को यह भी पता नहीं होता कि उनके आन्दोलन का लक्ष्य क्या है और वे किस ओर जा रहे हैं। स्वार्थी नेता धर्म, जाति, भाषा, क्षेत्र आदि के नाम पर सीधे-सादे लोगों की भावनाओं से खिलवाड़ करते हैं और अपना उल्लू सीधा करते हैं।

असन्तुलित विकास
(Imbalanced growth) :

भारत जैसे विशाल देश में सारसता पैदा करने के लिए उसके सभी भागों और इलाकों का सन्तुलित विकास का लाभ समाज के प्रत्येक वर्ग और व्यक्ति को मिलना चाहिए। लेकिन सन् 1947 से आज तक यह सम्भव नही हुआ है। इससे राष्ट्रीय एकीकरण की समस्या और अधिक जटिल हुई है।

साम्प्रदायिकता
(Communalism) :

भारत एक बहुधर्मी राज्य है। यहाँ अनेक धर्मो के लोग रहते है। भारतीय संविधान में यद्यपि धर्म-निरपेक्ष शासन-प्रणाली की व्यवस्था की है, परन्तु भारत में साम्प्रदायिकता की समस्या ने दिन प्रतिदिन अधिक गम्भीर रूप धारण किया है। वर्तमान समय के लोगों को अपने राष्ट्र की अपेक्षा अपने धर्म के साथ अधिक प्रेम हैं। लोग धर्म के आधार पर साम्प्रदायिक समूहों में विभाजित किए जा रहे हैं तथा धर्म के नाम पर अनेक साम्प्रदायिक विवाद पैदा होते रहते हैं। विभिन्न धर्मो के लोगों में साम्प्रदायिक सद्भावना की अपेक्षा घ णा तथा अविश्वास की भावना बढ़ी है। यह साम्प्रदायिकता ही 1947 में भारत के दो भागों में विभाजन का कारण बनी थी। 6 दिसम्बर, 1992 को अयोध्या में कार सेवको ने विवादित ढांचे बाबरी मस्जिद को तोड़ दिया जिस पर देश के विभिन्न भागों में भीषण साम्प्रदायिक दंगे-फसाद हुए। इन दंगों ने 1947 के साम्प्रदायिक दंगों की याद ताजा कर दी। ऐसे दंगों से भारत की एकता तथा अखण्डता खतरे में पड़ गई।

गरीबी
(Poverty) :

गरीबी राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में महत्वपूर्ण बाधा है। भारतीय समाज की एक विशेषता गरीबी है। गरीब व्यक्ति अपने आपकों और अपने परिवार को जीवित रखने के लिए सघर्ष में जुटा रहता है। जब एक गरीब व्यक्ति या गरीब वर्ग किसी दूसरे व्यक्ति या वर्ग को खुशहाल पाता है तो उसमें निराशा और घ णा की भावना उत्पन्न होती है और निराश राजनीतिज्ञ ऐसे अवसरों का लाभ उठाकर आन्दोलन करवाते हैं। जो क्षेत्र आर्थिक द ष्टि से पिछड़े होते हैं, वे आर्थिक विकास के लिए आन्दोलन करते हैं, और कई बार अलग राज्य की मांग भी करते हैं।

समाजवाद की असफलता
(Failure of Socialism) :

समाजवाद की असफलता ने भी राष्ट्रीय एकीकरण की समस्या को पैदा किया है। यदि समाजवाद सफल हो जाता तो आर्थिक विकास का फल सभी को चखने को मिलता, अब बेरोजगारी, पिछड़ापन, गरीबी, आर्थिक असमानता आदि ऐसे ही विघटनकारी आर्थिक तत्व हैं जो देश में भावनात्मक एकता पैदा नहीं होने देते, जिससे गम्भीर राजनीतिक समस्यांए उठ खड़ी होती हैं और देश की राजनीतिक व्यवस्था को खतरा पहुँचता है।

भ्रष्टाचार
(Corruption) :

भारतीय प्रशासन एक महत्वपूर्ण विशेषता भ्रष्टाचार है औ इसने भी राष्ट्रीय एकीकरण मे बाधा पहुँचाई है। प्रशासन में भ्रष्टाचार का बोलबाला है और चारों तरफ भाई-भतीजावाद चल रहा है। जिसके कारणजनता का विश्वास प्रशासन के प्रति नहीं रहा। इसके फलस्वरूप दंगे-फसाद होते हैं जो राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में बाधक हैं हिंसा और अराजकता के वातावरण ने राष्ट्रीय एकीकरण की समस्या को और अधिक गम्भीर बनाया हैं।

क्षेत्रीय दल
(Regional Parties) :

क्षेत्रीय दलों में व द्धि राष्ट्रय एकीकरण के लिए एक समस्या है। भारत में राष्ट्रीय दलों के मुकाबले में क्षेत्रीय दलों की संख्या बहुत अधिक है। क्षेत्रीय दल राष्ट्रीय हित को महत्व न देकर क्षेत्रीय हितों पर जोर देते हैं। क्षेत्रीय दल अपने राजनीतिक लाभ के लिए लोगों की क्षेत्रीय भवनाओं को भड़कते हैं। आजकल कई राज्यों में क्षेत्रीय दल सत्ता में हैं। क्षेत्रीय दल राष्ट्रीय एकता और राष्ट्रीय हितों को हानि पहुंचाते हैं।

विदेशी ताकतें
(Foreign Powers):

विदेशी ताकते कुछ वर्षो से भारत में अस्थिरता पैदा करने की कोशिश कर रही हैं। भूतपूर्व प्रधानमंत्री राजीव गाँधी ने कई बार कहा कि विदेशी ताकतों से भारत की एकता व अखण्डता को खतरा है। पाकिस्तान खुले रूप में पंजाब तथा जम्मू-कश्मीर से आंतकवादियों को आधुनिक हथियार और वितीय सहायता दे रहा हैं।

समतायुक्त समाज-निमार्ण में असफलता
(Failure in building of the Equalitarian Society) :

संविधान निर्माताओ ने धनी-निर्धन, ऊंच-नीच, छोटे-बड़े स्पर्श्य-अस्पर्श्य आदि के सभी भेद-भावों को समाप्त करके देश में समतायुक्त समाज के निमार्ण का स्वप्न संजोया था। किन्तु देश के आजाद होने के बाद से गरीब व्यक्ति और अधिक गरीब हुआ है तथा अमीर और अधिक अमीर हुआ है। फलतः महलों के साथ झुग्गी-झोपड़ियों की संस्था में हुई बेहताशा व द्धि से आर्थिक और सामाजिक असन्तुलन लगातार बढ़ता जा रहा है। इससे जहाँ अमीर वर्ग निर्धन एवं गरीब वर्ग के प्रति अत्यन्त हीनता का भाव रखता है वहा दूसरी और साधन हीन वर्ग के मन में इस सम द्धिशाली वर्ग के विरूद्ध जबरदस्त ईर्ष्या, द्वेष और घ णा पनपाती है। ऐसे हालात के राष्ट्रीय एकीकरण को बनाए रखना कठीन है।

दोषपूर्ण शिक्षा प्रणाली
(Defective Educational System) :

भारत की शिक्षा प्रणाली दोषपूर्ण है। हमारी शिक्षा प्रणाली विद्यार्थियों में चरित्र का निमार्ण और अनुशासन कायम करने में सफल नहीं हुई। नैतिक और राष्ट्रीय मूल्यों का विकास नही हो रहा । इसका एक महत्वपूर्ण कारण यह है कि अधिकांश शिक्षा संस्थाए निजी व्यक्तियों तथा सस्थाओं के हाथ में हैं। भारतीय शिक्षा प्रणाली राष्ट्रीय एकीकरण की भावना विकसित करने में सफल नहीं रही।

राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में बाधाओं को दूर करने के उपाय
(Methods to remove the Hindrances in the way of National Inlegzation) :

भारत की अखण्डता व एकता को बनाए रखने के लिए राष्ट्रीय एकीकरण अति आवश्यक है। बिना राष्ट्रीय एकीकरण के राष्ट्रीय अखण्डता को कायम नहीं रखा जा सकता। अतः राष्ट्रीय अखण्डता को बनाए रखने के लिए उन बाधाओं को दूर करना आवश्यक हैं जो राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग के रोडा अटकाए हुए हैं। इन बाधाओं को दूर करने के लिए निम्नलिखित उपाय किए जाने चाहिए :

आर्थिक विकास
(Economic Development) :

राष्ट्रीय एकीकरण लाने के लिए देश का आर्थिक विकास करना अति आवश्यक है। बेरोजगारी को दूर करके आर्थिक विषमता को कम करके, गरीबी को दूर करके तथा आर्थिक लाभों को न्यायपूर्ण ढंग से वितरित करके ही राष्ट्रीय एकीकरण की सम्भावना को बढ़ाया जा सकता है।

समुचित शिक्षा व्यवस्था
(Proper Educational System) :

समुचित शिक्षा व्यवस्था राष्ट्रीय एकीकरण लाने के लिए महत्वपूर्ण साधन है। शिक्षा प्रणाली देश की आवश्यकताओं के अनुकूल होनी चाहिए। शिक्षा प्रणाली ऐसी होनी चाहिये जिससे सम्प्रदायवाद, जातिवाद, क्षेत्रवाद, भाषावाद आदि की समस्याओं को हल किया जा सके। विभिन्न स्तरों के पाठ्यक्रम ऐसे होने चाहिए जिससे विधार्थियों में यह चेतना पैदा हो कि वे पहले भारतीय हैं और बाद में पजांबी, बंगाली, मराठी। पाठ्यक्रम ऐसा होना चहिए जो विद्यार्थियों में धर्म-निरपेक्ष द ष्टिकोण तथा नैतिक मूल्यों को विकसित करने में सहायक हो।

भाषायी समस्या का समाधान
(Solution of Language Problems) :

राष्ट्रीय एकीकरण को बनाए रखने के लिए भाषायी समस्या का समाधान करना आते आवश्यक हैं। राज्यों के पूनर्गठन पर दुबारा विचार करना चाहिए तथा जिन लोगों की भाषा के आधार पर मांग न्यायसंगत है, उस राज्य की स्थापना की जानी चाहिए।

सामाजिक समानता
(Social Equality) :

समाज में विशेष रूप से हिन्दु समाज में प्रचलित ऊँच-नीच की भावना प्रभावशाली ढंग से दूर की जानी चाहिए। पिछड़े हुए वर्ग और हरिजनों में किसी प्रकार की हीनता न रहे और कानूनी सरंक्षण दिया जाए। इसी प्रकार की व्यवस्था अल्प-संख्यकों के लिए भी करनी चाहिए।

प्रशासन में जनता का विश्वास होना
(Fatih of People in Administration) :

प्रशासनिक क्षेत्र में मन्त्री और सरकारी कर्मचारी ईमानदार, निष्पक्ष और कार्यकुशल हो। इससे जनता में उनके प्रति विश्वास पैदा होगा। विश्वास के अभाव में बहुत से व्यर्थ के आन्दोलन चलाए जाते है और राष्ट्र को उससे हानि होती है।

राष्ट्रीय संस्क ति का विकास
(Development of National Culture) :

भारत की संस्क ति प्राचीन और आदर्शमय है। यदि उसका ठीकरूप से विकास किया जाए तो एक राष्ट्रीय संस्क ति का विकास हो सकेगा। जिससे सामाजिक, भावनात्मक और राष्ट्रीय संस्क ति का विकास हो सकेगा और सामाजिक, भावनात्मक और राष्ट्रीय एकता को प्रोत्साहन मिलेगा।

समस्याओं का शीघ्र-से-शीघ्र निराकरण
(Quick Solution of Problems) :

भारत में बहुत से आन्दोलन इस कारण से हिसात्मक बन जाते हैं क्योंकि उनकी समस्या को सुलझाने का उचित प्रयत्न नही किया जाता। असम और पजांब के आन्दोलन इस तथ्य के उदाहरण है। समस्या चाहे भाषा से सम्बन्धित हो या अर्थ से सम्बन्धित हो या अन्य कोई भी हो उसका शीघ्र से शीघ्र निराकरण होना चाहिए।

सकीर्ण भावनाओं को दूर करने के प्रयत्न
(Removal of Narrow Feelings) :

राष्ट्र की अखण्डता के लिए सबसे अधिक हानिकारक तत्व लोगों की संकीर्ण भावनांए है। इनकों दूर करने के लिए जहाँ उदार शिक्षा एक साधन है, वहाँ समाचार-पत्रों, पत्रिकाओं और प्रचार के साधनों द्वारा लोगों में उदार द ष्टिकोण का विकास किया जाना चाहिए।

विदेशियों पर निगाह रखना
(To watch the Foreigners) :

संसार के बहुत से राज्य भारत के विकास से प्रसन्न नहीं हैं। वे चाहते है कि भारत में ऐसी गतिविधियां पैदा की जाए जिससे कि यह एक महान राष्ट्र न बन सके। भारत में देश द्रोहियों का अभाव नहीं हैं। विदेशी ताकतें इनके सहारे से देश में गड़बड़ी कराती रहती है। इन पर कड़ी निगरानी रखी जाए। यदि इन विदेशियों की गतिविधियां भारत के अहित में हो तो कठोर-से-कठोर कार्यवाही की जाए। ऐतिहासिक आधार पर सिद्ध हुए विदेशी शत्रुओं का किसी भी रूप में विश्वास नहीं किया जाना चाहिए।

भ्रष्टाचार को दूर करना
(To end corruption) :

राष्ट्रीय एकीकरण लाने के लिए प्रशासन से भ्रष्टाचार समाप्त करना आवश्यक है। भाई-भतीजावाद बन्द होना चाहिए।

राष्ट्रीय प्रतीकों का सम्मान
(To honour National Symbols) :

राष्ट्रीय एकता व अखण्डता को बनाए रखने के लिए आवश्यक है कि सभी भारतीय राष्ट्रीय गति को सम्मान करें। राष्ट्रीय झण्ड़े और राष्ट्रीय गति का सम्मान करना सभी का कत्तर्व्य हैं।

मूल्यों पर आधारित राजनीति
(Value-based Polities)

राष्ट्रीय एकीकरण के विकास के लिए यह आवश्यक है कि राजनीति सिद्धांतों व मूल्यों पर आधारित हो। राजनीतिज्ञों को धर्म, जाति, भाषा, अल्पसंख्यक आदि की राजनीति से मुक्त होना पड़ेगा। पिछलें कुछ वर्षो से कुछ नेताओं ने मूल्यों पर आधारित राजनीति की बात कही है, परन्तु आवश्यकता इसको अपनाने की है।

साम्प्रदायिक सगठनों पर प्रतिबन्ध
(Restrictions on communal organisations)

राष्ट्रीय अखण्डता व एकता को बनाए रखने के लिए साम्प्रदायिक संगठनों एवं दलों पर कठोर प्रतिबन्ध लगाने चाहिए। परन्तु इसके साथ-साथ ही आवश्यक है कि आम जनता को इस प्रकार के प्रतिबन्धों के औचित्य के सम्बन्धों में प्रशिक्षित किया जाए। 10 दिसम्बर, 1992 को केन्द्रीय सरकार ने विश्व हिन्दु परिषद्, बजंरग दल, शिव सेना, राष्ट्रीय स्वंय सेवक संघ, जमायते इस्लामी हिंद, मजलिसए-मुशावरत तथा इस्लामिक सेवक संघ पर प्रतिबंध लगाया था।

अच्छुदेत 370 को हटाना
(Removal of Article 370)

राष्ट्रीय एकीकरण को बनाए रखने के लिए संविधान को बनाए रखने के लिए संविधान के अनुच्छेद 370 को संविधान से निकाल देना चाहिए। अनुच्छेद 370 के अनुसार जम्मू-कश्मीर को विशेष दर्जा दिया गया है। भारत के अन्य राज्य विशेषकर पंजाब, तमिलनाडु आदि जम्मू-कश्मीर जैसी ही विशेष दर्जे की मांग करते हैं। इससे राष्ट्रीय एकता को खतरा पहुँचता है। इसलिए अनुच्छेद 370 को संविधान से निकाल देना चाहिए।

भारत में राष्ट्रीय एकीकरण के लिए सरकारी तथा गैर-सरकारी स्तर पर किए गए विभिन्न प्रयास

(Efforts made at governmental and non-governmental level to promote National Integration in India)

भारत में राष्ट्रीय एकता तथा अखण्डता को बनाए रखने के लिए समय समय पर जो प्रयास किए गए हैं, वे निम्नलिखित हैं :

राष्ट्रीय एकीकरण सम्मेलन, 1961
(National Integration conference, 1961)

प० जवाहरलाल नेहरू की प्रेरणा से 28 सितम्बर 1961 को राष्ट्रीय एकीकरण सम्मेलन हुआ जिसमें राष्ट्रीय एकता की समस्या पर विचार किया गया। जो मुख्य निर्णय लिए गए थे वे इस प्रकार है :

प्रथम, प्रत्येक व्यस्क नागरिक यह प्रतिज्ञा करे कि वह झगड़े का निपटारा शान्ति-पूर्वक ढंग से करेगा।

दूसरे, शिक्षा पद्धति में इस प्रकार सुधार लाया जाए जिससे हिन्दी का विकास हो।

तीसरे, राजनीतिक दलों, समाचार पत्रों, छात्रों और जनता के लिए आचार संहिता को निश्चित किया जाए।

चौथे, आर्थिक विकास में पिछड़े क्षेत्रों के विकास पर विशेष ध्यान दिया जाए।

इस एकता सम्मेलन में अपनी सिफारिशों को लागू करने के लिए प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में राष्ट्रीय परिषद् की स्थापना भी की गई थी।

1963 में संविधानका 16वां संशोधन किया गया। इस संशोधन का उद्देश्य भारत की अखण्डता और प्रभुसत्ता को सुरक्षित रखना है। इस संशोधन द्वारा यह निश्चित किया गया कि राज्य विधानमण्डल या संसद का लड़ने से पहले तथा चुने जाने के बाद प्रत्येक उम्मीदवार को यह शपथ लेनी पड़ती है कि 'मैं भारतीय संविधान के प्रति वफादार रहूंगा और भारत की अखण्डता व प्रभुसत्ता को बनाए रखूंगा।' 42वें संशोधन द्वारा प्रस्तावना में संशोधन करके राष्ट्र की एकता के साथ अखण्डता शब्द भी जोड़ दिया गया है।

राष्ट्रीय एकता परिषद् का पुनर्गठन, 1968
(Re-organisation of National Inligration : Council 1968)

भारत सरकार ने मार्च, 1968 में राष्ट्रीय एकता परिषद् की स्थापना की, जिसमें सभी क्षेत्रों के 55 सदस्य थे। जून, 1968 में इसकी बैठक हुई, जिसमें निम्नलिखित विषयों पर सुझाव दिए गए थे। ये सुझाव क्षेत्रीय एकता, साम्प्रदायिकता और शिक्षा सम्बन्धी थे। यह भी सुझाव दिया गया कि जो व्यक्ति अफवाहें फैलाते हैं, उन्हें दण्ड देना चाहिए। पुलिस अधिकारी, जो अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करते, उन्हें पद से हटाने का सुझाव दिया गया था। राज्यों को अधिक सहायता उनके पिछड़ेपन के आधार पर दी जानी चाहिए।

राष्ट्रीय एकीकरण के लिए सात-सूत्री कार्यक्रम
(Seven Point Action Programe for National Integration) :

जून 1975 में आन्तरिक आपातकालीन घोषणा के बाद समिति गांधी ने राष्ट्रीय एकीकरण की समस्या पर विचार करने के लिए दो समितियों का गठन किया। इनमें एक समिति के अध्यक्ष ब्रह्मनन्द रेड्डी और दूसरी समिति के अध्यक्ष प्रो० नुरूल हसन थे। ब्रह्मानन्द रेड्डी की अध्यक्षता में 28 नवम्बर, 1976 को दिल्ली में एक बैठक आयोजित की गई, जिसमें राष्ट्रीय एकता के लिए सात-सूत्री कार्यक्रम तैयार किया गया ये सात सूत्र छात्र हिसां, औद्योगिक सम्बन्ध उग्रपंथियों की हिसां, अल्पसंख्यक,

हरिजनों से अच्छा बर्ताव, अनुसूचित जन-जातियों तथा क्षेत्रीय समता से सम्बन्धित है।

(i) इसमें कहा गया है कि विद्यार्थियो की उचित भागों पर विचार किया जाना चाहिए और छात्रों को राजनीति से दूर रहने के लिए कहा जाना चाहिए।

(ii) एक में एक ही मजदूर संघ के आदर्श का प्रचार करना चाहिए।

(iii) आर्थिक और सामाजिक द ष्टि से पिछड़े क्षेत्रों का आर्थिक विकास करना चाहिए।

(iv) अल्पसंख्यक वर्ग के छात्रों को देश के प्रगतिशील शिक्षा संस्थानों में भर्ती होने के लिए प्रेरणा और सुविधांए दी जानी चाहिए।

(v) स्वंयसेवी संस्थाओं को चाहिए कि अल्पसंख्यक समाज को युवकों और औरतों को रोजगार कार्यालय में नाम दर्ज कराने और लोक सेवा संघ आयोग विज्ञापित रिक्त स्थानों के लिए प्रार्थना-पत्र देने के लिए प्रेरित करें।

(vi) अल्पसंख्यक छात्रों से दूर रहने और नफरत पैदा करने वाले तत्वों के विरूद्ध प्रशासनिक कार्यवाही की जानी चाहिए।

(vii) हरिजनो के बर्ताव के सम्बन्ध में आठ-सूची कार्यक्रम प्रस्तुत किया गया। हरिजनों के विरूद्ध भेदभाव को रोकने और विशेष मामलों की तुरन्त जांच करने तथा अपराधियों को प्रभावशाली और उचित सजा देने की मांग की गई है। जनजातियों के विकास के लिए व्यापक नीति बनाई गई। आर्थिक असमानता को दूर करने के लिए पिछड़े क्षेत्रों को केन्द्रीय सहायता देने की मांग की गई है।

हम एक हैं, प्रदर्शनी का आयोजन

1979 में गांधी जयन्ती के अवसर पर हम एक है, प्रदर्शनी का आयोजन किया गया, जिसमे यह दिखलाया गया कि भारत की एकता को बनाए रखने के लिए क्या किया जाए।

राष्ट्रीय एकता की दिशा में

1981 में साम्प्रदायिक सद्भाव सम्बन्धी समिति राष्ट्रीय परिषद् की सिफारिशों के अनुसार गठित की गई। उसकी बैठक 24 अप्रैल, 1981 को हुई, जिसमें ये सिफारिशें की गईः प्रथम, राज्य तथा जिला स्तरों पर राष्ट्रीय एकता समितियों गठित की जाएं।

दूसरे, साम्प्रदायिक विवादों को राजनीति से ऊपर रखा जाए।

तीसरे, राज्य सरकारें इस विषय में अपने कोष का मूल्याकंन करे। इसी प्रकार की दो बैठके 4अप्रैल, 1981 और 22 सितम्बर 1981 को हुई थी।

राष्ट्रीय एकता के लिए प्रयत्न

राष्ट्रीय एकता के लिए 1981 और 1983 में भी इसी प्रकार की बैठकें की गई तथा 1984-1985 में भी ऐसी बैठकें हुई।

राष्ट्रीय एकीकरण परिषद् का बैठक अप्रैल 1986

जनवरी 1984 के बाद राष्ट्रीय एकीकरण परिषद् की हगांमी बैठक 7 अप्रैल, 1986 को हुई, जिसमें मुख्य 'पंजाब' में अग्रवादियों की समस्या पर विचार करना था। इस परिषद का उद्घाटन तत्कालीन प्रधानमन्त्री राजीव गांधी द्वारा किया गया। इस परिषद् में राज्यों के मुख्य मन्त्रियों, राजनीतिक दलों के नेताओं और सार्वजनिक जीवन से सम्बन्धित महत्वपूर्ण व्यक्तियों ने भाग लिया। इस परिषद ने साम्प्रदायिकता को दूर करने के लिए राष्ट्रीय नीति को निश्चित करने पर विचार हुआ। पंजाव में लगातार हिंसा तथा सामाजिक तनाव से जो खतरा पैदा हुआ हैं, उसे दूर करने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिए गए:

(i) धार्मिक स्थानों के प्रयोग के विषय में सहमति होनी चाहिए।

(ii) उग्रवादियों की समस्या गांधीवादी सिद्धान्तों के आधार पर सुलझानी चाहिए।

(iii) जनता को खुलकर उग्रवादियों का विरोध करना चाहिए।

(iv) राजनीतिक दलों के लिए आचार संहिता निश्चित की जाएं।

(v) धर्म निरपेक्षता के आधार पर शिक्षा संस्थानों मे शिक्षा दी जानी चाहिए।

(vi) अन्तर्राष्ट्रीय सीमाओ पर चौकसी बरतनी चाहिए।

तत्कालीन ग हमन्त्री पी०वी० नरसिम्हा राव ने इस बात पर बल दिया कि राष्ट्रीय एकीकरण परिषद को राष्ट्र की एकता और अखण्डता के लिए कार्य करना चाहिए।

राष्ट्रीय एकता परिषद का पुनगर्ठन 3 फरवरी, 1990
(Re-organisation of National Integration Council, February 3, 1990)

राष्ट्रीय मोंचा की सरकार ने 3 फरवरी, 1990 को राष्ट्रीय एकता परिषद् का पुनगर्ठन किया। तत्कालीन प्रधानमन्त्री वी०पी० सिहं की अध्यक्षता में गठित इस परिषद् के सदस्यों में सात केबिनेट मन्त्री, आठ राष्ट्रीय परिषद राजनीतिक दलों के प्रमुख, सत्रह मान्यता प्राप्त क्षेत्रीय दलों के प्रतिनिधि, 40 प्रतिष्ठित व्यक्ति, तेरह पत्रकार, पांच महिलाएं, 5 श्रमिक प्रतिनिधि, 3 आयोगों के अध्यक्ष तथा उद्योग क्षेत्र के राष्ट्रीय एकता परिषद् की बैठक हुई, जिसमें तत्कालीन प्रधानमन्त्री वी०पी० सिंह ने घोषणा की कि देश की एकता व अखण्डता को तोड़ने के लिए सक्रिय विरोधी ताकतों से सरकार किसी तरह का समझौता नहीं करेगी। परिषद् ने असम में बढ़ते प थकतावाद, काश्मीर के आंतकवाद, पंजाब की हिंसा तथा देश के अन्य भागों में फैलते जातिवाद और साम्प्रदायिकता पर गहरी चिन्ता व्यक्त की। साम्प्रदायिकता और प थकतावाद पर अंकुश लगाने के लिए कार्य योजना समिति बनाने का प्रस्ताव सर्वसम्मति से पास किया गया। राम जन्म भूमि बनाम बाबरी मस्जिद विवाद के बारे में एकता परिषद् ने सभी सम्बन्ध पक्षों में अधिकतम संयम बरतने का आग्रह किया और यह अपील की कि इस विवाद को जल्द से जल्द निपटाया जाएगा। तत्कालीन प्रधान मन्त्री वी०पी०सिंह ने कहा था कि राष्ट्रीय एकता परिषद् की बैठक वर्ष में तीन बार होगी।

राष्ट्रीय एकता परिषद का पुनगर्ठन व बैठक

अक्तूबर 1991 में तत्कालीन प्रधानमन्त्री नरसिम्हा राव ने राष्ट्रीय एकता परिषद् का पुनर्गठन किया और 2 नवम्बर 1991 के राष्ट्रीय एकता परिषद् की बैठक राम जन्म भूमि बनाम बाबरी मस्जिद मामले की प ष्ठ भूमि में देश में साम्प्रदायिक सद्भाव कायम रखने के उपायों पर विचार करने के लिए बुलाई गई। राम जन्म-भूमि बनाम बाबरी मस्जिद् विवाद पर एकता परिषद् की बैठक सफल रही। राव ने परिषद् की बैठक में आम राय बनाने का प्रस्ताव रखा और इसके उत्तर में लगभग सभी नेताओं ने यही कहा कि या तो सभी सम्बद्ध पक्ष अदालत का आदेश माने या फिर बातचीन द्वारा विवाद को हल करें। उतरप्रदेश के तत्कालीन मुख्यमन्त्री कल्याण सिंह को आश्वासन देना पड़ा कि सरकार हर हालत में बाबरी मस्जिद की रक्षा करेगी। इस प्रकार राष्ट्रीय एकता परिषद् की बैठक साम्प्रदायिक तनाव को कम करने में सहायक सिद्ध हुई।

अनौपचारिक संगठनों द्वारा किए गए कार्य

अनौपचारिक संगठनों में दो संगठन महत्वपूर्ण है :-

(1) इन्सानी बिरादरी तथा (2) अखिल भारतीय साम्प्रदायिकता विरोधी समिति। इन्सानी बिरादरी की स्थापना अगस्त 1970 में की गई। श्री जयप्रकाश नारायण को संगठन का अध्यक्ष और शेख अब्दुल्ला को उसका उपाध्यक्ष बनाया गया। परन्तु यह संगठन प्रभावशाली समिति नहीं हुआ क्योंकि यह संगठन यह भी निश्चित नहीं कर पाया कि देश में किन संगठनों को साम्प्रदायिक संगठन कहा जाए। अखिल भारतीय साम्प्रदायिकता विरोधी समिति की नेता श्रीमति सुभद्रा जोशी थी। इस संगठन का विश्वास है कि देश में साम्प्रदायिक दंगों के लिए सम्प्रदायवाद की संगठित शक्तियां उत्तरदायी हैं इनमें राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ सबसे अधिक प्रमुख हैं। इस समिति का छठा सम्मेलन 1974 में दिल्ली में हुआ था। इस सम्मेलन में साम्प्रदायिक संगठनों पर कानूनी प्रतिबंधों को लगाने की बात कही गई। इस समिति का कहना था कि जनसंघ जैसे साम्प्रदायिक संगठनों के प्रतिनिधियों को राष्ट्रीय एकीकरण परिषद् में स्थान नहीं दिया जाना चाहिए। तथा शिक्षा प्रणाली को धर्म-निरपेक्ष बनाने का प्रयास किया जाना चाहिए। मार्च 1987 में पंजाब के कई स्थानों पर सर्वदलीय सम्मेलन हुए। इन सम्मेलनों में राष्ट्रीय एकता व अखण्डता को बनाए रखने के सकल्प किए

गए। कॉंग्रेस (इ) ने राजीव गाँधी के नेत त्व में 10 मई 1990 को राष्ट्रीय एकता, अखंडता तथा साम्प्रदायिक सौहार्द की और लोगों का ध्यान खींचने के लिए 12 घंटे का देशव्यापी उपवास कार्यक्रम आयोजित किया।

निष्कर्ष (Conclusion) :

भारत एक विशाल देश है। भारत में संविधान के अर्न्तगत लोकतंत्र धर्म-निरपेक्षता तथा समाजवाद की धारणा को अपनाया गया है। लेकिन इतना होने के बावजूद भी कुछ समाज-विरोधी तथा राष्ट्र-विरोधी तत्व भारत की एकता एवं अखण्डता के मार्ग में बाधा बने हुए हैं। भारत में किसी भी नागरिक के साथ किसी भी आधार पर भेदभाव नहीं किया जाता है। लेकिन फिर भी राष्ट्रीय एकीकरण की समस्या एक गम्भीर समस्या बनी हुई हैं। इस समयस्या के उचित समाधान पर भी भारतीय राष्ट्र सरकार, राजनीकि दलों तथा गैर-सरकारी सस्थांओं और संगठनों द्वारा राष्ट्रीय एकीकरण के कार्य की सफलता को विश्वनीय बनाने के लिए भरपूर प्रयत्न किए जाने चाहिए। इस मन्तव्य के लिए जो भी कदम उठाए जाने अनिवार्य हैं, उन कदमों को उठाने में देरी नहीं की जानी चाहिए। वर्तमान समय में भारतीय राष्ट्र काफी गम्भीर अवस्था में से गुजर रहा है। इसलिए यह अनिवार्य है कि राष्ट्रीय एकीकरण परिषद् की सिफारिशों को वास्तविक रूप देने के अतिरिक्त अन्य प्रत्येक प्रकार के ऐसे कदम उठाए जाए जिससे भारतीय लोगों का भावनात्मक तथा राष्ट्रीय एकीकरण हो सके।

अध्याय-34
पंचायती राज
(Panchayati Raj)

लोकतंत्र की वास्तविक क्रियान्वति तभी पूरी मानी जाती है जब शासन के सभी स्तरों पर लोगों की भागीदारी हो। जनसाधारण का शासन से सीधा सम्पर्क तथा उनकी नागरीक आवश्यकताओं की पूर्ति का आरम्भ स्थानीय स्तर से ही आरम्भ हीता है। यह स्थानीय क्षेत्र चाहे शहर हो या गाँव। इसलिए इन स्तरों पर नागरिक सुविधाओं को पहुंचाने, विकास कार्यो सम्बन्धी निर्णय लेने, उन्हें लागु करने तथा इस स्तर पर लोगों की आवश्यकताओं तथा आंकाक्षाओं को एकत्रित करने के लिए किसी न किसी रूप में सस्थांए बनाई जाती है। लोकतांत्रिक सिद्धान्तों की मांग है कि यह संस्थाए प्रतिनिधितामक और उत्तरदायी हों। इसलिए लोकतांत्रिक देशों में स्थानीय स्वशासन को महत्व दिया जाता है। भारत की 70 प्रतिशत से अधिक जनसंख्या गाँवों में रहती है। इसलिए ग्रामीण स्तर पर स्वशासन का विशेष महत्व है। इस सम्बन्ध में देश में पंचायती राज की स्थापना की गई है। परन्तु पंचायती राज संस्थाए केवल सरंचनात्मक ढांचे ही नहीं हैं लोगों को राजनीति में लाने तथा ग्रामीण स्तर पर लोकतांत्रिक प्रक्रिया को ले जाने में भी इनकी महत्वपूर्ण भूमिका है। इसलिए इनका विश्लेषण तथा मूल्यांकन आवश्यक हो जाता हैं।

भारत में अंग्रेजी उपनिवेशिवाद के समय से ही स्थानीय शासन के महत्व को समझा जाने लगा था। प्रशासन की इकाई जिला स्थापित की गई थी। जिला स्तर पर प्रशासन की व्यवस्था जिला अधिकारी के अधीन थी। जिला अधिकारी को कलक्टर, जिलाधीश (Collector, District, Matgistrate) इत्यादि नामों से भी पुकारा जाता था। जिले में कानून तथा शान्ति की व्यवस्था करना, राजस्व इक्कठा करना तथा विकासीय कार्यो को करना, तीनों ही क्षेत्र जिला अधिकारी के अधीन थे। जिला अधिकारी सामान्यतः भारतीय प्रशासनिक सेवा का अफसर हुआ करता था।

1882 में लार्ड रिपन के शासन के कार्य काल मे स्थानीय स्तर पर प्रशासन में लोगों को शामिल करने के कुछ प्रयास आरम्भ हुए। इसके लिए जिला स्तर पर जिला बोर्डो की स्थापना की गई। इनमें स्थानीय लोगों को मनोनीत किया जाता था। भारत के गावों में सदियों से प्रचलित पंचायत व्यवस्था को पुर्न जीवित करने के प्रति भी कुछ कदम उठाए गए। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में पंचायतों की परम्परा को छोटे गणराज्य कह कर उनकी प्रशंसा की जाती थी। महात्मा गांधी विशेष रूप से पंचायतों के प्रशंसक थे। भारत में स्वशासन की अत्यन्त पुरानी परम्परा के रूप में प्रस्तुत किया जाता था। इसलिए गांधी जी की यह धारणा भी थी कि स्वतंत्र भारत का आधार गांवों से ही आरम्भ होगा। हर गांव, उन मामलों को छोड़कर जहां अन्यों के साथ निर्भरता आवश्यक है, अपने आप में स्वतंत्र तथा आत्म निर्भर होगा। राष्ट्रीय आन्दोलन द्वारा महत्व दिए जाने के कारण तथा स्वंय ब्रिटिश शासन द्वारा लोगों को अपने प्रशासन में शामिल करने के लिए 1930 तथा 1940 के दशक में अनेक प्रान्तों में पंचायती राज लागू करने के कुछ कानून बनाए गए। स्वभाविक रूप से यह सीमित तथा अपयार्प्त थे।

संविधान तथा पंचायती राज
(Constitution and Panchayati Raj.) :

राष्ट्रीय आन्दोलन के समय जहां महात्मा गांधी ग्रामीण स्वतंत्रता तथा स्थानीय प्रशासन की वकालत करते रहते थे वहां आन्दोलन के अन्य प्रमुख नेता पश्चिमी विचारों से प्रभावित थे। उनके अनुसार राज्य निर्माण तथा विकास के लिए केन्द्रीक त राष्ट्रराज्य की अवधारणा महत्वपूर्ण थी। अतः जब संविधान निर्माण का कार्य शुरू हुआ। उस समय गांधी जी के विचारों के विशेष महत्व नहीं दिया गया। संविधान के प्रथम प्रारूप में पंचायती राज संस्थओं का कोई प्रयोजन नहीं रखा गया। जब महात्मा गांधी और उनके समर्थकों को यह पता चला तो उन्होंने अपना असन्तोष प्रकट किया और इस बात के लिए दबाव डाला कि पंचायती राज को संविधान में स्थान दिया जाए ताकि भविष्य में निर्मित होने

वाले भारत का आधार लोकशक्ति बन सकें। इस दबाव के कारण तथा गांधी जी की भवनाओं का अन्दर मात्र करने के लिए संविधान के अन्तिम रूप मे राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्तों के अध्याय में अनुच्छेद 40 में राज्य को निर्देश दिया गया कि वह गांवों में पचांयतों की स्थापना करने तथा उन्हें ऐसी शक्तियां देने के लिए उचित कदम उठाएगा जो स्थानीय स्वशासन के लिए आवश्यक हों। पंचायतों की स्थापना करने का कार्य राज्य सरकारों पर छोड़ दिया गया क्योंकि पचांयती राज विषय सूचि में रखा गया था। निस्संदेह अन्य नीति निर्देशक सिद्धान्तों की तरह अनुच्छेद 40 भी न्यायबाध्य नहीं था और इसका लागू करना राज्यों की इच्छा पर था। संविधान लागु होने के आरम्भिक वर्षो में इस दिशा में कोई विशेष कदम नहीं उठाये गए। बाद में नियोजन के संदर्भ में लोगों की भागीदारी की आवश्यकता को देखते हुए इस दिशा में कुछ सोच आवश्य हुई।

सामुदायिक विकास तथा मेहत्ता कमेटी
(CommunityDevelopment and Mehta Committee) :

विकास के लिए नियोजन के आदर्श को मानने तथा योजना आयोग की स्थापना के पश्चात 1952 में इस विचार के साथ कि योजनाओं की क्रियान्वति में लोगों की भागीदारी उचित है। सामुदायिक विकास कार्यक्रम आरम्भ किया गया। इस कार्यक्रम का उद्देश्य था कि एक गांव या गांवों के समूह में सामाजिक कार्यकर्त्ताओं तथा विशेषज्ञों की एक टीम भेजी जाए जो गांव के लोगों से उनकी आवश्यकताओं की जानकारी प्राप्त कर उन्हें यह सुझाएं कि वह किस तरह सामुदायिक आधार पर एक दूसरे की सहायता से तथा उचित संगठनों के माध्यम से स्वंय गांव या गावों के समूह के स्तर पर ही उन आवश्यकताओं को पूरा कर सकते हैं। सामुदायिक विकास का यह कार्यक्रम सफल नहीं रहा। इस विफलता के कारण दूसरी पंच वर्षीय योजना के दौरान योजना आयोग ने इस कार्यक्रम को समीक्षा के लिए 1956 में श्री बलवन्त राय मेहत्ता की अध्यक्षता में एक कमेटी नियुक्त की।

मेहत्ता कमेटी ने अपनी रिर्पोट में कहा कि सामुदायिक विकास कार्यक्रम इसलिए विफल रहा क्योंकि यह स्थानीय लोगों में आवश्यक रूचि पैदा नहीं कर सका। कमेटी ने सुझाव दिय कि पुराने जिला बोर्डो को समाप्त करके तीन स्तरीय पचांयती राज व्यवस्था की जाए। यह तीन स्तर होगें जिला ब्लाक तथा गांव और इनमें सीधा सम्बन्ध और सम्पर्क होगा। हर स्तर को उसकी क्षमता तथा आवश्यकता के अनुसार शक्तियाँ हास्तान्तरित की जाएगी।

तीन स्तरों में सबसे नीचे थी ग्राम पंचायत यह ग्राम पचांयत ग्राम सभा के द्वारा चुनी जाती थी और उसके प्रति उत्तरदायी थी। गांव के सभी व्यस्क निवासी ग्राम सभा के सदस्य होने थे। वर्ष में कम से कम दो बार इसकी बैठक अनिवार्य थी। ग्राम पंचायत की सदस्य संख्या 5 से 30 के बीच सुझाई गई। इसका कार्यकाल 5 वर्ष सुझाया गया। एक गांव या गांवों के समूह के लिए एक ग्राम पंचायत की व्यवस्था सुझाई गई। पचांयती राज का दूसरा स्तर ब्लाक समिति सुझाया गया। ब्लाक गांवों के क्षेत्रिय समूह से बनता है। ब्लाक समिति में कुछ सइस्य पचांयतों द्वारा चुने हुए रखे गए और कुछ पेदन जैसे ग्राम पंचायतों के संरपंच। तीसरा स्तर था जिला परिषद् जिला प्रशासन की मूल इकाई माना जाता है। पचांयती राज की तीन स्तरीय व्यवस्था में यह शिखर पर रखा गया। इनमें कुछ चुने सदस्य कुछ पदेन सदस्य जैसे ब्लाक समितियों के अध्यक्ष तथा कुछ मनोनीत सदस्य अनुसूचित जातियों, जनजातियों और महिलाओं में रखे गए। जिला अधिकारी जिला परिषद् का अध्यक्ष रखा गया। इस प्रकार बलवन्त राय मेहता कमेटी ने स्थानीय स्वशासन के लिए एक तीन स्तरीय पंचायती राज व्यवस्था की सिफारिश की। इस पर कानून बनाने या इन्हें मानने का अधिकार राज्य सरकारों को था।

पंचायती राज व्यवस्था के रूप
(Pattern of Panchayati Raj) :

बलवन्त राय मेहता कमेटी की रिर्पोट के बाद राजस्थान तथा आन्ध्रप्रदेश पहले राज्य थे। जिन्होंने इस रिर्पोट के आधार पर पंचायती राज व्यवसाि लागु की। इन राज्यों में मूलतः रिर्पोट के आधार पर ही तीन स्तरीय ढांचा स्थापित किया 1960 के दशक में अनेक अन्य राज्यों ने भी कानून बनाकर पंचायती राज लागू किया। राज्यों में इस व्यवस्था के अपने अपने कानून थे। इसलिए सभी में इसका स्वरूप एक समान नहीं था। परन्तु मुख्यतः यह व्यवस्था दो प्रकार की थी। राजस्थान तथा आन्ध्रप्रदेश ने मुख्यतः मेहता कमेटी की रिर्पोट को आधार माना। इसमें जिला परिषद् ब्लाक

समिति तथा ग्राम पचायंत का गठन किया गया। सर्वाधिक महत्व ब्लाक समिति को दिया गया। जिलाधिकारी की सक्रिय भूमिका रखी गई। अनेक अन्य राज्यों ने भी इस प्रणाली को अपनाया।

महाराष्ट्र, गुजरात तथा कुछ अन्य राज्यों ने भी मूलतः मेहता कमेटी के सुझावों को माना परन्तु उन्होंने जिला परिषद् को अधिक महत्व दिया। हरियाणा, जम्मु-कश्मीर, केरल तथा कुछ अन्य राज्यों ने दो स्तरीय व्यवस्था स्थापित की। इसमें जिला परिषद् नहीं थी। तमिलनाडु तथा कर्नाटक में जिला परिषद् के स्थान पर जिला विकास परिषद् बनाई गई।

कुल मिलाकर 1980 के दशक के अन्त तक अधिकतर राज्यों तथा केन्द्र शासित प्रदेशों में किसी न किसी प्रकार की पंचायत राज व्यवस्था कार्य कर रही थी। इन संस्थाओं को अपने लिए धन इक्कठा करने के लिए कुछ साधन उपलब्ध थे जैसे भूमि राजस्व का एक भाग, गांव में मेलों बाजारों इत्यादि पर कर लगाने का अधिकार इत्यादि। परन्तु मुख्य रूप से धन के लिए संस्थाए राज्य सरकार पर निर्भर थी। केवल धन ही के लिए नहीं अपितु अपने अस्तित्व के लिए भी यह राज्य सरकार की क पा द ष्टि पर निर्भर थी, क्योंकि राज्य सरकारें इन्हें अपनी इच्छा पर निलम्बित या भंग कर सकती थी। सिद्धान्तः गांव में सत्ता की राजनीति से अलग रखने के विचार से अधिकतर राज्यों में पंचायती राज संस्थाओं के चुनाव में राजनीतिक दलों के भाग लने पर रोक थी। व्यवहार में राजनीतिक दल अपने दलीय चिन्ह के बिना चुनावों में सक्रिय रूप से भाग लेते थे।

व्यवस्था की विफलता :

भारत के ग्रामीण क्षेत्रों के लोकतान्त्रिकरण तथा विकास के लिए पचांयतीराज एक महत्वपूर्ण प्रयोग था। सम्भावना यह थी कि लोगों के पास निर्णय लेने की शक्ति आने से तथा पंचायत संस्थाओं के सफल कार्य से ग्रामीण क्षेत्रों में सामुदायिक सहयोग, भाईचारा और आत्मविश्वास बढ़ेगा तथा सामाजिक न्याय की प्रक्रिया को प्रोत्साहन मिलेगा। परन्तु दुर्भाग्यवंश व्यवहार मे ऐसा कुछ नहीं हुआ। शीघ्र ही पचांयत संस्थाए राजनीति सत्ता संघर्ष में फस गई। यह ग्रामीण क्षेत्रों मे पहले से स्थापित विशिष्ठ और उच्च वर्गो के हितों की रक्षा का साधन बनने लगी। अपने धन, जातीय सम्बन्धों तथा सामाजिक शक्ति के आधार पर इन लोगों ने प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से पंचायतों पर अपना अधिकार स्थापित करना शुरू कर दिया। सरकारी अफसर तथा कार्यकर्त्ता एक ओर अपने जातिय तथा अन्य सम्बन्धों के कारण इन वर्गो के प्रति संवेदनशील थे तो दूसरी और अपनी प्रक ति तथा प ष्ठभूमि से ग्रामीण विकास तथा लोकतान्त्रिक उत्तरदायित्व के अनुकूल नहीं थे। इस प्रकार पंचायती राज संस्थाओं को चलाने के लिए जो आवश्यक प्रशासनिक सहयोग तथा समर्थन चाहिए था वह उपलब्ध नहीं था। तीसरे, राज्य सरकारें तथा विधायक पंचायतों के महत्वपूर्ण एवं सक्रिय बनने से चिन्तित थे। उन्हें भय था कि इस प्रकार जन साधारण से उनका सीधा सम्पर्क कम हो जाएगा तथा चुनावों में समर्थन के लिए वह पंचो तथा सरपंचों के सहयोग पर आश्रित हो जांएगे। इसलिए राज्य सरकारों ने पचांयती राज संस्थाओं को ससांधन एवं अधिकार देने में विशेष रूचि नहीं ली।

1970 के दशक के शुरू से भारत में व्यक्तिवादी तथा शक्तियों के केन्द्रीकरण की राजनीति का विकास होने लगा। इसके साथ ही इस समय से प्रशासनिक अधिकारियों तथा राजनीतिज्ञों में सांठ-गांठ भी बढ़ने लगी। इसका सीधा परिणाम था जन प्रतिनिधियो की अवेहलना विशेष रूप से निचले स्तर पर। अतः राष्ट्रीय स्तर पर प्रधानमंत्री द्वारा तथा राज्य स्तर पर मुख्यमंत्रियों द्वारा सत्ता के निजीकरण की प्रक्रिया ने पंचायतों को लगभग पूरी तरह से निष्क्रय कर दिया। 1980 के दशक तक आते-आते पंचायती राज संस्थाओं की विफलता स्पष्ट रूप से दिखाई दे रही थी। संक्षेप में इसके कारण निम्नलिखित कहे जा सकते हैं :

1. राज्य सरकारें पंचायती संस्थाओं के चुनाव नियमित रूप से नहीं करवाती थी।
2. यदि चुनाव करवाये भी जाते थे तो किसी न किसी बहाने इन संस्थाओं को निलम्बित या भंग कर दिया जाता था और लम्बे समय तक इन्हें सीधा प्रशासिनक अधिकारियों के अधीन रखा जाता था।
3. पंचायत राज संस्थाओं के पास धन के अपने संसाधन नाम मात्र थे और राज्य सरकारें अनुदान देने में अनेक प्रकार की आनाकानी करती थी।

4. ग्रामीण तथा स्थानीय स्तर पर धनी तथा शक्तिशाली वर्ग धन, हिसां तथा बेईमानी के तरीकों से इन संस्थाओं पर नियन्त्रण बनाए हुए थे।
5. पंचायती राज संस्थाओं को प्रदान की गई प्रशासनिक सेवांए न केवल अपर्याप्त तथा अकुशल थी अपितु अनेक मामलों में नकारात्मक थी।

अशोक मेहत्ता कमेटी
(Ashok Mehta Committee) :

1977 में आपातकालीन के बाद जनता पार्टी की सरकार बनी। अपने चुनाव घोषणा पत्र में इस सरकार ने गांधीवादी व्यवस्था तथा विकेन्द्रीकरण के प्रति अपनी वचनबद्धता की घोषणा की थी। वैसे भी इस समय तक तत्कालीन पचांयती राज कार्यप्रणाली की बहुत अधिक आलोचना हो रही थी। अतः जनता पार्टी सरकार ने 1977 में ही अशोक महत्ता की अध्यक्षता में 13 सदस्यों की एक समिति गठित की और इसे पंचायती राज व्यवस्था में सुधार के लिए सुझाव देने को कहा।

अशोक महत्ता कमेटी ने अपनी रिर्पोट में कहा कि पंचायतों को कार्य करने के उचित अवसर नहीं दिए गए, अफसरशाही ने उनके कार्यो में रूकावट डाली है, राज्य सरकारों ने धन तथा अधिकार प्रदान में संकोच किया है तथ धनी एवं विशिष्ट वर्गो ने इस संस्थाओं को अपने अधीन रखा है। विकास तथा नियोजन में पंचायतों की भागीदारी न होने के कारण भारत में नियोजित विकास जन आकांक्षाओं के अनुकूल नहीं रहा। इसलिए मेहत्ता कमेटी ने पंचायती राज संस्थाओं को पर्नुजीवित करने और उन्हें कार्यशील बनाने की सिफारिश की।

अशोक मेहत्ता कमेटी का यह विचार था कि सारे देश के लिए कोई एक निश्चित व्यवस्था होना अनिवार्य नहीं है। परिस्थितियों के अनुसार अलग-अलग राज्यों में इनके भिन्न स्वरूप हो सकते हैं। फिर भी कमेटी का मत था कि जिला विकेन्द्रीकरण का पहला स्तर होना चाहिए। ब्लाक नियोजन का स्तर न होकर केवल जिला परिषद् का कार्यकारिणी अंग होना चाहिए। कमेटी का सुझाव था कि कुछ गांवों को इक्कठा करके मण्डल पंचायतों की स्थापना की जाए। विकासीय कार्यो का मुख्य केन्द्र यह मण्डल पंचायते हो। कमेटी ने एक प्रकार से दो स्तरीय व्यवस्था का समर्थन किया।

अशोक मेहत्ता कमेटी ने जिला परिषद् तथा ग्राम पचांयत दोनों ही के लिए चुनाव का सुझाव दिया यद्यपि जिला स्तर पर कुछ अदेन सदस्यों की व्यवस्था भी थी। अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिए जनसंख्या में उनके अनुपात के अनुसार स्थान सुरक्षित रखने का सुझाव दिया गया सीधे चुनावों के साथ-साथ चुनावों में राजनीतिक दलों के भाग लने को भी समिति ने उचित माना। आशानुसार समिति ने पंचायतों को निश्चित तथा अधिक शक्तियां तथा संसाधन प्रदान करने की सिफारिश की। 1980 में जनता पार्टी की सरकार समाप्त होने तथा श्रीमति इन्दिरा गांधी के नेत त्व में पुनः कांग्रेस सरकार के गठन से समिति के सुझाव चर्चा का विषय बन कर रह गए।

पचांयती राजः संविधान संशोधन :

1980 में कांग्रेस (इ) के सत्ता के आने व श्रीमति इन्दिरा गांधी द्वारा केन्द्रीकरण की राजनीति के बावजूद देश में निर्धनता समाप्त करने के लिए चलाए जाने वाले कार्यक्रमो, विकास की आवश्यकताओं तथा जनसंतोष के लिए प्रशासन तथा विकास में पचांयती राज संस्थाओं की भागीदारी का महत्व स्पष्ट हो रहा था। 1983 मे जिला स्तर पर नियोजन के लिए अध्ययन के लिए स्थापित श्री सी० एच० हन्नुमंततीया की अध्यक्षता में गठित समिति तथा 1985 में ग्रामीण विकास तथा गरीबी के विरूद्ध प्रशासनिक व्यवस्था के पुर्ननिरक्षण के लिए श्री जी० वी० के राओं की (G.V.K. Rao) अध्यक्षता में बनाई गई समिति दोनों ने पंचायती राज की आवश्यकता पर जोर दिया। 1987 में पचांयती राज पर सुझाव देने के लिए श्री एल०एम० सिघंवी को अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया गया। इस समिति ने सुझाव दिया कि निचले स्तर पर नियोजन के लिए पंचायती राज संस्थाओ का सहयोग आवश्यक है। समिति ने कहा कि पंचायत संस्थाओं को सुनिश्चित रूप देने के लिए संविधान में आवश्यक संशोधन किए जाए। केन्द्र-राज्यसम्बन्धों पर अपनी रिर्पोट में सरकारिया आयोग ने भी स्थानीय स्वशासन संस्थाओं को सुद ढ़ करने तथा उसके लिए संविधान में आवश्यक संशोधन की सिफारिश की। संसद सदस्य श्री पी० के थुगन की अध्यक्षता मे जिला स्तर पर राजनीतिक, प्रशासनिक तथा नियोजन विधि के अध्ययन के लिए गठित संसदीय समिति ने 1988

में अपनी रिर्पोट में कहा कि जिला स्तर पर नियोजन तथा विकास के लिए केवल जिला परिषद् ही उचित माध्यम है। इस समिति ने सुझाव दिया कि पंचाययती संस्थाओं के चुनाव तथा कार्यकाल को निश्चित करने के लिए संविधानिक व्यवस्था की जाए।

इन सब समितियों की सिफारिशों और बुद्धिजीवियों तथा विशेषज्ञों द्वारा सत्ता के विकेन्द्रीकरण पर जोर देने के साथ-साथ श्री राजीव गांधी भी उत्तरदायी प्रशासन की स्थापना के प्रति चर्चा कर रहे थे। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उन्होंने अनेक राज्यों में जिला अधिकारियो के सम्मेलन बुलाए। इन सम्मेलनों मे यह बात उभर कर आई कि उत्तरदायी प्रशासन तथा नियोजन के लिए आवश्यक था कि पंचायती राज संस्थाओं के चुनावों को संविधानिक आधार पर सुनिश्चित किया जाए। 30 जुलाई 1988 को दिल्ली में बुलाए गए मुख्य सचिवों के सम्मेलन में प्रधानमंत्री राजीव गांधी ने घोषणा की कि पंचायती राज व्यवस्था को सुद ढ़ करने के लिए संविधान में सशोंधन किया जाएगा।

उपरोक्त घोषणा के बाद सरकार ने 1989 में ससंद में संविधान संशोधन के लिए 64 वां संशोधन बिल प्रस्तुत किया। इस प्रस्तावित संशोधन बिल के मुख्य तत्व इस प्रकार थे :

1. सभी राज्यों में तीन स्तरीय पचांयती राज संस्थाए होगी।
2. इन संस्थाओं के लिए चुनाव आयोग के निरिक्षण में प्रत्येक पांच वर्ष के बाद चुनाव होगें।
3. पचांयती राज की सभी संस्थाओं में सभी स्थानों को चुनाव द्वारा भरा जायेगा, पदाधिकारी सीधे चुने हुए सदस्यों मे से होंगे।
4. इन संस्थाओं में 30 प्रतिशत स्थान महिलाओं के लिए आरक्षित होंगे तथा अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिए जनसंख्या में प्रतिशत के आधार पर स्थान आरक्षित रहेंगें।
5. पंचायती राज संस्थाओं को राज्य सरकार से धन मिलेगा। इसके अतिरिक्त यह संस्थाए निर्धारित मुद्दों पर कर, डयूटी तथा ठोल आदि लगाकर भी धन इक्कठा कर सकेगी।
6. पंचायती राज संस्थाए अपने क्षेत्र के लोगों के लिए आर्थिक विकास, सामाजिक न्याय तथा सामाजिक कल्याण के लिए योजनांए बनाएगी।
7. पंचायती राज संस्थाओं के लेखों की कड़ी जांच की जाएगी। भारत का महालेखों परीक्षक पंचायतों के हिसाब-किताब का निरिक्षण करेगें।

यद्यपि संविधान संशोधन प्रस्तुत करने के पीछे यह विचार व्यक्त किया गया था कि इसका लक्ष्य पंचायती राज संस्थाओं को सुद्ढ़ करना और शक्तियों का विकेन्द्रीकरण था परन्तु जिस प्रकार और परिस्थितियों मे यह बिल लाया गया और इसमें शामिल कुछ प्रयोजनों के कारण सामान्यतः राज्यों को यह संदेह हुआ कि संविधान के इस संशोधन का वास्तविक लक्ष्य केन्द्र सरकार द्वारा गांवों के लोगों से सीधा सम्पर्क स्थापित करना था। दूसरे शब्दों में केन्द्र राज्य सरकारों की शक्ति तथा भूमिका को कम करना चाहता था और अखिल भारतीय सेवाओं के जिला अधिकारियों की शक्ति बढ़ाना चाहता था। इस सन्देह के कारण अधिकतर विरोधी दल 64वें संशोधन के प्रस्तुत रूप से सन्तुष्ट नहीं थे। कांग्रेस के व्यापक बहुमत के कारण यह बिल लोकसभा में तो पारित हो गया। परन्तु आवश्यक बहुमत के अभाव में यह राज्य सभा में पारित नहीं हो सका।

संविधान का 73 वां संशोधन
(73rd Amendment of the constitution) :

राज्यों के संदेह तथा विरोधी दलों के विरोध के कारण 64वां संशोधन बिल पारित नहीं हो सका। परन्तु इस समय तक पंचायती राज के पुर्नजीवन की आवश्यकता तथा इसकों महत्वपूर्ण बनाने की आकांक्षाए आम चर्चा का विषय बन चुकी थी। 1989 के चुनावों में लगभग सभी राजनीतिक दलों ने अपने घोषणा पत्रों में इसके लिए उचित कदम उठाने की बात कही। अतः राष्ट्रीय मोर्चे के सत्ता में आने से एक उचित विधि बनने की आशा बनी। राष्ट्रीय मोर्चा सरकार ने संशोधन बिल में कुछ परिवर्तन किए। इनके अनुसार पचांयती राज संस्थाओं का कार्य काल पांच वर्ष के लिए सुनिश्चित किया गया। इनकी स्वार्यत्तता की व्यवस्था की गई। चुनाव करवाने का अधिकार तथा कार्य केन्द्रीय चुनाव आयोग के स्थन पर राज्य चुनाव आयोग को सोपां

गया। इसी प्रकार लेखा परीक्षा की शक्ति राज्य लेखा परीक्षक को सौंपी गई। महिलाओं तथा अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिए साधारण सदस्यों के अतिरिक्त अध्यक्ष पद के लिए भी आरक्षण की व्यवस्था की गई। नये संशोधन बिल को राज्य सरकरों तथा विरोधी राजनीतिक दलों के साथ विचार विमर्श के बाद-2 सितम्बर 1990 को लोकसभा में 74 वें संविधान संशोधल बिल के रूप में प्रस्तुत किया गया। इस बिल पर चर्चा शुरू होने से पहले ही राष्ट्रीय मोर्चा सरकार का पतन होगा तथा बाद में लोकसभा भंग हो गई। परिणास्वरूप बिल समाप्त हो गया।

1991 में चुनाव के बाद श्री पी० वी० नरसिम्हा राव के नेत त्व में पुनः कांग्रेस की सरकार बनी। अपने स्पष्ट बहुमत की कमी तथा देश में बन चुके वातावरण के कारण इस सरकार को भी सर्वमान्य कानून बनाने की आवश्यकता महसूस हुई। अतः अनेक दलों से विचार विमर्श करके नया संशोधन बिल 16 सितम्बर 1991 को लोक सभा में पेश किया गया। सदन ने गहन विचार के लिए इस बिल को संसद के 30 सदस्यों की संयुक्त समिति को सौंप दिया। संसद के दोनों सदनों तथा विभिन्न दलों के सदस्यों से गठित इस समिति के विचार तथा सुझावों के बाद 22 सितम्बर 1992 को संविधान संशोधन (73वां) बिल लगभग पूर्ण सहमति से पारित हो गया। शीघ्र ही इस पर राष्ट्रपति के हस्ताक्षर हो गए तथा 20 अप्रैल 1993 को अधिसूचना जारी होने पर देश में सांविधानिक रूप से स्थापित नई पंचायती राज व्यवस्था लागू हो गई। संविधान के 73 वें संशोधन से स्थापित पंचायत राज व्यवस्था के मूल तत्व निम्नलिखित हैं :

1. पचांयती राज की स्थापना के लिए संविधान में नए अनुच्छेद 243 ए से 243 डी तथ एक नई अनुसूचि 11 जोड़ी गई हैं। इन अनुच्छेदों तथा अनुसूचि द्वारा पंचायती राज संस्थाओं का गठन, प्रक्रिया तथा शक्तियों का वर्णन किया है।
2. सभी राज्यों में पचांयती राज का स्वरूप एक समान होगा। यह तीन स्तरीय व्यवस्था पर आधारित होगा।
3. तीनों स्तरों के सदस्यों के चुनाव सीधे प्रत्यक्ष व्यस्क मताधिकार के आधार पर होंगे जिला तथा ब्लाक स्तर पर अध्यक्ष का चुनाव अप्रत्यक्ष रूप से होगा। चुनाव अनिवार्य तथा निश्चित पांच वर्ष के कार्यकाल के लिए होंगे। यदि निर्धारित व्यवस्था के अनुसार किसी स्तर को पाचं वर्ष से पहले भंग किया जाता है तो 6 महीने के अन्दर-अन्दर दुबारा चुनाव कराऐं जाऐगें।
4. अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिए जनसंख्या में प्रतिशत के अनुपात में स्थान सुरक्षित होंगे। कम से कम एक तिहाई स्थान महिलाओं के लिए आरक्षित होंगे। आरक्षित स्थानों के लिए चुनाव क्षेत्रों को समय-समय पर बदला जा सकता है। अध्यक्ष पद तथा अन्य पदों के लिए भी इन वर्गो के लिए आरक्षण की व्यवस्था होगी।
5. संविधान की ग्यहारवी सूचि में वर्णित शक्तियों तथा अधिकारों के अतिरिक्त आर्थिक नियोजन तथा विकास और सामाजिक न्याय इत्यादि सम्बन्धित योजनांए बनाने और उन्हें लागू करने के अन्य अधिकार भी राज्य की विधायिका कानून बनाकर पचांयती राज संस्थाओं को दे सकती है।
6. राज्य विधायिका को शक्ति दी गई है कि वह कानून द्वारा पंचायती राज्य संस्थाओं को कर, टोल आदि लगाने, उन्हें एकत्रित करने तथा इस्तेमाल करने का अधिकार दे। राज्य सरकारें इन संस्थाओं को अनुदान भी दे सकती है। यह व्यवस्था भी की गई है कि प्रत्येक राज्य हर पांच वर्ष या उससे पहले एक वित्त आयोग का गठन करेगा। यह आयोग राज्य सरकार तथा स्थानीय स्वशासन संस्थाओं में संसाधनों के वितरण के बारे में सुझाव देगा।
7. पंचायती राज संस्थाओं के चुनाव राज्य चुनाव आयोग के द्वारा करवाये जाऐंगे। इसी प्रकार पंचायती राज्य संस्थाओं के हिसब किताब की जांच राज्य लेखा परिक्षक के द्वारा की जाएगी।

कुल मिलाकर अब पंचायती राज संविधानिक रूप से स्थापित तथा अनिवार्य व्यवस्था बन गया है। कुछ आलोचकों ने स्थापित की गई व्यवस्था की कुछ कमजोरियों की ओर भी ध्यान आक ष्ट किया है। यह निम्नलिखित हैं ५

1. नई व्यवस्था के अनुसार सभी राज्यों में एक ही प्रकार की व्यवस्था की स्थापना की गई है। कई राज्यों में यह ऐतिहासिक प ष्ठभूमि, परस्पराओं तथा वहां के सांस्क तिक मूल्यों के प्रतिकूल हो सकती है।
2. विभिन्न स्तरों पर संसद सदस्यों तथा विधायकों को सस्थांए का पेदन सदस्य बनाया गया है यद्यपि इन सदस्यों को मत का अधिकार नहीं होगा फिर भी इनकी उपस्थिति तनाव या मतभेद उत्पन्न कर सकती है।

3. राज्यों को पंचायती राज संस्थाओं को निलम्बित तथा भंग करने के अधिकार दिए गए है। यद्यपि भंग करने के पश्चात चुनाव अनिवार्य है परन्तु संविधान उन कारणों तथा परिस्थितियों का स्पष्ट वर्णन नहीं करता जिनसें ऐसा किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में राज्य सरकारें इस शक्ति का प्रयोग राजनीतिक द ष्टिकोण से कर सकती है।

4. संविधान केवल मूल आधार प्रदान करता है प्रत्येक राज्य में निश्चित व्यवस्था के लिए राज्य विधायिकाओं को कानून बनाने है। अनेक राज्यों द्वारा बनाए कानून इस और इशारा करते है कि जनता द्वारा चुने गए सदस्यों को कम तथा सरकारी अफसरों को अधिक अधिकार दिए गए है। अर्थात नई व्यवस्था में पंचायती राज संस्थांए राज्य सरकारों तथा प्रशासनिक अधिकारियों के अधीन ही हैं।

इन कमजोरियो के बावजूद भी यह महत्वपूर्ण है कि पंचायती राज अब संविधानिक रूप से स्थापित है तथा इसकी शक्तियाँ तथा कार्यकाल सुनिश्चित हैं। इसने जन साधारण में आशाएं तथा आकांक्षायें भी जगाई है। इनके आधार पर लोग अपने अधिकारों के लिए संगठित हो सकते हैं तथा सरकारों को उत्तरदायित्व के लिए बाध्य कर सकते हैं।

सफलता के लिए शर्ते
(conditions for success) :

पंचायती राज संस्थाओ तथा इनके साथ ही शहरी क्षेत्रों में नगरपलिकाओं को संविधान में स्थान प्राप्त होने से स्थानीय स्तर पर स्वशासन तथा लोकतांन्त्रिक प्रक्रिया के लिए महत्त्वपूर्ण आधार स्थापित हुआ है। लेकिन किसी भी व्यवस्था की सफलता मात्र संस्थाओं अथवा कानूनों पर ही निर्भर नहीं करती इसके लिए आवश्यक वातावरण, राजनैतिक इच्छा तथा जनता की जागरूकता पर निर्भर करता है। इस संदर्भ में पंचायती राज व्यवस्था की सफलता के लिए आवश्यक शर्ते निम्न मानी जा सकती है :

1. पचांयती राज को मात्र स्थानीय शासन तथा नागरिक सुविधा को प्रदान करने वाली संस्थाओं के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। यह आर्थिक सामाजिक विकास तथा परिवर्तन के लिए नियोजन, कार्यवाही तथा वातावरण बनाने के उचित साधन के रूप में मानी जानी चाहियें।

2. पचांयती राज संस्थाओं में समाज के विभिन्न वर्गो की भागीदारी तथा सहयोग सुनिश्चित तथा व्यवहारिक बनाना आवश्यक है। आरक्षण केवल दिखावा तथा छल बन कर न रह जाए इसके लिए आवश्यक कदम उठाने आवश्यक है।

3. आम व्यक्ति की समझ, क्षमता तथा भागीदारी की इच्छा पर विश्वास किया जाना चाहिए। केन्द्र तथा राज्य स्तर के राजनीतिज्ञों तथा अधिकारियों को अपनी स्थिति, शिक्षा अथवा प्रशिक्षण के आधार में ग्रामीण जनों की क्षमता तथा अनुभव की अवहेलना नहीं करनी चाहिए।

4. पंचायती राज संस्थाओं के चुने हुए सदस्यों तथा उनके साथ कम करने वाले अधिकारियों को समय समय पर उचित प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए। इसमें उन्हें इन सदस्यों के महत्व, भूमिका, कार्यप्रणाली, अधिकारों तथा संसाधन एकत्रित करने के तरीकों के बारे में जानकारी दी जानी चाहिए।

5. ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा का विस्तार किया जाना चाहिए।

6. पचांयती राज व्यवस्था चलाने के लिए तथा देश के विकास के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए विकासीय लोक प्रशासन अत्यन्त अनिवार्य हैं देश में इसकी स्थापना तथा निर्माण को और अधिक नहीं टाला जाना चाहिए।

उपरलिखित शर्तो को पूरा करने के लिए केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारों गैर-सरकारी संगठनों, प्रशासन, समाचार पत्रों, रेडियों, दूरदर्शन तथ बुद्धिजीवियों सभी के सहयोग की आवश्यकता है। पंचायती राज की सफलता के लिए ग्रामीण स्तर पर स्थानीय स्वशासन की सक्रियता के लिए ही महत्वपूर्ण नहीं है अपितु यह देश में लोकतंत्र के विकास के लिए भी अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रशिक्षण स्थल तथा राजनीतिक समाजीकरण के लिए उचित साधन के रूप मे लगभग अनिवार्य है। इसलिए आवश्यक है कि पहले की तरह पचांयती राज को ग्रामीण स्तर पर सत्ता संघर्ष का अखाड़ा और विशिष्ट वर्गो के हाथ का खिलौना न बनने दे तथा देश में उचित लोकतांत्रिक वातावरण के विकास के लिए इसका सम्भावित उपयोग करें।